ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

029573

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या R 28
पुस्तक संख्या दि 36 आ
आगत पंजिका संख्या ४. ८

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें। 465482

GULZAR BOOK BINDING HOUSE
PHARI BAZAR ROORKEE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प

COMPILED

COMPILED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

स्टाक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन डॉ० रघुवंश
समिति डॉ० व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

COMPILED

079573

आलोचना

079573
CHECKED 1973
Initial

R
अंक-7

... में गतिरोध	सम्पादकीय
...य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या	शम्भूनाथसिंह
...नी' की कथा	पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
	डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी
...के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड	डॉक्टर रामरतन भटनागर
उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना	डॉक्टर एजाज़ हुसेन
प्राकृत अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	डॉक्टर रामसिंह तोमर
भविष्यत्-साहित्य	पॉल वेलरी
समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि	आई० ए० एक्स्ट्रॅस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना
वर्ष २ अंक ४ | पूर्णांक ८ | जुलाई १९५३
वार्षिक मूल्य १२) | एक अंक ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—साहित्य में गतिरोध ... १

▲निबन्ध

महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या :
शम्भूनाथसिंह --- १०

—'कामायनी' की कथा :
पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी ... २१

—रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड :
डॉक्टर रामरतन भटनागर -- ३७

—उर्दू कविता में राष्ट्रीय भावना :
डॉक्टर एजाज़ हुसेन --- ४२

▲प्रबन्ध-सार

—प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव :
डॉक्टर रामसिंह तोमर --- ५२

अनुशीलन

हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र :
डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा --- ६७

—जायसी की भूल :
चन्द्रबली पांडे --- ६८

—'रामचरितमानस' का रचना-क्रम :
डॉक्टर कामिल बुल्के --- ७१

▲प्रस्तुत प्रश्न

—भविष्यत्-साहित्य :
पॉल वेलरी --- ७५

—भविष्यत्-काव्य :
अरविन्द --- ७९

मूल्यांकन

—संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो :
डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त --- ८८

—महाकवि सूरदास :
डॉक्टर भगीरथ मिश्र --- ९२

—महायान :
प्रभाकर माचवे --- ९५

—कला : एक नवीन दृष्टिकोण :
राय आनन्द कृष्ण --- ९७

—प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन :
बैजनाथसिंह 'विनोद' -- १०१

—व्यक्ति और वाङ्मय :
डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय १०२

—विभावरी :
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' -- १०४

—मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह :
अक्षयचन्द्र शर्मा --- १०५

—प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर :
डॉक्टर रघुवंश --- १०७

—नये मोड़ :
डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान -- १११

—प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार :
लक्ष्मीकान्त वर्मा --- ११३

▲प्रादेशिक साहित्य

—तैलुगु प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ :
हेमलता जनस्वामी --- १२१

▲अवलोकन

—समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि :
आई० ए० एक्ट्रॅस --- १२५

▲परिचय

--- १२९

▲प्राप्ति स्वीकार

--- १३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

यते ... पुस्तकालय गुरुकुल
R
८४
दि ३।७।आ
अंक ...

सम्पादकीय

साहित्य में गतिरोध

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य की समकालीन प्रगति में गतिरोध की बात प्रायः विभिन्न प्रसंगों में, विभिन्न निकायों के आलोचकों द्वारा कही जाती रही है। साहित्य में गतिरोध के कई अर्थ हो सकते हैं। यह सम्भव है कि साहित्य-सृजन का एक दौर ऐसा हो जब प्रचुर मात्रा में साहित्य का प्रकाशन हो रहा हो, जनता उसे पढ़ रही हो, किन्तु उस प्रसार और प्रचार के बीच भी साहित्य का स्तर सतही तथा उसकी दृष्टि एकांगी हो गई हो, उसमें मानवीय स्थितियों के गहन आध्यात्मिक संकट और मर्म-स्पर्शी पीड़ाओं को छूने की शक्ति न रह गई हो (जैसे टाल्सटाय, डास्टावस्की, चेखव और गोर्की के बाद का रूसी कथा-साहित्य), या साहित्य के सृजन पर व्यावसायिकता का भयानक प्रभाव पड़ रहा हो और फलस्वरूप उच्च स्तर की कृतियों के सृजन की अपेक्षा सस्ती और विकृत जन-रुचि को सन्तुष्ट करने वाली साहित्य आकर्षक ढंग से इस तरह सजा दिया गया हो कि उच्च स्तर के साहित्य की मूल सरस्वती-धारा विलुप्त हो रही हो, (जैसे जेम्स टी० फैरेल, स्टीनबेक, फाकनर, फिट्जजेराल्ड की पीढ़ी के बाद का अधिकांश अमरीकन साहित्य), या शिल्प की सूक्ष्मताओं और पच्चीकारियों से समन्वित किन्तु एक सुस्पष्ट भाव-पथ से विचलित, विक्षुब्ध, चौंकाने वाला, शिल्प और चिन्तन के अस्थायी फैशनों को अधिक महत्त्व देने वाला प्रभावयुक्त किन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट साहित्य (जैसे इस शती का बहुत-सा अतियथार्थवादी, अस्तित्व-वादी तथा अन्यथा विशृङ्खल फ्रांसीसी साहित्य), ये सभी साहित्य के गतिरोध या गति-विभ्रम के स्पष्ट उदाहरण हैं।

क्या हिन्दी में इस प्रकार के किसी गतिरोध या गति-विभ्रम के कीटाणु दीख रहे हैं? यदि हाँ, तो क्या वे कीटाणु इतने प्रबल हैं कि हमारी जीवनदायिनी परम्परा के सशक्त तत्त्वों को पराजित कर सकने में समर्थ हो गए हैं? या यह गतिरोध का नारा केवल पाश्चात्य साहित्य के विषय में कही जाने वाली उक्तियों का भारतीय अनुकरण-मात्र है; जो भारतीय साहित्य—विशेषतया हिन्दी-साहित्य—की परिस्थिति और गति-विधि पर विचार किये बिना उस पर लागू कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाता है। इस प्रसंग में हमें हिन्दी के आधुनिक साहित्य की अब तक की प्रगति पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी का आधुनिक युग लगभग सौ वर्षों का है। इस छोटी-सी अवधि में हिन्दी ने जितनी मंजिलें तय की हैं और अपने क्षेत्र को जिस तेजी के साथ विकसित किया है, वह अपने में ही एक आश्चर्यजनक वस्तु है। हिन्दी के साहित्यकारों के सामने न केवल नई भावनाओं, विचारों और शैलियों के ही व्यक्त करने की समस्या थी, बल्कि उसके साथ ब्रजभाषा के स्थान पर एक नई साहित्यिक भाषा की प्रतिष्ठा का भी महत्त्वपूर्ण कार्य था, जो प्रवाह, सामर्थ्य और गहराई में सांस्कृतिक और सामाजिक पुनर्जागरण की व्यापक और वेगवती चेतना का वहन कर सके। यह सत्य है कि प्रेरणा और गौरव के लिए हमारे पीछे अवधी तथा ब्रजभाषा के महान् आचार्य और मनीषी थे, परन्तु आज की प्रगति का आकलन करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि (जहाँ तक साहित्य के वर्तमान स्वरूपों का सम्बन्ध है) सौ वर्ष पूर्व हमने लगभग शून्य से ही प्रारम्भ किया था।

इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रगति का बिलकुल दूसरा ही रूप दिखलाई पड़ता है। आज के साहित्यिक वातावरण और साहित्य-सृजन में कहीं-कहीं जो घुमाव और पेंच आ गए हैं, उनसे हताश होने अथवा घबराने का कोई कारण नहीं दीखता। चौरस भूमि पर फैलने वाले पानी की तरह साहित्य की वे उपधाराएँ भी, जो सीधी रेखा में नहीं बह रही हैं, सम्पूर्ण गति का अंग ही मालूम पड़ती हैं। ऐतिहासिक स्थिति की इस विशिष्ट भिन्नता के कारण 'गतिरोध', 'अन्धकार' अथवा 'अराजकता' की धारणाएँ उस अर्थ में हिन्दी में लागू नहीं की जा सकतीं, जिस प्रकार इनका प्रयोग समकालीन यूरोपीय साहित्य में होता है। यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो विशाल लहर उठी थी वह आज उतार पर है। वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में आज उस लहर की छितरी हुई अन्तिम बूँदें ही झलकती हैं। इसके विपरीत आज भारत ही नहीं, प्रत्युत सारे एशिया के सामने नई चेतना और नई आकांक्षाओं का प्रशस्त पथ है। हमारा झुटपुटा प्रभात का है, संध्या का नहीं।

आधुनिक हिन्दी-भाषा और साहित्य में निस्सन्देह वह नूतन प्रभात की स्फूर्ति और ताज़गी निरन्तर प्रतिफलित होती रही है। भारतेन्दु युग, छायावाद का प्रारम्भिक काल और युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य में नई कविता के नये उत्थान में हम हिन्दी की अदम्य प्रगति के तीन महत्त्वपूर्ण चरणों का आभास पाते हैं। समकालीन वातावरण का विश्लेषण करते हुए हम एक सर्वथा नवीन तत्त्व के उदय से परिचित होते हैं। वह है हिन्दी के विभिन्न केन्द्रों में शक्तिशाली साहित्यिक गोष्ठियों का उदय। साहित्य के विकास में साहित्यिक वातावरण का एक विशेष महत्त्व होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्स और अन्य पाश्चात्य देशों की साहित्यिक प्रगति में इन गोष्ठियों का एक महत्त्वपूर्ण योग रहा है। किन्तु हिन्दी में इनकी एक और भी विशेषता है। फ्रेञ्च, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाएँ राजधानी में केन्द्रित भाषाएँ हैं। इसीलिए पेरिस, बर्लिन और लन्दन का वातावरण इन साहित्यों की गति-विधि को अनुशासित करता रहता है। इसके लाभ भी हैं और हानि भी। केन्द्रित भाषा में विशेषीकरण और परिमार्जन की गति तीव्र होती है। इससे भाषा में निखार अवश्य आ जाता है परन्तु साथ ही समरसता और सीमित क्षेत्र के कारण पतनोन्मुख पच्चीकारी का भी खतरा रहता है। उर्दू इसका एक दुःखद उदाहरण है। किन्तु आज हिन्दी का साहित्य-सृजन किसी एक नगर में केन्द्रित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, जबलपुर, हैदराबाद, बम्बई हिन्दी की कितनी ही राजधानियाँ हैं। इनमें से अधिकांश स्थानों में सांस्कृतिक और साहित्यिक गोष्ठियों का विकास हुआ है। इनका विशेष महत्त्व इसलिए है कि विभिन्न राजनीतिक उलझावों और दलगत संकीर्णताओं से उबरकर इन्होंने साहित्य के सृजन-पक्ष, उदार चिन्तन और सहानुभूति का आश्रय ग्रहण किया है। नूतन सृजन में प्रवृत्त पुराने साहित्यकार, या पिछले दिनों प्रकाश में आने वाले नूतन साहित्यिक हस्ताक्षरों में से बहुत से शनिवार समाज, नकेन गोष्ठी, लखनऊ लेखक-संघ, परिमल और उसकी शाखाएँ, चेतना, साहित्य-सहकार, सुहृद-संघ, साहित्यिक संघ आदि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहे हैं। इन गोष्ठियों का उदय पिछले दशक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। इन्होंने न केवल नई और पुरानी पीढ़ियों के लेखकों को निकट लाने का कार्य सम्पन्न किया, वरन् नये लेखकों को उनके विकास के लिए घातक संकीर्णता से भरे हुए वातावरण से मुक्ति देकर एक ऐसी भावभूमि पर ला खड़ा किया जहाँ वे अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए भी सामाजिकता को आत्मसात् कर सकें। यही नहीं वरन् उन्होंने उनके साहित्य को इस प्रकार आत्मकेन्द्रित और निर्वासित नहीं बनने दिया कि धीरे-धीरे वे अपनी भाषा की प्रेषणीयता भी खो बैठते; जैसा पाश्चात्य लेखकों की महायुद्धों के बीच वाली पीढ़ी के साथ हुआ।

भाषा और साहित्यिक वातावरण के विस्तार के दबाव ने किस प्रकार हमारी गति को प्रभावित किया है यह बात वर्तमान नई कविता के एक पक्ष पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगी। कई क्षेत्रों से गतिरोध का सबसे बड़ा आरोप नई कविता—विशेषतः प्रयोगशील कविता पर लगाया जाता है। प्रयोगशील कविता कई अर्थों में टेकनीक और अभिव्यंजना का आन्दोलन है। अंग्रेजी साहित्य में इसकी सीमा-रेखा एक ओर आस्कर वाइल्ड को छूती है, दूसरी ओर टी० एस० इलियट और डिलान टामस को। इस प्रकार नई कविता की तुलना अंग्रेजी के पतनशील (decadent) और कुण्ठित व्यक्तित्व के साहित्य से की जाती है। परन्तु अंग्रेजी पतनशील साहित्य और बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता ने जहाँ भावभूमि को संकुचित किया वहीं भाषा को भी कुछ अंशों में कृत्रिम और संकुचित बना दिया। इसके साथ ही भावना और शब्दों में एक ऐसा असामंजस्य खड़ा हो गया कि भाषा के तार-तार बिखरते हुए जान पड़ने लगे। आज भी फ्रेञ्च और अंग्रेजी साहित्यकारों के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि तमाम पच्चीकारी और नारेबाजी के बाद शब्द अर्थहीन हो गए हैं। कारण यह है कि टेकनीक का यूरोपीय आन्दोलन अधिक-से-अधिक केन्द्रगामी होता गया है। इसकी परिणति रहस्यात्मकता, विशेषीकरण, और व्यक्तिगत शब्दावली (Personal Vocabulary) में हुई। इतने पर भी सन्तोष न हुआ तो टी० एस० इलियट ने अपनी कविता के एक-एक पृष्ठ में पचास पुस्तकों के सन्दर्भ पिरोये, एज़रा पाउण्ड ने अपने सर्गों में दुनिया-भर की भाषाओं की प्रदर्शिनी सजाई और कमिंग्ज ने तो शब्दों का पोस्टमार्टम ही कर डाला। जन-साधारण की वाणी इस अंधेरे कमरे में पहुँचकर स्वगत-भाषण और उसके बाद नींद की बड़बड़ाहट बन गई। इसी प्रकार पतनोन्मुख ब्रजभाषा की कविता और उर्दू में दाग़ की गजलों की सीमित भाषा भी गतिरोध की एक आवश्यक परिणति की ओर संकेत करती है। इसके विपरीत हिन्दी की युद्धोत्तरकालीन नई कविता की भाषा में लोक-जीवन में प्रचलित, जीवन्त तथा समृद्ध शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग एक मुख्य विशेषता है। प्रयोगशील कवियों ने जीवित शब्दावली में वृद्धि नहीं की है, ऐसा सम्भवतः अत्यन्त एकांगी और पक्षपातपूर्ण समीक्षक भी नहीं कहेंगे। शब्द और अर्थ के विषम असामंजस्य की समस्या हमारे यहाँ है ही नहीं, क्योंकि हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय परम्परा से कुछ भिन्न है। प्रयोग और नये पदों की खोज की जिस लालसा ने अंग्रेजी और फ्रेञ्च कवियों के दायरे को सीमित कर दिया उसीने हिन्दी के कवियों को बोलियों की ओर मोड़ा और भाषा का परिष्कार किया।

भाषा का यह विकास केवल कविता के क्षेत्र में ही हुआ हो ऐसी बात नहीं है। हिन्दी-गद्य के परिष्कार में भी कई नूतन प्रवृत्तियों का आभास मिला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी कृति से किसी का कुछ मतभेद क्यों न हो किन्तु 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय की भाषा की परिपक्व लय, जैनेन्द्र के 'व्यतीत' में भाषा की सशक्त सादगी, रुद्र की 'बहती गंगा' में लोक-भाषा की शब्दावली और जीवित मुहावरे, लक्ष्मीनारायणलाल के 'बया का घोंसला और साँप' की भाषा का खेतों की मिट्टी-जैसा सोंधापन, अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के एक मुहल्ले की सजीव बोल-चाल, इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यासों में भाषा के पिछले उलझाव के स्थान पर सहज प्रवाह—ये सब हिन्दी-गद्य के नये मोड़ के परिचायक हैं। नयी खेवे के व्यंगकारों की कृतियाँ इस बात की परिचायक हैं कि हिन्दी अब सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं के लिए समर्थ होती जा रही है। व्यंग भाषा की अत्यन्त परिमार्जित अवस्था में ही सम्भव है और उसका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है।

सम्भव है कि कुछ लोग, जिनका दृष्टिकोण साहित्यिक न होकर अन्यथा हो, भाषा सम्बन्धी इस प्रगति के महत्त्व को न स्वीकार करें, किन्तु भाषा को सँवारने का उत्तरदायित्व गौण नहीं है। जिस प्रकार मूर्तिकार केवल अपनी कल्पना को ही नहीं सँजोता वरन् उस मिट्टी के रासायनिक तत्त्वों का भी परीक्षण कर लेता है, जिससे उसे मूर्ति गढ़नी है, उसी प्रकार भावभूमि के विकास के अतिरिक्त भाषा के विकास का प्रयास साहित्यिक प्रगति की दिशा में किया जाने वाला प्रयास है। हिन्दी के जिस भी लेखक का योग पिछले सौ वर्ष की इस नई साहित्यिक भाषा को सँजोने, सँवारने, निखारने और ढालने में रहेगा, हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका में वह प्रगतिशील ही कहलायगा। इस स्पष्ट तथ्य को 'फार्मलिज़्म' कहकर वे ही ठुकरा सकते हैं जिन्हें साहित्य की सूक्ष्म प्रकृति का परिचय नहीं है।

भाषा के बाद अब भावभूमि का प्रश्न आता है। आज गतिरोध-सम्बन्धी विवाद का केन्द्र भी यही है। इस सम्बन्ध में दी जाने वाली सारी दलीलों का तात्पर्य यह है कि उच्च साहित्यिक सृजन की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रतिपाद्य यूरोपीय समीक्षा में स्वयंसिद्ध नियमों की भाँति प्रचलित हैं, जिनका सहारा हमारे समीक्षक भी आँख मूँदकर लेते हैं। उदाहरणार्थ एक तर्क यह कि समाज में संकट एवं गतिरोध उत्पन्न हो गया है अतः इससे सिद्ध होता है कि साहित्य में भी (जो सामाजिक वातावरण से बँधा हुआ है) यह गतिरोध अनिवार्य है। सामाजिक गतिरोध एवं संकट के तथाकथित समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर हम यदि ध्यान न भी दें तो भी यह तर्क बड़ा ही विचित्र और विस्मयजनक है। इस प्रकार का यान्त्रिक तर्क कितना भ्रामक है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य के सम्बन्ध में एंगेल्स के निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

"पिछली शताब्दी के अन्त में जर्मनी की यही दशा थी। समूचा समाज सड़ाँध और जुगुप्साजनक क्षय से ग्रसित पिण्ड-मात्र था। किसी को चैन न था। देश का व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और कृषि शून्य हो गए थे। किसानों, व्यवसायियों और वस्तु-निर्माताओं पर व्यापारिक मन्दी और खून चूसने वाले शासन का दुहरा दबाव पड़ रहा था। सामन्तवर्ग का अनुभव था कि अपने नीचे के वर्गों को चूसने के बावजूद भी उनकी आय उनके बढ़ते हुए व्यय की बराबरी कर पाने में असमर्थ थी। न जनसाधारण के विचारों को उत्प्रेरित करने का कोई साधन, न मुक्त समाचार-पत्र, न सामाजिक भावना, और न दूसरे देशों के साथ बढ़ता हुआ व्यापार ही—कुछ भी नहीं था सिवाय नीचता और स्वार्थपरायणता के—एक निम्न, कुटिल और पतित दुकानदारी की भावना के, जो समस्त लोक-जीवन में व्याप्त हो गई थी। हर वस्तु जर्जर हो गई थी, टूटकर बिखर रही थी, तेजी के साथ खंडहर होती जा रही थी और किसी भी शुभ परिवर्तन की रंच-मात्र भी आशा नहीं थी, यहाँ तक कि राष्ट्र में इतनी भी शक्ति बाकी नहीं रह गई थी जो मृत प्रतिष्ठानों की सड़ती हुई लाश को ठोकर मारकर बाहर तो कर सके।

बेहतरी की एक-मात्र आशा देश के साहित्य में दिखलाई पड़ी। यह लज्जाजनक राजनीतिक और सामाजिक युग साथ-ही-साथ जर्मन-साहित्य का महान् युग भी था। सन् १७५० तक जर्मनी के लगभग सभी महान् आचार्यों का जन्म हो चुका था—गेटे और शिलर-जैसे कवि, कांट और फ़िश्टे-जैसे दार्शनिक और मुश्किल से बीस ही वर्ष बाद जर्मनी का अन्तिम महान् तत्त्ववेत्ता हीगेल।'

एंगेल्स के इस कथन से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक संकट साहित्य में गतिरोध के रूप में ही अपने को प्रतिफलित करे। यह तान्त्रिक अर्थवादी दृष्टिकोण है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं। कई स्थलों पर मार्क्स ने यह संकेत किया है कि मानवीय चेतना आर्थिक परिस्थितियों से निर्मित होती है किन्तु फिर वह उनको अनुशासित भी करती है, उनके विरुद्ध संघर्ष भी करती है और उनका पुनर्निर्माण भी करती है। इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए लेखक मार्क्सवादी ही हो, यह आवश्यक नहीं। साहित्यकार में एक सहज मानवीय संवेदना होती है, जो लोक-जीवन में व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीड़ा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है। समाज में चाहे जितना संकट हो किन्तु साहित्य में संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्मसात् करने में असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-संवेदना से आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जड़ें उखड़ जाती हैं और जब वह एक छोटे-से दायरे में सीमित हो जाता है। देखना यह है कि क्या हिन्दी में कुछ ऐसे लेखक हैं जो इस दायरे में आबद्ध हो गए हैं? यदि हाँ, तो यह गतिरोध उनका गतिरोध है, व्यापक हिन्दी-साहित्य का नहीं।

पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों का एक छोटा-सा वर्ग साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोड़कर दिनों-दिन एक सीमित दायरे में बँधता चला

---

१. प्रो० एंगेल्स—'द नार्दर्न स्टार', २२ अक्तूबर १८४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया।[1] इसका कारण यह था कि वह प्रगतिशील न होकर दलानुशासित था, व्यापक सामाजिक मूल्यों के बजाय किसी विशेष दल की सामयिक नीति को साहित्य-सृजन का आधार मान बैठा था। जो भी उसके सीमित दायरे में नहीं आ सका, उसका उसने विरोध किया और परिणामस्वरूप हिन्दी के व्यापक जनवादी साहित्यिक वर्ग से विच्छिन्न, अपने ही वृत्त में सीमित वह एक छोटा-सा गुट रह गया, जिसमें ले-देकर सात-आठ लेखक थे बस।[2]

हिन्दी की व्यापक प्रगतिशील निर्माण-परक धारा से इनके कटकर अलग हो जाने के मूल में एक राजनीतिक विरोधाभास है। जिस दल की राजनीति इनकी प्रेरणा रही है उसकी व्याख्या के अनुसार गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातन्त्र्य-संग्राम भारतीय जनता का स्वातन्त्र्य-संग्राम न होकर भारतीय पूँजी का स्वातन्त्र्य-संग्राम था। उपनिवेशों अथवा अर्द्ध-उपनिवेशों में चलने वाला वास्तविक स्वातन्त्र्य-संग्राम उसी दल के नेतृत्व में लड़ा जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु अगस्त सन् १९४७ में जो कुछ हुआ उसमें इस दल का कहीं नाम-निशान भी न था। अतः तर्क उन्हें यह बताता है कि भारत आजाद हुआ ही नहीं। किन्तु उनके इस भ्रमपूर्ण अयथार्थ तर्क ने उन्हें राजनीति से तो अपदस्थ किया ही, चूँकि उनके लेखक भी राजनीति से बँधे थे अतः वे साहित्य से अपदस्थ हो गए: "जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में हम देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के अन्दर, जिसका नया दौर १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद शुरू हुआ, अपना राजनीतिक असर नहीं क़ायम कर सके, उसी तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी हम अपने जनवादी, साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी साहित्य-आन्दोलन के अन्दर अपना असर नहीं क़ायम कर सके।"[3]

उन्होंने अपनी यह स्थिति महसूस की। आत्मालोचन के नाम पर उनमें से दो-चार के जो साहसपूर्ण वक्तव्य आये, उनमें उनके दर्द, उनकी निराशा और उनकी अमूल्य प्रतिभा के लगातार दुरुपयोग की बड़ी वेदनापूर्ण झलक मिली। वे एक छलावे में घिर गए थे। वह सारा वातावरण साहित्य-निर्माण के लिए घातक था और महत्त्वाकांक्षाओं तथा प्रतिद्वन्द्विताओं से विषाक्त था। इस सम्बन्ध में श्री पूरनचन्द्र जोशी ने लिखा है: "महत्त्वाकांक्षी या ना-समझ लोगों को उत्साहित किया गया, या उनका उपयोग किया गया कि वे इन संस्थाओं के नेताओं और अधिकांश कार्य-कर्ताओं को नैतिक रूप से जर्जर करें।"[4] लेकिन केवल नीति बदलना पर्याप्त नहीं था। उनकी नीति का आधार इतिहास के एक बड़े तथ्य का निषेध ही था। वे भारतीय स्वतन्त्रता को सत्य नहीं स्वीकार करना चाहते थे।

---

१. हमारा आधार बिलकुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये और पुराने हिन्दी-लेखकों से कटकर अलग जा पड़े हैं और महज़ एक गुट बनकर रह गए हैं......यह हमारी वामपक्षी संकीर्णता ही थी जिसके कारण हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण की मुख्य धारा से कटकर अलग जा पड़े। (अमृतराय—'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'; पृष्ठ ८, ९)

२. आज समूचे हिन्दी-साहित्य के पैमाने पर प्रगतिशील लेखक का मतलब होता है रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पहाड़ी, अमृतराय, नागार्जुन, केदार, शंकर शैलेन्द्र......और बस! (वही—पृष्ठ ९)

३. वही—पृष्ठ ३५

४. 'फॉर ए मास पालिसी'—पृष्ठ १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम यह हुआ कि एक ओर वे किसी भावी कल्पित क्रान्ति पर अपनी आस्था जमाना चाहते थे, दूसरी ओर राष्ट्रीय जीवन में उनके नेताओं की विफलता और इतिहास तथा साहित्य से उखड़ती हुई उनकी जड़ें, इन दोनों ने उनके मन में एक भयानक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिया था। इस अन्तर्विरोध का शमन करने के लिए भी उनके सामने एक निषेधात्मक धारणा थी—यथार्थ का निषेध, भारतीय जनवादी संग्राम की विजय का निषेध; और केवल निषेध पर आधारित रहकर आज तक कोई भी, कभी भी स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर पाया है।

इस निषेधात्मक स्थिति से खिन्न होकर हिन्दी की प्रमुख निर्माणात्मक साहित्य-धारा से सम्बद्ध होने के लिए उन्होंने 'न्यूनतम कार्यक्रम' का सुझाव रखा, जिसके आधार पर वे अन्य बहुसंख्यक जनवादी लेखकों के साथ मिलकर अपने गतिरोध से मुक्त हो सकें। लेकिन साहित्य में 'न्यूनतम कार्यक्रम' को वह सफलता नहीं मिल सकती जो राजनीति में कभी-कभी मिल जाती है। यहाँ 'न्यूनतम कार्यक्रम' के अर्थ हैं दो-चार ऐसे विषय, या दो-चार ऐसी मान्यताएँ, जिन पर सब एकमत हो सकें। लेकिन विराट् मानव को, अगणित दृष्टियों से मापने वाला उच्च स्तर का, विविध रूपों में प्रस्फुटित होने वाला स्थायी साहित्य दो-चार ऐसे विषयों में सीमित नहीं हो सकता जो किसी मीटिंग में प्रस्तावों द्वारा मंजूर कर लिए गए हों। यह धारणा जितनी हास्यास्पद है, यह अवस्था उतनी ही दयनीय। दो वर्षों के आत्मालोचन के बाद भी उनका संकट ज्यों-का-त्यों है। वे एक संकीर्णता से छूटते हैं तो दूसरी में जा उलझते हैं। श्री अमृतराय के कथन से हम सहमत हैं कि वे संख्या में बहुत नहीं हैं, किन्तु उनका संकट शायद सबसे तीखा और दर्दनाक है, और यह स्वाभाविक है कि रह-रहकर उन्हींके बीच से गतिरोध की आवाज उठे!

एक दूसरे प्रकार का गतिरोध उन लेखकों के मन में है जो सिद्धान्त, मान्यता, रचना, कर्म प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रतिक्रियावादी हैं। इनमें से कुछ तो पुनरुत्थानवादी हैं। पुनरुत्थानवाद किसी देश के पुनर्जागरण-युग का पहला चरण होता है। प्रारम्भ में सांस्कृतिक नवजीवन के लिए सहायक होता है, परन्तु बाद में रास्ते की अड़चन बन जाता है। अर्द्धशताब्दी पूर्व जो नई चेतना देश में आई, आज उसमें पाश्चात्य-पूर्वीय सांस्कृतिक धाराएँ पचकर एक हो गई हैं। आज जब इसका अवसर आया है कि हिन्दी का वर्तमान साहित्यकार इस संकुचित भूमि को छोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सन्तुलित दृष्टिकोण के आधार पर निर्माण करे तो निश्चय ही यह निरर्थक विवाद, साहित्य-सृजन की शक्ति को क्षीण करेगा। वस्तुतः यह दृष्टिकोण नये सिरे से साहित्य में नये रास्तों की खोज के विरुद्ध ही है। जाहिर है कि इन्हें न अतीत ही मिल पाता है, न वर्तमान ही; और भविष्य की ओर तो ये आँखें उठाकर देखते भी नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ अति आधुनिक ऐसे भी हैं, जिन्होंने वास्तविकता के आगे घुटने टेक दिए हैं और व्यक्ति की मानसिक अस्वस्थता को ही सबसे उपादेय सत्य स्वीकार कर चुके हैं। इनमें सोचने की क्षमता तो है, परन्तु इच्छा और साहस नहीं। भँवर की प्रतिक्षण नीचे ले जाने वाली गति ही इनके लिए आकाश की उड़ान है। यही वर्ग है, जो पाश्चात्य पतन-शीलता के सबसे निकट है।

परन्तु ये दोनों ही स्वर हिन्दी के प्रमुख स्वर नहीं हैं। इन दोनों के ऊपर विशाल निर्घोष की तरह फैलता हुआ हिन्दी के अधिकाधिक साहित्यकारों का एक तीसरा स्वर है, जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने उचित प्रतिभा होने पर कोई गतिरोध नहीं है। इस स्वर में विविधता है, वैचित्र्य है और अपना-अपना अनुभूत सत्य है। किसी योजना में समन्वित 'म्यूज़िक कन्सर्ट' की तरह उनकी आवाज में प्रत्यक्ष अथवा प्रतिबाधित एक-सूत्रता नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है। फिर भी, कहीं दूर से गुज़रने वाले विशाल जुलूस के विभिन्न स्वरों में जो एक हल्का किन्तु निश्चित सामंजस्य होता है, वही इस व्यापक प्रगतिशील वर्ग की वाणी में है। इस वाणी का आधार किसी भी विशेष दल की चलायमान नीति न होकर भारतीय जनता का सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रति वह महान् अभियान है जो आज एशिया, यूरोप, अमरीका और अफ्रीका के विशाल महाद्वीपों के समकालीन इतिहास को प्रभावित कर रहा है। इस वाणी का आधार हमारी वह महान् शान्तिवादी परम्परा है जिसने आज दोनों शिविरों के राष्ट्रों के सम्मुख एक नया नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस वाणी का आधार भारतीय जनता का वर्तमान अभाव, पीड़ा, संकट, दारिद्रय और दुःख की चेतना है और उससे मुक्त होने के लिए उसका जो प्रजातान्त्रिक प्रयास है, उसमें इन नये लेखकों की अटूट आस्था है। वे लोग, जो हिन्दी की इस नई चेतना का सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते हैं कि आज हिन्दी में वह पीढ़ी उभरकर आई है जिसने सन् ४२ में विश्व के महान् साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था। वही पीढ़ी आज दस वर्ष बाद अपनी परिपक्व लेखनी को भारतीय जन-संस्कृति के नव निर्माण के लिए अर्पित कर रही है। उसका अदम्य उत्साह निर्माणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। उसने क्रान्ति का पाठ पढ़ा है, किंतु रक्त-पात में अन्धी होकर मानव-मूल्यों का विस्मरण नहीं किया है।

वास्तव में आकलन में भूल तब होती है जब हम भारतीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति को यूरोपीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। युद्ध को भारतीय जनता ने उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया, न उससे यथावत् उस रूप में प्रभावित ही हुई जिस रूप में यूरोप प्रभावित हुआ। हमारे लिए ४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति, भारत का बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व और गांधी-विनोबा की वैष्णव राजनीति और भारतीय जनता का दुःख अधिक निकट के सत्य हैं जिन्होंने नई पीढ़ी की चेतना में जहाँ एक ओर सामाजिक और साम्प्रदायिक वैषम्य के प्रति पीड़ा जाग्रत की है, वहीं अपनी जनता के भविष्य के प्रति एक अदम्य आस्था और विश्वास भी जगाया है। यूरोपीय मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममें वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था व्यक्तित्व का बिखराव आ गया है ऐसा कहना न केवल कुत्सित समाजशास्त्रीयता है, वरन् हद दर्जे की निराशावादिता है। साहित्यिक चेतना को इतिहास के मानदण्डों पर कसने वाले को यह तथ्य पूर्णतया हृदयंगम कर लेना चाहिए कि युद्ध के बाद का भारत आजाद, प्रजातान्त्रिक पद्धति का भारत है। निश्चय ही हम पूर्ण अनास्था, हताशा और भ्रम-विच्छेद के युग से नहीं गुज़र रहे हैं, हमारी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ी नहीं हैं वे और भी गहरी पैठ रही हैं, ऊपर की पुनरुत्थानवादी पर्त को तोड़कर अपनी संस्कृति के व्यापक जनवादी और लोकपरक तत्त्वों तक पहुँच गई है। यूरोपीय अराजकता का आरोप हम पर करना अवैज्ञानिक है। हम फिर वही वाक्य दोहराना चाहेंगे कि हमारा झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं।

किन्तु इस नई आस्था ने इन लेखकों की आँखों के सामने किसी विभ्रममय, काल्पनिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवैज्ञानिक स्वप्न-लोक का सृजन नहीं किया है। इस नई आस्था ने उन्हें एक नूतन यथार्थ के प्रति जागरूक बनाया है। वे अभाव से पीड़ित किन्तु राजनीतिक दासता से मुक्त भारतीय जनता की पीड़ा भी पहचानने का प्रयास कर रहे हैं और साथ ही उसकी प्रगति और उसकी मुक्ति में उनका अदम्य विश्वास भी है। यद्यपि यह भी ठीक है कि उन सब-की प्रतिक्रिया एकरूप नहीं है, क्योंकि वे दलानुशासित नहीं हैं। अभाव और प्रगति की इस मिली-जुली स्थिति से प्रत्येक साहित्य-कार अपने ढंग से, अपनी रुचि से सत्य और सौन्दर्य के तत्त्व ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। किसी में विद्रोह का स्वर तीखा है, किसी में निर्माण का। पर आस्थावान वे सब हैं। यही नहीं, वरन् उनकी आस्था उस क्षण के वर्तमान में भी सजीव है। वे भविष्य की किसी अघटित घटना की प्रतीक्षा में हाथ-पर-हाथ धरे नहीं-बैठे हैं। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय एकता और जनवादी संस्कृति के पुनर्निर्माण की जो नींव पड़ेगी उसका समय आज ही है, किसी परिकल्पित क्रान्ति के बाद नहीं। इन लेखकों का विश्वास है कि जनतन्त्र की स्थापना का जो प्रयोग हमारे देश में किया जा रहा है, तमाम दोषों के बावजूद भी वह शुभ है और सही रास्ता है। नये विकास की शक्तियों को पूरी तरह आगे बढ़ने का पूरा अवसर नहीं मिल पाया है। इसके कई सामाजिक और राजनीतिक कारण हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज नहीं निकलता कि वे शक्तियाँ हैं ही नहीं या इतनी शक्तिहीन हैं कि मुट्ठी-भर प्रतिक्रियावादी वर्ग कोई ऐसा षड्यन्त्र कर बैठे कि आगे का रास्ता ही रुक जाय। सबसे मुख्य बात यह है कि इन लेखकों को जनता की प्रजातन्त्रवादी निर्णयात्मक शक्ति पर पूरा भरोसा है कि अपनी सामूहिक आवाज से वह अपना पथ-निर्देश कर सकती है। इसके लिए किसी अभिजात्य वर्ग की आवश्यकता नहीं, जो तानाशाही स्थापित करके उसे भेड़ की तरह हाँके। आज के सांस्कृतिक प्रयास का ध्येय जनतन्त्र एवं नवजीवन में सार्थकता लाने का है। इसीलिए साहित्य का स्वर विधेयात्मक होगा, ध्वंसात्मक नहीं। यही नहीं वरन् राज-नीतिक दलों द्वारा विकीर्ण असहिष्णुता का परित्याग करके राष्ट्रीय एकता, हिन्दी-भाषा के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और साहित्य के सामाजिक मूल्यों के प्रश्न पर सभी लेखक एक हों, जो किसी कारण से मुख्य धारा से कट गए हैं उन्हें भी अपने विशाल वृत्त में समेट लिया जाय, यह हमारा गुरुतर दायित्व है। दलानु-शासित लेखकों का भी राजनीतिक पूर्वग्रह कुछ भी हो, उनका अनुभूत सत्य व्यापक प्रगतिशील चेतना से अलग नहीं है। इस विश्वास के यथेष्ट प्रमाण हैं कि अधिकतर साहित्यकार इस उत्तरदायित्व का अनुभव कर रहे हैं। एक तरफ तो भाषा को अधिक लचीली और शक्तिशाली बनाने का भारी काम है, दूसरी ओर एक आशामय मानवतावाद द्वारा जन-जीवन की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध करने का प्रश्न है।

जिन लेखकों के सामने भावभूमि और भाषा का इतना बड़ा अविजित साम्राज्य पड़ा हो उनके लिए गतिरोध का प्रश्न ही क्या? उन्हें तो सब-कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

शम्भूनाथसिंह

महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या

महाकाव्य का उदय मानव-समाज के इतिहास की उस मंजिल पर हुआ जब कि सभ्यता का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और जब मानव मुख्यतया कबीलों और जातियों में विभाजित था। ऐसे समाज की कलात्मक अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में हुआ करती है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत वीरता और साहसपूर्ण कार्यों के लिए स्थान होते हुए भी व्यक्तिवाद का विकास नहीं दिखाई देता। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से समाज के विकास की इस मंजिल को वीर-युग (Heroic age) कहा जाता है। यह युग प्रत्येक जाति के इतिहास में कभी-न-कभी अवश्य आता है। अतः समाज के जीवन की यह युवावस्था होती है, जिसमें बौद्धिक विकास और सामाजिक संगठन तो अधिक नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु भावनाओं की तीव्रता और मानवीय प्रयत्नों का प्रारम्भिक सशक्त प्रयत्न अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ता है, जिसमें सबल निर्बल के ऊपर और जवान वृद्ध के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ दिखलाई पड़ता है। इस समाज में बाहु-बल और शस्त्र-चालन की दक्षता से ही व्यक्ति समाज का नेतृत्व प्राप्त करता है, और अवस्था की प्रौढ़ता अथवा अनुभव-वृद्धता को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। सारांश यह है कि इस समाज में युद्धों में व्यक्तिगत वीरता का ही महत्त्व है, सामूहिक वीरता अथवा सैन्य-शक्ति का नहीं; क्योंकि युवकों की प्रबल शारीरिक शक्ति तथा महान् साहस और उद्योग से ही युद्ध जीते जाते हैं। ये वीर महत्त्वाकांक्षी, विजय के विश्वासी, अभिमानी और ख्याति के इच्छुक होते हैं। सभी प्रारम्भिक महाकाव्यों में वीरता का यही स्वरूप दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए 'महाभारत' को ले सकते हैं। महाभारत की कथा मुख्यतया अर्जुन और कर्ण, भीम और भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि की व्यक्तिगत वीरता की कथा है। इसी प्रकार अन्य महाकाव्यों में भी राष्ट्रीय अथवा जातीय शक्ति और सामूहिक वीरता से अधिक महत्त्व व्यक्तिगत वीरता को दिया गया है। इस प्रकार यह युग व्यक्तिगत वीरता का युग है।

इस युग तक पहुँचने में समाज को विकास की अन्य कई मंजिलें पार करनी पड़ी होंगी। महाकाव्य का जो स्वरूप वीर-युग में दिखलाई पड़ता है, उसका पूर्वरूप पिछले युगों की सामाजिक परिस्थितियों और उनमें विकसित होने वाली कविता में खोजा जा सकता है। वीर-युग के पूर्व प्रत्येक समाज को बर्बरता की अवस्था से गुजरना पड़ा था; उस अवस्था में विचार, भावनाएँ, धर्म और सामाजिक सम्बंध अत्यन्द उलझे रूप में होते थे, किन्तु सबका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उस अवस्था में व्यष्टि-भावना का अभाव था, जिससे प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक रूप था, उसे अलग अपनी व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान नहीं था। वह अपने में ही समाज का एक लघु रूप था। ऐसी स्थिति में व्यक्तियों में दृढ़ व्यक्तित्व का अभाव होना स्वाभाविक था। कबीलों को ऐसे दृढ़ व्यक्तित्व से सदैव खतरा रहता था। अन्य कबीलों अथवा जातियों के हमलों तथा उनसे सम्पर्क होने से वैयक्तिक भावना का विकास हुआ। ऐसा होने पर व्यक्ति की चिरकाल से दबी हुई सत्ता उन्मुक्त हो गई। परिणामस्वरूप समाज अपने विकास की उस मंज़िल पर पहुँचा जिसे वीर-युग कहते हैं। इस नये युग की भावनाओं की अभिव्यक्ति वीरगीत और महाकाव्यों के रूप में हुई। किन्तु ये काव्य बिलकुल नवीन और परम्परा से विच्छिन्न नहीं थे, वस्तुतः वे पिछले युगों की कविता के ही विकसित रूप थे। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि उक्त पिछले युगों की कविता का स्वरूप क्या था, जिससे महाकाव्य का विकास हुआ।

आदिम काव्य

मनुष्य-जाति ने अपनी आदिम अवस्था में किस प्रकार की काव्यात्मक रचना की थी इसका कोई प्रमाण आज हमारे पास नहीं है, क्योंकि उसका कोई लिखित स्वरूप नहीं था। किन्तु उसको जानने का एक प्रमुख साधन यह है कि आज भी जो जातियाँ अपने विकास की आदिम अवस्था में हैं, उनमें प्रचलित गीतों और उनकी भाषा का अध्ययन किया जाय। उनके गीतों को अच्छी तरह तभी समझा जा सकता है जब कि उनके समाज की कुछ जानकारी हमें हो। उन जातियों में कविता का कोई अलग स्थान नहीं था, वह सामाजिक उत्सवों के अवसर पर अथवा अतिशय प्रसन्नता या दुःख की अभिव्यक्ति के क्षणों में जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र, बलिदान, गीत, नृत्य आदि के साथ मिली-जुली रहती थीं। वस्तुतः जादू-टोना और मन्त्र-तन्त्र आदिम मानव की प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अचेतन कामना की बाह्य अभिव्यक्ति थे। उनके उत्सवों के मूल में भी यही बात है। कला की उत्पत्ति आदिम मनुष्य की इसी संघर्ष-शक्ति-भावना का परिणाम है। आज भी आदिवासी जातियाँ वर्षा की कामना करती हैं, तो इस प्रकार के नृत्य का आयोजन करती हैं जिसमें उमड़ते-घुमड़ते बादलों और बरसती हुई बूँदों की भावाभिव्यक्ति होती है। खेत बोने के पूर्व अच्छी फसल के लिए जानवरों का बलिदान भी किया जाता है, चिकित्सा की जगह जादू और मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इन जातियों में सामूहिक रूप से शिकार खेलने, कार्य करने, और उत्सव मनाने की भी प्रथा होती है और ऐसे अवसरों पर अपनी भावनाओं की वे सामूहिक कलात्मक अभिव्यक्ति करती हैं।

समाज का कुछ और विकास होने के बाद, जब कि मनुष्य ने उत्पादन के साधनों का कुछ विकास कर लिया था, व्यक्ति अलग-अलग काम करने लगे; किन्तु सामूहिक भावनाएँ अभी भी बनी रहीं और उनकी अभिव्यक्ति कलात्मक या प्रतीकात्मक रूप में होती रही। कार्य करने के पूर्व या उपरान्त नृत्य या गीत आदि का आयोजन इसी अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाई पड़ता है। इन कलाओं में भी जादू-टोने-जैसा ही चमत्कारिक प्रभाव होता है। साधारणतया भाषा में नित्य के व्यवहार की तथा काव्यात्मक यह दो प्रकार की शैली बराबर दिखलाई पड़ती है। इस काव्यात्मक शैली का व्यवहार नृत्य, संगीत, उत्सव, मन्त्र-तन्त्र आदि के अवसरों पर हुआ करता है। तात्पर्य यह कि तीव्र मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए आदिम जातियों का प्रत्येक व्यक्ति काव्यात्मक और विशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है। इसका अर्थ यह है कि काव्य की भाषा (जिसमें संगीतात्मकता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लय, तुक और कल्पनाशीलता अधिक होती है) नित्य व्यवहार की भाषा से अधिक आदिम है। इसीलिए आदिम जातियों की बोल-चाल की भाषा और काव्यात्मक भाषा में अधिक अन्तर नहीं होता। बहुधा उनकी सामान्य बोल-चाल की भाषा भी लययुक्त, संगीतात्मक और कल्पनायुक्त होती है। उनमें प्रचलित गीत ही उनकी कविता के प्राप्त उदाहरण हैं, जिनमें उनके लिए जादू का ही प्रभाव होता है। इस काव्य में संगीत का उद्देश्य बाह्य जगत् अथवा प्रकृति में परिवर्तन उपस्थित करना होता है। कल्पना में ही आदिम जातियाँ अपने इच्छित सत्य को प्राप्त करना चाहती हैं, जिसका परिणाम उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इन अभिव्यक्तियों से उन्हें मानसिक शक्ति प्राप्त होती है और अन्ततः वे बाह्य जगत् को परिवर्तित करने में सफल होती हैं। इस प्रकार आदिम जातियों की कविता का जन्म जादू-टोने से ही हुआ है। कवि असम्भाव्य की कामना आखिर क्यों करते हैं? इसीलिए तो कि वे असम्भव को भी सम्भव बनाना चाहते हैं। कविता का यही प्रधान कार्य है और यह जादू-टोने का ही प्रभाव है। इससे मनुष्य में मानसिक शक्ति और सन्तुलन उत्पन्न होता है और वह यथार्थ का सामना करने के लिए अधिक सशक्त हो जाता है।

श्रम-विभाजन के बाद

समाज में श्रम-विभाजन प्रारम्भ होने के बाद सामूहिक भावनाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। ऐसे समाज में सरदार, पुरोहित और कुलीन-वर्ग के लोगों का प्राधान्य हो जाता है, अतः भावनाओं की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में न होकर व्यक्तिगत रूप में होने लगती है, क्योंकि व्यक्ति तब समाज का लघु-रूप नहीं रह जाता, उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कविता जादू-टोने और नृत्य-संगीत से विच्छिन्न होकर कुलीन व्यक्तियों और देवताओं का चित्रण करने लगती है; सामूहिक गीत, वीर गीतों और महाकाव्यों का रूप धारण कर लेते हैं, सामाजिक आख्यान व्यक्तिगत आख्यानों के रूप में बदल जाते हैं; और अन्त में कविता व्यक्ति की आन्तरिक अभिव्यक्ति—गीत-काव्य—बन जाती है। किन्तु इस अवस्था में भी परम्परा का सर्वथा त्याग नहीं होता, यद्यपि सामूहिक श्रम से अलग हट-कर कविता विश्राम और एकान्त के क्षणों की वस्तु बन जाती है। फिर भी, सामूहिक संगीतात्मक काव्य का रूप-शिल्प, उसमें बहुत-कुछ पूर्ण-सा ही बना रहता है। उदाहरण-स्वरूप सामूहिक गीतों कुछ विशेष शब्दों और पंक्तियों की आवृत्ति की शैली बाद के वीर-गीतों में भी दिखलाई पड़ती है। प्रारम्भिक सामूहिक गीतों में नृत्य और वाद्य का योग रहता था। वीर-युग के वीर-गीतों में भी नृत्य और संगीत का कुछ सहयोग अवश्य बना रहा और उनके रूप-विधान में तुक, लय-तत्त्व और कल्पनाशीलता भी पूर्ववत् ही दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः वीर-गीत का मूल रूप एक प्रकार का नृत्य ही था। जार्ज टामसन के कथनानुसार यूरोप के कुछ भागों में कुछ वीर-गीत आज भी नृत्य रूप में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ में काव्य, संगीत और नृत्य का मूल रूप एक ही था, किन्तु समाज के विकास के साथ-साथ ये तीनों अलग-अलग कलाओं के रूप में विकसित हुए। वीर-गीतों में इन तीनों का एक सीमा तक मिश्रण दिखलाई पड़ता है। गीति-काव्य (lyric) भी प्रारम्भ में वाद्य-यन्त्र (lyre) के साथ ही गाया जाता था, बाद में उसका सम्बन्ध लायर से विच्छिन्न हो गया।

पहले कहा जा चुका है कि आदिम जातियों की भाषा में काव्यात्मकता बहुत अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है, एक तरह से उसमें प्रत्येक व्यक्ति कवि होता है। समाज के श्रम-विभाजन के बाद ही कवि, गायक अथवा काव्य-पाठ करने वालों का स्थान अलग दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल और मध्य काल में भी कवि अपने समाज से भिन्न नहीं था। श्रोताओं और कवि के बीच में शिक्षा तथा संस्कृति की दीवार नहीं थी, परिणामस्वरूप उसकी भाषा और शैली भी श्रोताओं की भाषा-शैली से भिन्न न थी। उसमें और अन्य लोगों में भिन्नता इतनी ही होती थी कि उसे आशु कविता करने और पुरानी कविता का पाठ करने का अभ्यास अधिक होता था, परिणामस्वरूप प्राचीन लोक-गीतों और लोक-आख्यानों के रचयिता अज्ञात होते थे। ये कविताएँ नित्य-प्रति उद्भूत होतीं और समाज में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा एक युग से दूसरे युग तक यात्रा करती थीं। इस यात्रा के बीच उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार, शैली तथा विचारों-भावनाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता था। इस प्रकार उनमें बहुधा कलात्मक उत्कृष्टता नहीं रहती थी। वस्तुतः ये व्यक्ति की नहीं पूरे समाज की रचनाएँ होती थीं और आज भी अपढ़, किसान-मजदूरों और आदिवासी जातियों के बीच इसी रूप में प्रचलित दिखलाई पड़ती हैं। समाज में व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र हो जाने तथा सभ्यता के प्रसार के बाद ही अलग-अलग कवियों की रचनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। आदिम जातियों के कवि सचेत रूप से अलग-अलग काव्य-रचना नहीं करते थे बल्कि प्रत्येक कवि गायक या वाचक होता था और श्रोतागण भी उसके साथ ही काव्य-रचना में सहयोग करते थे। वस्तुतः वह कविता लिखता नहीं गाता था, उसकी रचना नहीं करता था बल्कि अचेतन रूप से उसके मुख से कविता निकलने लगती थी, बिना श्रोताओं और सहयोगियों के वह यह कार्य नहीं कर सकता था। उसके श्रोता और साथी भी अपने 'स्व' से मुक्त होकर उस काव्य लोक में पूर्ण रूप से रम जाते थे। यह परम्परा तब तक चलती रही जब तक वीर-गीतों, लोक-आख्यानों आदि में सामूहिक भावना का योग बना रहा। सभ्यता के विकास के साथ तथा श्रम-विभाजनयुक्त वर्ग-समाज की स्थापना के बाद उच्च शिक्षित वर्ग के बीच से यह परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होती गई।

महाकाव्यों का उद्भव इन्हीं लोक-गीतों, लोकाख्यानों और वीर-गीतों से हुआ है। जैसा कहा जा चुका है कि वीर-युग के पूर्व के समाज में कविता गीत-नृत्य आदि से भिन्न नहीं थी और कवि की सत्ता भी समाज से अलग नहीं थी, प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक कवि था। वीर-युग में यह स्थिति बदल गई, सामूहिक गीतों के अगुआ ही इस युग में गायक, व्याख्याता अथवा व्यास बन गए। यूरोप में इन्हीं लोगों से चारणों (bards) की अलग जाति ही बन गई, भारत में भी सूत, मगध, बन्दी, चारण आदि की परम्परा सम्भवतः इसी स्रोत से निकली। वीर-युग की परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ही चारणों और कवियों को उत्पन्न किया। बर्बर-युग में कबीले या जातियाँ अपने सामाजिक संगठन की सतत रक्षा करती रहती थीं फिर भी उन पर तरह-तरह की विपत्ति और संकट उपस्थित होते ही रहते थे। अन्य कबीलों और जातियों से युद्ध होते थे; विजय और पराजय दोनों ही के बाद रक्त का, आचार-विचार आदि का मिश्रण अथवा आदान-प्रदान होता था। मिश्रण से नई जातियाँ बन जाती थीं, बहुधा दैवी विपत्तियों—सूखा, अकाल आदि के कारण या दूसरी जातियों द्वारा अपने मूल स्थान से भगा दिए जाने के कारण ये जातियाँ दूसरे स्थानों पर जातीं और वहाँ की जातियों या कबीलों से संघर्ष करतीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा सम्पर्क स्थापित करती थीं और जीने के लिए नई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालती थीं। इस सम्पर्क, संघर्ष और मिश्रण का उनकी बर्बर सामाजिक व्यवस्था पर गहरा धक्का लगता था, वह टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाती थी और नवीन व्यवस्था को स्थान देती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे आदिम बर्बर-व्यवस्था की जगह वीर-युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें व्यक्ति अपनी अदम्य वैयक्तिक सत्ता और शक्ति लेकर समाज के पुराने बन्धनों को तोड़कर सामने आया। इसी युग में सामन्त-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का उदय हुआ और समाज पेशे और कर्म के आधार पर विभिन्न वर्गों, जातियों और उपजातियों में बँटने लगा। पुरोहितों, राजाओं और चारणों या कवियों के वर्ग का उदय इसी काल में हुआ। महाकाव्य के उद्भव से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनके—विशेषकर चारणों के—सम्बन्ध में यहाँ विशेष रूप से विचार कर लेना उचित है।

वीर-युग और चारण

वीर-युग, बर्बर समाज-व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज-व्यवस्था के बीच की मंज़िल है। समाज की रक्षा की भावना और जीने की आवश्यकता ने विवश किया कि इस युग में व्यक्ति अपनी शक्ति और साहस का परिचय औरों से भिन्न रूप में दे और उसके बदले ख्याति और सम्मान प्राप्त करे। इस प्रकार योद्धाओं और वीरों की अलग श्रेणी बन गई और राजतन्त्र या सामन्त-तन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें "वीर भोग्या वसुन्धरा" का नियम स्वभावतः लागू हो गया। युद्धों में शौर्य प्रदर्शित करने वाला और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीलों का नेता या सरदार बना और मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने तथा मिथ्या विश्वासों का विशेषज्ञ पुरोहित या धार्मिक नेता बन गया। पहले कहा जा चुका है कि बर्बर-युग के आचार-विचार, गीत, नृत्य सभी उलझे हुए और परस्पर अविभाज्य थे। इस युग में श्रम-विभाजन के कारण वे अलग-अलग हो गए। इस तरह पुरोहित-वर्ग ने जाति के विश्वासों और मन्त्र-तन्त्र के आधार पर धर्म का विकास किया और गायकों, कवियों तथा चारणों ने उसी स्रोत से संगीत, कविता एवं पुराण-आख्यान का विकास किया। इस प्रकार युद्ध, धार्मिक कृत्य, संगीत, नृत्य, काव्य, कला, प्रारम्भिक विज्ञान आदि का स्वरूप अलग-अलग स्थिर हो गया। किन्तु सभी एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे। यह अवश्य है कि विभिन्न देशों और जातियों में इन सम्बन्धों का स्वरूप भिन्न-भिन्न था। यूरोपीय देशों में लौकिक कृत्यों पर धर्म का प्रभुत्व अधिक नहीं था, पर भारत में धर्म का प्रभुत्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत अधिक था। वीर-युग के प्रारम्भिक काल में धर्म का यह प्रभुत्व सम्भवतः उतना अधिक नहीं था पर बाद में पुरोहित या ब्राह्मण-वर्ग का महत्त्व निस्संदेह बहुत अधिक बढ़ गया था। इस तरह राजन्य-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का वीर-युग में सर्वाधिक प्रभाव था और संगीत, नृत्य,कविता आदि को इन्हीं का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। कविता को चारणों और गायकों (सूत-मागध आदि) के माध्यम से सरदार, सामन्त अथवा राजा का आश्रय प्राप्त हुआ और धर्म प्रत्येक कार्य में उसका सहायक बना। राजा-पुरोहित और कवि-गायक का यह सम्बन्ध प्राचीन वीर-गीतों और महाकाव्यों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है; वस्तुतः महाकाव्य का प्रारम्भ इन्हीं तीनों वर्गों के समान योगदान द्वारा हुआ; यह अवश्य है कि सामान्य जनता ने (जो अब पुरोहित और चारणों के वर्ग से भिन्न होकर श्रोता या दर्शक बन गई थी) इस प्रकार के काव्य में रस लेकर उसे प्रोत्साहित किया। इसका कारण यही है कि वीर-युग में यद्यपि व्यक्तिगत वीरता और शक्ति का सम्मान बढ़ गया था और महाकाव्य में इन्हींको नायक के रूप में अपनाया गया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु पौराणिक विश्वासों का स्थान सामान्य जनता के हृदय में बहुत-कुछ पहले-जैसा ही बना रहा और महाकाव्यों में उसकी अभिव्यक्ति भी हुई।

विकसित मूल महाकाव्यों (Authentic epics) का प्रारम्भ और विकास करने वाले अधिकतर चारण (bards) अथवा सूत, मागध, बन्दी आदि ही थे। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। कहा जा चुका है कि बर्बर-युग में ये वर्ग नहीं थे, वीर-युग में ही इनका विकास हुआ। वीर-युग के प्रारम्भ होने के साथ ही इन वर्गों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और न महाकाव्य ही रच डाले गए। व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र होने और उसके बल-वीर्य की महत्ता स्वीकृत होने पर स्वभावतः सामूहिक रूप में ही वीर-गीतों (ballads) का विकास होने लगा। बर्बर-युग के पौराणिक विश्वासों का स्थान इस युग में धर्म ने ले तो लिया किन्तु लोक-गीतों और लोक-विश्वासों में पौराणिक अवस्था पूर्ववत् बनी रही। किसी वीर की ख्याति फैलते ही उसके सम्बन्ध में अतिशयोक्ति और कल्पना का उपयोग किया जाना स्वाभाविक है, विशेषकर उस काल में, जब कि न तो लिखने की प्रथा प्रचलित थी और न इतिहास का स्वरूप ही बन पाया था। इस तरह वीरों के सम्बन्ध में निजन्धरी (legendary) कथाओं का प्रचलन हो गया। ये सभी (वीर-गीत, पुराण, इतिहास, निजन्धरी कथा) प्रारम्भ में समाज की सामूहिक रचना के रूप में थे, और अधिकतर लोगों को उनकी जानकारी रहती थी; किन्तु जब उनकी मात्रा और संख्या बढ़ने लगी और श्रम-विभाजन के कारण, सबके लिए सब बातों का जानना सम्भव और आवश्यक नहीं रह गया तो कुछ लोगों ने ही इसमें अभ्यास द्वारा विशेषज्ञता प्राप्त की। प्रधानतया ये लोग उस श्रेणी के थे जो बर्बर-युग में समवेत गीतों के अगुआ या मन्त्र-तन्त्र के विशेष अभ्यासी होते थे। समवेत गीतों का प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया और अगुआ ही अकेला गाने लगा। बहुधा वह किसी वाद्य-यन्त्र के साथ गाता था। वाद्य-यन्त्र (जैसे लायर, वीणा, ढोल आदि) के साथ गाने की प्रथा भी बहुत दिनों तक चलती रही, पर बाद में वाद्य-यन्त्र की संगत संगीत के लिए ही मान्य हो गई और वाद्य-यन्त्र से रहित शुद्ध मौखिक गीत ही कविता के रूप में बदल गए। आज भी लोक-गीतों में कविता और वाद्य-यन्त्र का साथ बराबर दिखलाई पड़ता है। हिन्दी में 'आल्हा' एक वीर-गीत है, जो हमेशा ढोलक पर गाया जाता था। यूरोप में चारण लोग लायर (वीणा) के साथ वीर-गीतों का गान या पाठ करते थे। भारत में प्रसिद्ध पौराणिक गायक नारद ऋषि की वीणा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार इन चारणों और गायकों, व्यासों और कथावाचकों ('कथकाः') ने वीर-गीतों, पुराण-इतिहासों, आख्यानों और निजन्धरी कथाओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाया। कालान्तर में उनके वंशजों का अलग वर्ग या जाति ही बन गई और उनके द्वारा विकसित आख्यानक काव्य महाकाव्य के रूप में बदल गए।

वीर-युग सामन्त-तन्त्र का युग था, जिसमें शासन करने वाला ही सबसे योग्य समझा जाता था। यद्यपि इस युग में सक्रियता बहुत थी, और वीरों को युद्ध करके अपनी योग्यता सिद्ध करना आवश्यक था फिर भी इस युग में कुछ वर्गों—विशेषकर पुरोहित और गायक वर्ग के पास अवकाश भी बहुत था। इस वर्ग के लोग अपने अवकाश के समय में अपने युग अथवा अपने वीरों की कीर्ति-कथा का गान करते थे। इस प्रकार वीर-गीतों की रचना होने लगी। ये वीर-गीत इतिहास नहीं होते थे, उनमें कल्पना और पौराणिकता का पर्याप्त योग रहता था। राज-दरबारों में इन गीतों और उनके गायकों का सम्मान होता था। धीरे-धीरे ये गायक और चारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दरबारों के लिए आवश्यक हो गए और प्रत्येक सरदार या राजा के आश्रय में कोई-न-कोई चारण-कवि रहने लगा, जिसका काम अपने आश्रयदाता की विजय और वीरता की प्रशंसा में काव्य-रचना करना और इस तरह उसका सम्मान बढ़ाना था। इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा चारण-कवियों द्वारा आगे बढ़ाई जाने लगी। जब युद्धों के कारण ये दरबार समाप्त हो जाते थे तो चारण कवि अपने समकालीन राजाओं की प्रशंसा न करके पुराने राजाओं की कीर्ति के आधार पर निजन्धरी-कथाओं का निर्माण करके उनको गाते थे।

उन राजाओं के वंशज अपने पूर्वजों से सम्बन्धित आख्यानक-गीतों का बहुत सम्मान करते थे और इस तरह चारण-कवियों को आश्रय मिलता रहता था। ये चारण-कवि बहुधा पुराने गीतों का गान करते और आशु काव्य-शक्ति द्वारा आवश्यकतानुसार पुराने गीतों में कुछ-न-कुछ अपनी नई रचना भी मिलाते रहते थे। इस प्रकार वीर-गीतों के अनेक चक्र बनते गए। सम्भवतः एक चक्र की अनेक गाथाओं के मिश्रण और संश्लेषण से महाकाव्यों का रूप निर्मित हुआ। ये वीर-गीत न तो कोरे शुष्क इतिहास होते थे और न अलंकृत काव्य। उनमें वीरों की कीर्ति का छन्दोबद्ध वर्णन होता था जिससे ये गीत श्रोताओं को सहज ही में याद हो जाते थे और उनमें गेयता भी आ जाती थी। चारणों द्वारा मौखिक रूप से इनका प्रचार होता रहता था। किन्तु सभी लोगों का उन पर सहज अधिकार नहीं रहता था। चारणों के वंशजों को ये गीत और गीत-रचना की प्रतिभा उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होती थी। नई पीढ़ी के चारण अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त गीतों को अपने श्रोताओं और आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप नया रूप-रंग प्रदान किया करते थे यद्यपि गीतों की मूल सामग्री बहुत-कुछ पुरानी ही रहती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे ये गीत अधिकाधिक अतिशयोक्तिपूर्ण और आश्चर्य-चकित करने वाले होते गए, क्योंकि इससे श्रोताओं का ध्यान आकर्षित होता था। लिखने की प्रथा न होने से इन गीतों का मूल प्राचीन रूप सुरक्षित नहीं रह सकता था; अगर लिखने की कला ज्ञात होती तो भी चारण इस कला को रहस्यमय बनाकर ही लिखते, क्योंकि इसी पर उनके जीवन-यापन की समस्या निर्भर करती थी। कुछ पीढ़ियों के बाद ही उन गीतों का स्वरूप बहुत-कुछ बदल जाता था, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी के चारण अपने बाप-दादों से ही उन्हें प्राप्त करते थे, उससे पूर्व उन गीतों का क्या रूप था इसका ज्ञान उन्हें नहीं रहता था।

इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही और किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। हिन्दी में जगनिक का 'आल्हखण्ड' ऐसा ही वीर-गीत है जो अपने मूल रूप को बहुत-कुछ खो चुका है। उसे गाने वाले अब चारण-कवि नहीं बल्कि सामान्य जनता के गायक होते हैं जो ढोलक पर उसे गाते हैं और उसमें कल्पित आख्यान जोड़ा करते हैं। मैं स्वयं एक ऐसे आल्हा गाने वाले को जानता हूँ जिन्होंने मुझे बताया था कि जैसे आजकल कहानी-उपन्यास लिखे जाते हैं उसी प्रकार वे मूल कथा के आधार पर नई घटनाओं और उप-कथाओं का वर्णन आशु रूप से गाते समय करते जाते हैं। यही बात पुराने चारणों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। अतः इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि किसी वीर की छोटी-सी और कम महत्त्व की कथा भी कुछ पीढ़ियों बाद चारणों की आशु काव्य-प्रतिभा के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, आश्चर्यजनक और जातीय महाकाव्य का रूप धारण कर ले, सभी पुराने विकसित महाकाव्यों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। इलियड और महाभारत की बात छोड़ दें, मध्य काल की रचना 'पृथ्वीराज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रासो' ही को लें तो उससे भी यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है। इतना तो सर्वमान्य है कि सूतों, मागधों के इतिहास का पुराण-इतिहास-आख्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती वैदिक साहित्य में कई जगह इतिहास-पुराण को वेद के बराबर महत्त्व दिया गया है और उसे पंचम वेद तक कहा गया है, और अथर्ववेद के बाद ही उसकी गणना हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक संहिताओं की तरह इतिहास-पुराण की संहिता भी रही होगी, जो बाद में पुराणों और महाकाव्यों के रूप में विकसित हुई। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी ऐतिहासिक और पौराणिक थे, जिन्हें 'वायु पुराण' और 'पद्म पुराण' ने सूत कहा है। विण्टरनित्स का मत है कि बौद्ध-काल तक गद्य और छन्द में रचित इतिहास, आख्यान, पुराण और गाथाओं का असीम भण्डार था, जो बौद्ध जातकों, थेरी गाथाओं जैन-पुराणों तथा गाथाओं और संस्कृत-महाकाव्यों के रूप में आज भी किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित हैं। सूत, मागध इनमें पारंगत थे, जो राज-दरबारों में रहते और राजाओं की मर्यादा और ख्याति बढ़ाने के लिए पुरानी गाथाओं के साथ अपने आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों की प्रशंसा में भी आख्यान रचते और गाते थे। राजाओं के साथ वे युद्धों में भी जाते और स्वयं उनकी वीरता देखकर उसका वर्णन करते या उन्हें प्रोत्साहित करते थे। 'महाभारत' के संजय सूत ही थे, जिन्होंने धृतराष्ट्र को भारत-युद्ध की कथा सुनाई थी। उसी तरह नैमिषारण्य में 'महाभारत' को तीसरी बार गाकर सुनाने वाले लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा भी सूत ही थे। सूतों ने इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाओं की परम्परा को न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि वे उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्तरोत्तर समृद्ध भी करते रहे। इस प्रकार एक चक्र की अनेक कथाओं के संश्लिष्ट विकास से महाकाव्यों—विशेषकर 'महाभारत' का स्वरूप निर्मित हुआ। सूतों के अतिरिक्त कुशी-लव नामक एक जाति भी थी, जो जनता के बीच वाद्य-यन्त्र पर गीत गाती थी और उन्हींके कारण वीर-गीतों और आख्यानों का प्रचार जनता में होता था। इस प्रकार सूत राज-दरबारों के और कुशीलव जनता के बीच के गायक थे। 'रामायण' में कुश और लव को वाल्मीकि से सीखे गए 'रामाख्यान' को जनता के बीच घूम-घूमकर सुनाते दिखाया गया है। रामायण में कुश-लव की यह कथा चाहे बाद में ही क्यों न जोड़ी गई हो, किन्तु इससे पता चलता है कि रामाख्यान को गानेवाली कोई जाति अवश्य थी, जिसने कुश और लव से अपना सम्बन्ध स्थापित करके अपना सम्मान बढ़ाने के लिए अपना नाम कुशीलव रख लिया था। होल्ट्ज़मैन ने अपनी पुस्तक 'डास महाभारत' और जैकोबी ने 'डास रामायण' में कुशीलवों के सम्बन्ध में अपना यही मत व्यक्त किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत, मागध, बन्दी, वैतालिक और गायकों का इतिहास सुदूर अतीत से ही मिलने लगता है। अनेक देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से राज-दरबारों में उन्हें अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता रहा है। उनका काम देवताओं, ऋषियों और ख्यात राजाओं का वंशानुक्रम सुरक्षित रखना और वीरों की कीर्ति-कथा का गान करना था। इसीलिए सूतों को 'पौराणिक' और 'वंशकुशल' भी कहा गया है। इन लोगों के वंश-परम्परा द्वारा परम्परागत वंशावली, इतिहास, आख्यान आदि को स्मृति में सुरक्षित रखने और गाते रहने का ही यह परिणाम था कि बाद में पुराणों और महाकाव्यों का रूप सामने आया।

यूरोप के महाकाव्य

यूरोप में भी महाकाव्यों का विकास वीर-गीतों से ही हुआ, जिन्हें चारण लायर या तान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरे के साथ गाते थे; होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्यों में इसका उदाहरण मिलता है। 'इलियड' का नायक आचिलेस स्वयं लायर बजाता और वीरों का आख्यान गाता था। 'ओडेसी' में पेशेवर चारणों की चर्चा कई जगहों पर आई है। उनसे यह भी पता चलता है कि उस काल के चारणों की कला को देवताओं या सरस्वती का वरदान माना जाता था। होमर के बाद ऐतिहासिक काल में आशुकवियों या गायकों (Rhapsodes) का उदाहरण मिलता है जो साधारण जनता के बीच काव्य-गान करते थे। वे प्रायः स्वरचित या परम्परागत काव्यों को गाते थे। ६०० ईसा पूर्व में यूनान में होमर के काव्यों का गान जनता के बीच में होता था और उसके पहले भी अवश्य होता रहा होगा। चियास द्वीप में 'होमराइड' नामक एक जाति पहली शताब्दी में थी, जो अपने को होमर का वंशज बताती थी और जो सम्भवतः पेशेवर चारणों की जाति थी। होमर की कविताएँ गाई नहीं जाती थीं, बल्कि उनका पाठ होता था, किन्तु गाने वाले अपने हाथ में एक विशेष प्रकार की लकड़ी या सोटा लिये रहते थे। सम्भवतः वह पूर्ववर्ती गाने वालों के लायर की जगह रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होता था। इससे पता चलता है कि 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्य किसी समय लायर के साथ गाए जाते थे। इनके गाने वाले चारणों के पूर्वज शुरू में यूनान के सरदारों और राजाओं के दरबारों में रहते और उनकी वीरता तथा यश का गान करते थे। इस प्रकार तत्सम्बन्धी वीर-गीतों की परम्परा चल पड़ी थी। ट्राजन-युद्ध के बाद के यूनान की सामन्ती व्यवस्था की विशेषताओं, विशेषकर तत्कालीन शासक-वर्ग के शारीरिक बल और व्यक्तिपरक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति उन वीर-गीतों में होती थी। बाद में जब यूनानी शासक लगातार आक्रमणों से छिन्न-भिन्न होकर एशिया माइनर में चले गए तो वहाँ उनके दरबारों में 'इलियड' और 'ओडेसी' से सम्बन्धित वीर-गीतों का गान होने लगा। उन्हीं बिखरे-गीतों का धीरे-धीरे संश्लेषण होकर 'इलियड' और 'ओडेसी' का स्वरूप विकसित हुआ।

चाडविक ने अपनी पुस्तक 'वीर-युग' (Heroic Age) में ट्यूटानिक जातियों में वीर-गीतों और महाकाव्यों के विकास का पूर्ण रूप से विचार किया है। उनके मतानुसार जर्मनी में वीर-काल या अन्धकार-युग के बहुत पहले ही टेसिटस ने लिखा था कि जर्मनी में बहुत-से प्राचीन गीत प्रचलित थे। सीडानियस और वेनाण्टियस फार्डिनेट्स की कविताओं से भी ट्यूटानिक जाति के चारण-कवियों का प्रमाण मिलता है। एंग्लो सैक्सन जाति की कविताओं से भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वहाँ चारण-कवि दरबारों में वीर-गीत गाया करते थे। रूसी वीर-गीतों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। उन गीतों के कुछ वीर तो स्वयं चारण थे। मिस हैपगुड ने अपनी पुस्तक 'एपिक सांग्स ऑफ रशिया' में लिखा है कि रूस में चारण-कवि बाद में दरबारों से हटकर जनता के बीच चले गए और आज भी वे घूम-घूमकर धार्मिक गीत गाते हैं। मध्ययुग में रूस में क्रिश्चियन चर्च के कारण वीर-गीतों और महाकाव्यों का प्रचार दरबारों से उठ गया और किसानों के बीच उनकी रक्षा हुई।

विकास की तीन मंज़िलें

सभी देशों में महाकाव्य के विकास की तीन मंज़िलें दिखाई पड़ती हैं। पहली मंज़िल वीर-युग में होती है; जब कि उसी युग के चारण-कवि वीरों के दरबारों में रहकर उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। मूल 'महाभारत' और 'रामायण' की रचना सम्भवतः इसी युग में हुई थी। 'इलियड' और 'ओडेसी' के मूल रूपों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। बीयोउल्फ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहसपूर्ण कार्यों का वीर-गीत के रूप में प्रारम्भ वीर-युग में ही हो गया था। वीरों के मरने के बाद भी उनकी गाथा गाई जाती थी, धीरे-धीरे एक वीर से सम्बन्धित अनेक गीत कुछ पीढ़ियों के बाद मिलकर एक हो जाते थे। यही महाकाव्य कहलाने लगते थे। यह महाकाव्य के विकास की दूसरी मंज़िल है। इस मंज़िल पर महाकाव्य का रूप लचीला होता है अर्थात् उसे गाने या पाठ करने में चारणों को स्वतन्त्रता होती है कि वे अपनी रुचि के अनुसार उसमें कुछ जोड़ें या घटाएँ, क्योंकि अतीत की कथा के श्रोताओं को निश्चित जानकारी नहीं रहती। तीसरी मंज़िल में प्राचीन वीरों के आख्यान का सामान्य जनता अपने ढंग से रूप बदलती रहती है; वे निजन्धरी कथा का रूप धारण कर लेते हैं, उनमें मूल कथा का ढाँचा तो बना रहता है किन्तु उसमें नवीन मांस-रक्त भरकर पहले की कई असम्बद्ध गाथाओं के मिश्रण द्वारा उसे नवीन रूप दे दिया जाता है। 'महाभारत' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। यूनान के हिसियड का काव्य इसी मंज़िल का है। रूस में १९वीं शताब्दी में किसानों के यहाँ से प्राप्त महाकाव्यों को भी इसी मंज़िल का समझना चाहिए। इस प्रकार इस मंज़िल में वीर-गीत दरबारों से निकलकर जनता की वस्तु बन जाते हैं। हिन्दी में 'आल्हखण्ड' इसी प्रकार का वीर-काव्य है। भारतीय महाकाव्यों के विकास के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर एन० के० सिद्धान्त का मत है कि पहली मंज़िल के वीर-गीत वे हैं जिनकी रचना महाभारत-युद्ध के काल में हुई थी। उस काल के राजाओं के चारण पुरोहित-वर्ग के नहीं क्षत्रिय या वीरों के वर्ग के होते थे, उनका सम्मान कम नहीं था। पुरुरवा, नहुष और ययाति की कथाएँ इसी मंज़िल की हैं। दूसरी मंज़िल में प्राचीन दरबारी वीर-गीतों के आधार पर महाकाव्य का मूल रूप निर्मित हो गया। मूल 'भारती-कथा' उसी मंज़िल की रचना रही होगी जिसमें पुरानी वीर-गाथाएँ उपाख्यान के रूप में सम्मिलित कर ली गई थीं। तीसरी मंज़िल पर राजनीतिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन आ गया था। छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े साम्राज्य स्थापित हो गए थे जिनमें उन दरबारों में सूत-मागधों की संख्या भी कम ही रही होगी; अतः अधिकांश सूत-मागध जनता के बीच काव्य-गान करने लगे। ब्राह्मणों के प्रभाव से भी सूत-मागधों का महत्त्व कम हो गया और धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने पुराण-आख्यान पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य भी धार्मिक रंग में रंग गए, उनकी मूल कथा के वीर पात्रों का महत्त्व कम हो गया और धार्मिक आख्यान और उपदेश ही प्रधान हो गए। 'महाभारत' के पंचम वेद माने जाने का यही कारण है। इस काल में पुरोहित ही पौराणिक बन गए, पर वे सूत-मागध नहीं थे और दरबारों से उनका आश्रित रूप में ही सम्बन्ध रह गया; क्योंकि उनकी धार्मिक कथाओं का राजा और सामान्य जनता सभी धार्मिक भावना के कारण सामान्य रूप आस्वादन करते थे।

इस प्रकार महाकाव्य के उद्भव और विकास की कहानी युगों की धारा में बहने वाले वीर-गीतों, आख्यानों, निजन्धरी कथाओं और ऐतिहासिक पुरुषों के विकास की कहानी है, जिन्हें निर्मित करने वाला कोई एक या कुछ व्यक्ति नहीं हैं; बल्कि युग-युग के मानव-समाज ने मिलकर अपने-अपने देश में अपने-अपने ढंग से इनका निर्माण किया है। प्रारम्भिक विकसित महाकाव्यों की तुलना हम प्रवाल-द्वीपों से कर सकते हैं। ये महाकाव्य न जाने कितने युगों में कितने कण्ठों से निस्सृत होकर और कितनी प्रतिभाओं की शक्ति से रूप ग्रहण करके आज अपना वर्तमान स्थिर रूप प्राप्त कर सके हैं। लिखने की प्रथा प्रारम्भ होने बाद उनके स्वरूप में कुछ स्थिरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्य आई, किन्तु 'महाभारत', 'रामायण' या 'रासो' आदि महाकाव्यों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी परस्पर बहुत भिन्नता दिखलाई पड़ती है; सम्भवतः लिखने वालों की अपनी रुचि, अज्ञान और साम्प्रदायिक पूर्वग्रह के कारण प्राचीन पाण्डुलिपियों में इतना अन्तर पाया जाता है। किन्तु छपाई का आविष्कार हो जाने के बाद अब महाकाव्यों के विकसित होने की सम्भावना नहीं रह गई है, अपढ़ ज़नता में प्रचलित वीर-गीत भी अब बहुत-कुछ लिपिबद्ध करके प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे उनके भी विकसित होने की सम्भावना अब कम हो गई है। सारांश यह है कि महाकाव्यों का उद्भव वीर-युग में होता है, सामन्त-युग उन्हें विकसित करता है और पूँजीवाद के वैज्ञानिक युग में उनका विकास रुक जाता है। विकसित सभ्य-समाज में महाकाव्यों का विकास नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
८४
दि ३७आ
अंक-८

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी

'कामायनी' की कथा

पुस्तकालय
079573

[क] ऐतिहासिकता

: १ :

प्रसाद की 'कामायनी' की कथा इतिहास है या रूपक, इसका निर्णय करने के लिए बहुत अधिक शोध या तर्क की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रसाद ने इस सम्बन्ध में स्वयं ही अपना मत अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिख दिया है। परन्तु साधारणतः इतिहास के सम्बन्ध में लोगों की जो धारणा बँधी हुई है, प्रसाद की दृष्टि उससे कहीं अधिक व्यापक है; जिसके कारण वह इतिहास को लेकर मनोविज्ञान और अध्यात्म से भी उलझी हुई प्रतीत होती है। अतः उनके स्पष्ट कथनों की भी किंचित् व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

अपने 'कामायनी-दर्शन'[1] शीर्षक लेख में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रसाद ने भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रधान विचार-धारा (दृष्टि, दर्शन) को अपने अध्ययन, मनन और अनुभव से जिस रूप में समझा था उस रूप में जीवन की ही सत्य वस्तु समझकर उन्होंने 'कामायनी' की कथा में उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। 'कामायनी' की कथा में पिरोए हुए दार्शनिक तत्त्वों को देखने से स्वभावतः यह धारणा होने लगती है कि वह एक दार्शनिक, आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक रूपक है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद के ऐतिहासिक विवेचन और कथन उसी प्रकार इस धारणा को भी पुष्ट करते हैं कि उनकी दृष्टि जितनी दार्शनिक या आध्यात्मिक थी उससे किसी प्रकार कम ऐतिहासिक न थी। स्वयं उन्हीं के कथनानुसार यद्यपि 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए उन्होंने थोड़ी-बहुत कल्पना से भी काम लिया है, तथापि कथा का आधार ऐतिहासिक ही है। उसकी मुख्य घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक हैं। यथा :

१. 'इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।'

२. 'जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है।'

३. 'मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हींके वंशज हैं।'[2]

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', केशव-स्मृति-अंक, सं० २००८।
२. 'कामायनी', भूमिका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार 'कामायनी' की भूमिका से यह भी स्पष्ट है कि देवगण, उनका उच्छृङ्खल स्वभाव, जल प्लावन से उनका विनाश, उसके बाद मनु और श्रद्धा की उजड़ी सृष्टि को फिर से बसाने का प्रयत्न, किलाताकुली की सहायता से पशु-बलि, फिर इड़ा के मिलने पर बुद्धिवाद का विकास इत्यादि को भी प्रसाद ऐतिहासिक तथ्य ही मानते हैं। इस इतिहास के अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसमें रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है, इसीलिए वे कहते हैं :

'श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'[1]

तात्पर्य यह कि 'कामायनी' की कथा को रूपक मानना-न-मानना आपकी इच्छा पर है, परन्तु इतिहास तो वह अवश्य है। साथ ही प्रसाद भली भाँति जानते थे कि आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि उस कथा को इतिहास मानने में अवश्य ननु-नच करेगी। उन्होंने मूल कथा 'ऋग्वेद' और 'शतपथ' से ली है; जिनके समय और ऐतिहासिकता का विषय निर्विवाद नहीं है। अतः वे अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

'प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है······घटनाएँ कहाँ-कहीं अतिरंजित भी जान पड़ती हैं। तथ्य संग्रहकारिणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है, किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।'[2]

वैदिक साहित्य, जहाँ से प्रसाद ने अपनी मूल-कथा ली है, उनकी दृष्टि से इतिवृत्त ही है,[3] भले ही वह 'भावपूर्ण' हो और घटनाएँ कहीं-कहीं 'अतिरंजित' हों। यदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को इतिहास न मानें, तो भी 'कामायनी' की मूल कथा तो उसका 'घटना से सम्बद्ध सत्यांश' ही है। परन्तु यदि कोई उसे रूपक मानने का ही आग्रह करे, तो बिना किसी विवाद में उलझे हुए प्रसाद कहेंगे :

'हो सकता है। यदि वह रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। वह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं, तब भी हम घटना-मात्र से सन्तुष्ट न रहकर उसके मूल में कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य ही ढूँढते हैं।' अर्थात् रूपक मानने पर वह रूपक भी इतिहास ही होगा। स्थूल, घटना-सम्बद्ध इतिहास न सही, फिर भी वह अत्यन्त भव्य इतिहास होगा—सूक्ष्म,

---

१. 'कामायनी' भूमिका।

२. वही।

३. वेद को इतिहास मानें या रूपक, इस प्रश्न पर विवाद आधुनिक नहीं, बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल में भी कुछ लोग उसे इतिहास मानते थे—वे 'ऐतिहासिक' कहलाते थे, और कुछ उसका 'निरुक्त' से बुद्धिपरक संगत अर्थ लगाकर उसे रूपक मानते थे—वे 'नैरुक्त' कहलाते थे। प्रसाद ने अपने को ऐतिहासिकों के वर्ग में रखा है।

—'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना० प्र० सभा, बनारस), पृष्ठ १७६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिक।

परन्तु इतने से भी प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि का पूरा रूप सामने नहीं आता। वह तब पूरा होता है जब वे 'घटना' का मूल रहस्य स्वयं बतलाते हैं :

'......इस घटना के मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।'

इस प्रकार वे स्थूल घटनाओं के इतिहास तथा मनोविज्ञान से भी ऊपर उठकर आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाते हैं, जो उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह का कारण उपस्थित करता है। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो इस सन्देह का कोई वास्तविक आधार नहीं है। बिलकुल स्पष्ट है कि प्रसाद की दृष्टि में भाव चिरन्तन सत्य है, घटना क्षणिक। एक सूक्ष्म है, दूसरा उसीका स्थूल रूप। सत्य दोनों हैं। स्थूल और क्षणिक होने के कारण दूसरा कम सत्य, अथवा उपेक्षणीय नहीं। इस प्रकार प्रसाद की आध्यात्मिक दृष्टि उनके ऐतिहासिक शोध और विवेचन के विरुद्ध न जाकर उसे एक दृढ़तर भूमिका ही प्रदान करती है।

: २ :

उक्त प्रकार से प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि को समझ लेने के बाद, 'कामायनी' का ऐतिहासिक रूप और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम देव-निवास स्वर्ग, देवराज इन्द्र तथा देव-संस्कृति की भौमिक स्थिति और सत्यता के सम्बन्ध में प्रसाद के विचारों से अवगत होते हैं। प्रसाद ने जिन देवों की उच्छृङ्खल और विलासी प्रकृति तथा शक्ति का वर्णन किया है वे उनके मत से किसी आकाशस्थ स्वर्ग के कल्पित निवासी न थे। उनकी वास्तविक भौमिक सत्ता थी। उनकी निवास-भूमि स्वर्ग अवश्य थी, पर वह स्वर्ग इसी धरती पर मेरु-पर्वत पर स्थित था। वे देव और कोई नहीं, आर्यों के अग्रजन्मा[1] थे। देवराज इन्द्र प्रथम चक्रवर्ती आर्य सम्राट् थे।

यह सब प्रसाद ने केवल कल्पना की उड़ान पर नहीं कहा। तिलक, अविनाशचन्द्र दास, सत्यव्रत सामाश्रमी, पार्जीटर, मैकडानल्ड, मार्शल-जैसे धुरन्धर विद्वानों ने आर्यों की निवास-भूमि के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किये हैं उनका तथा प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन-मनन करके उन्होंने स्वतन्त्र रूप से इस विषय में अपना मत स्थिर किया। एतत्सम्बन्धी अपने विचार उन्होंने विस्तृत रूप से अपने 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'[2] शीर्षक लेख में प्रकट किये हैं। अपनी ऐतिहासिक रचनाओं की भूमिका वे अपने स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर ही स्थिर करते थे, यह उनके नाटकों से भी विदित होता है। यहाँ हम उनके आर्यावर्त-सम्बन्धी उक्त लेख से उनके आवश्यक निष्कर्ष उद्धृत करेंगे, जिनसे 'कामायनी' की ऐतिहासिक और भौगोलिक भूमिका समझने में सहायता मिलेगी।

आर्यों की सभ्यता को पाश्चात्य इतिहासविदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर पहले

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु)

२. 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना. प्र. सभा, काशी), पृष्ठ १९९-१६४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक-से-अधिक ईसा से २००० वर्ष पूर्व की माना था। तिलक ने ज्योतिष के आधार पर प्रमाणित किया कि ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र ई० पू० ६००० के बाद नहीं हो सकते। प्रसाद ने आर्य-सभ्यता को इससे भी पहले की ही माना है। उनके मत से 'बाइबिल' में वर्णित जल-प्रलय के आधार पर आर्य-सभ्यता का काल ई० पू० २००० के भीतर स्थिर करना (जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों ने किया है) भ्रमात्मक है। 'बाइबिल' में वर्णित जल-प्रलय की घटना ऋग्वेद से पीछे की है। आगे वे लिखते हैं :

'अब हमें पहले उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए थे। आर्यों के अग्रजन्मा देव थे, ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य शास्त्रों की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता हमारे साहित्य में "मेरु" नाम से लगता है।'[1]

यह मेरु 'महाभारत' तथा 'बृहत्संहिता' आदि ग्रन्थों में उत्तरकुरु के पास बताया गया है। उत्तरकुरु हिन्दूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी कश्मीर तक का प्रदेश था। इसकी प्रधान नगरी सिकन्दर के समय में निकाय नाम से विख्यात थी। इसीके पास के पर्वत को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इसी मेरोस या मेरु को अब 'कोह मोर' कहते हैं। ग्रीकों ने इसे 'त्रिशृङ्ग' कहा है और ऋग्वेद में इसे 'त्रिककुद' तथा पुराणों में 'त्रिकूट' लिखा है। यह शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु-परिवार-रूप से आर्य साहित्य में अत्यन्त पवित्र मानी गई है। इसीके आस-पास की—अफगानिस्तान, कश्मीर तथा बलख के बीच की—रमणीय भूमि देवों का स्वर्ग तथा पारसीकों का प्रथम आर्य-निवास (Ariyana vaijo) थी।

निशाय और मेरु को मेगस्थनीज ने भारत की सीमा के भीतर लिखा है। यह आर्यों के अग्रजन्मा देवों की मूल भूमि थी। इसका पूर्ण विस्तृत रूप पीछे आर्यावर्त या भारत कहलाया। पर आर्यावर्त का वैदिक विस्तार केवल हिमालय और विन्ध्य के बीच सीमित न था।

अनेक विद्वानों ने सप्तसिन्धु प्रदेश—सिन्धु समेत सात नदियों के देश—को वैदिककालीन आर्यावर्त माना है। परन्तु प्रसाद ने ऋग्वेद में 'प्रसप्त सप्त मेधान्...' आदि मन्त्रों का भिन्न अर्थ करके सात-सात नदियों वाले तीन सप्तक—गंगा, सिन्धु और सरस्वती के माने हैं और इसी त्रिसप्तक प्रदेश को वैदिककालीन आर्यावर्त स्थिर किया है। इनमें गंगा-सप्तक की पूर्वी सीमा सदानीरा थी। सिन्धु-सप्तक प्रसिद्ध ही है। तीसरा प्रसाद के अनुमान से सरस्वती-सप्तक है। यह सरस्वती सिन्धु-सप्तक वाली सरस्वती से भिन्न है। 'अवेस्ता' में इसका नाम 'हर हैवती' मिलता है। हारूत से कन्दहार तक की नदियों के सप्तक की यह प्रधान नदी थी। इस सप्तक का प्रदेश दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में था। तीनों सप्तकों की विस्तृत भूमि आर्यों का लीला-निकेतन थी।

त्रिसप्तक वाले सम्पूर्ण आर्यावर्त की सीमा उत्तर में वाल्हीक से दक्षिण में ऋक्कालीन राजपूताना समुद्र तक और पश्चिम में हेलमन्द से पूर्व में गंगा की घाटी तक थी। मगध, अंग, मीडिया और मेसोपोटामिया भी आर्य प्रदेश ही थे, पर इनमें आर्यों को अनार्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलम्बी लोगों—असुरों—से संघर्ष-रत रहना पड़ता था। सरस्वती की घाटी में भी उस समय आर्यों और असुरों—वरुण के उपासक आर्यों—का संघर्ष चल रहा था। इसीसे

---

१. प्रसाद जी का लेख, 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' ('कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' में प्रकाशित), पृष्ठ १६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती को वृत्रघ्नी भी कहा गया है।

उस समय द्रविड़ों से आर्यों का संघर्ष सम्भव न था, क्योंकि जिस दक्षिण महाद्वीप में द्रविड़ों की जन्मभूमि थी वह आर्यावर्त से राजपूताना समुद्र द्वारा पृथक् थी।

प्रसाद के मत से उस समय के आर्यावर्त की स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी जैसी मानचित्र में दिखाई गई है।

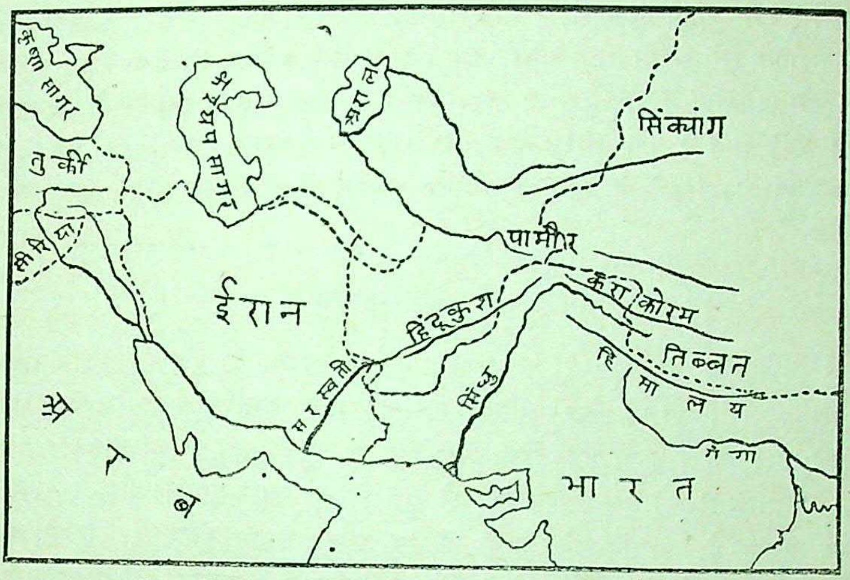

उस समय के आर्यों में आकाशी देवों की उपासना प्रचलित थी। भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य-बुद्धि थी। इन आकाशी देवताओं के राजा वरुण माने जाते थे। वरुण की उपासना चन्द्रमा की उपासना से सम्बद्ध थी। वेदों में वरुण को प्रायः असुर कहा गया है। आर्यों के अग्रजन्मा देवों में जब कालान्तर में विचार-परिवर्तन हुआ तो उनके दो प्रधान भेद हो गए—एक वरुणोपासक, दूसरा इन्द्र का अनुयायी। असुर-नेता त्वष्टा से इन्द्र के विरोध ने धीरे-धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण किया। अन्त में इन्द्र की विजयों के फलस्वरूप आर्यावर्त के त्रिसप्तक प्रदेश से असुर-उपासक आर्यों को हटना पड़ा। यह घटना ७५०० ई० पू० से भी पहले की है। वह आर्य-सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भिक अध्याय है, जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापित किया।

: ३ :

आर्यावर्त और आर्यों—अथवा स्वर्ग और उसके निवासी देवों—के सम्बन्ध में प्रसाद के उपर्युक्त विचारों से मतभेद होना और बात है, शोध और गवेषणा के निष्कर्ष कभी मतभेदों से शून्य रहते ही नहीं। फिर भी यह निश्चित है कि जिस प्रकार 'जनमेजय' से 'राज्यश्री' तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न चित्र प्रसाद ने अपने नाटकों में उपस्थित करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन ऋक्कालीन देव-संस्कृति की उन्नति और विनाश तथा उनके बाद नवीन मानव-संस्कृति के उदय का भी चित्र उन्होंने 'कामायनी' में उपस्थित किया। इन सभी चित्रों को उन्होंने शोधों और प्रमाणों से पुष्ट तथा दृढ़ ऐतिहासिक आधार पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे प्राचीन ऋक्‌कालीन आर्य (देव) ही जब भौतिक शक्तियों पर अधिकार करके उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गए तो उनमें अहंकार, उच्छृङ्खलता और विलासिता ने घर कर लिया। जल-प्रलय में उनका नाश हो गया तब अकेले मनु उनके प्रतिनिधि रूप बच रहे थे। पीछे भटकते-भटकते काम-बाला श्रद्धा भी आ मिली। मनु भी देव-प्रकृति के ही थे। प्रलय से त्रस्त हुए थे, पर पीछे उनकी देव-प्रकृति जागने लगी थी। असुर-पुरोहितों ने पशु-बलि करके उन्हें और भड़काया। फलस्वरूप उनकी अतृप्त वासनाओं ने उन्हें श्रद्धा से दूर कर दिया। फिर उन्हें इड़ा मिली, जिसकी सहायता से उन्होंने नगर बसाए और शासन-तन्त्र संगठित किया। परन्तु स्वाभाविक अतृप्ति और असन्तोष ने उन्हें वहाँ भी ठोकर खिलाई। अन्त में श्रद्धा पुनः पुत्र सहित उनसे आ मिली। सबके अन्त में एक परिवार के रूप में सबका सुखद मिलन हुआ। यही वह समय था जब प्रथम बार देव-संस्कृति से भिन्न नवीन मानव-संस्कृति का उदय हुआ।

[ख] जल-प्लावन

सृष्टि के नवविधान का आरम्भ 'कामायनी' में जल-प्लावन से होता है। 'हिमालय के उच्च शिखर पर शिला की शीतल छाया में एक पुरुष भीगे नयनों से प्रलय का प्रवाह देख रहा है। नीचे तरल जल है, ऊपर सघन हिम; किन्तु दोनों में एक ही तत्त्व की प्रधानता है······'

'कामायनी' की जल-प्लावन-कथा की मूल प्रेरणा यद्यपि भारतीय साहित्य—विशेषतया 'शतपथ ब्राह्मण' है, तथापि अनेक ग्रन्थों में बाढ़ का वर्णन प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण, पुराण, बाइबिल तथा अवेस्ता, ग्रीक, बेबीलोनिया, चीन आदि के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। एण्ड्री का कथन है कि संसार के ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ पर इस जल-प्लावन-कथा का कोई निर्देश नहीं प्राप्त हो सका। मिस्र, जापान आदि ऐसे ही देश हैं। अफ्रीका में भी इस कथा का प्रचलन नगण्य-सा है। इस कारण एक सार्वभौमिक जल-प्लावन को नहीं स्वीकार किया जा सकता।[1] यह मत केवल अठारहवीं शताब्दी तक ही प्रचलित था कि जल-प्लावन का रूप विश्व-व्यापी है।

जल-प्लावन-कथा का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है। यह कथा धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित होने के कारण अत्यधिक दैवी रूप में चित्रित की गई है। उसे प्रायः एक ईश्वरीय प्रकोप के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी सूचना पूर्व ही किसी प्रकार संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को मिल जाती थी। उस प्रलय-दशा में वही शेष रह जाता था, जो आगे चलकर पुनः सृष्टि का नवनिर्माण करता था। इसी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण सत्य घटना को भी गाथा का रूप दे दिया गया है। अन्यथा भूगर्भ-शास्त्र के विद्वान् भी इसे स्वीकार करते हैं कि :

'समय-समय पर भू-भाग में सागर भर जाते हैं, सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है। ये पर्याप्त समय तक रहते हैं। इस स्थिति में पृथ्वी का ऊँचा भाग जल में विनष्ट हो जाता है। अन्त में जल कुछ नीचे उतरने लगता है और कुछ भाग पर्वत-श्रेणियों में परिवर्तित हो जाता है। इस अवसर पर ज्वालामुखी विस्फोट भी सम्भव है। जल में अनेक वस्तुएँ एकत्र होकर

१. Encyclopedia of Religion and Ethics—Article on Flood—by R. Andree Die flutsagen.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति बदल देती हैं।'[1]

इस भाँति पृथ्वी पर सागर और उसके अनन्तर पर्वत का उदय होता है। इस क्रिया के कारणों के विषय में यद्यपि भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानों में मतभेद है तथापि उसके अस्तित्व को सभी स्वीकार करते हैं ? होम्स, वेगर आदि कई विद्वानों ने इस वैज्ञानिक क्रिया का समर्थन किया है।

भारतीय जल-प्लावन की कथा का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हुए कवि प्रसाद ने डॉ० ट्रिंकलर, होर्नसा आदि विद्वान् वैज्ञानिकों का मत उद्धृत किया है।[2] डॉ० ट्रिंकलर का अनुमान है कि बालुका में दबे हुए प्राचीन ध्वंसावशेषों के चिह्न स्वयं इसका प्रमाण हैं कि हिमालय और उसके प्रान्त में भी जल-प्लावन अथवा ओघ अवश्य हुआ होगा।[3] उसीकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए डॉ० वाडिया लिखते हैं :

'परमियन-काल से ही हिमालय और तिब्बत के समीप समुद्र की गन्दगी जमा हो रही थी। वह समुद्र-तल के ऊपर उठने से ऊँची हो गई। क्रमशः सागर विलीन हो गया और उसके स्थान पर संसार का महान् हिमालय पर्वत दृष्टिगोचर होने लगा।'[4]

इस भूगर्भ-क्रिया का समय ज़ाइनर चार करोड़ वर्ष पूर्व मानता है।[5] उस समय मानव का अस्तित्व भी नहीं था। इस तिथि के अनुसार जल-प्लावन का वर्णन कालान्तर में किया गया। उसके पूर्व केवल जातक-कथाओं के रूप में उसका प्रचलन रहा होगा। मानव-शास्त्र के विशेषज्ञ भी मानव की उत्पत्ति जल-प्लावन के काफी बाद मानते हैं। निस्सन्देह यह वर्णन कालान्तर का ही है, क्योंकि प्रस्तर-युग में मनुष्य इतना सभ्य नहीं था कि वह नौका आदि का निर्माण कर सकता। विज्ञान और इस कथा में कवि-साम्य स्थापित करना सम्भव नहीं।

इतिहास, गाथा और विज्ञान में एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास समय-समय पर किया गया है। भारतीय दर्शन की पौराणिक गाथाओं के अनेक चित्र आलंकारिक विधि से चित्रित किये गए हैं। जल से ही आदि-सृष्टि की कथा के विषय में 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में श्लोक इस प्रकार हैं :

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्ति सत्यं ब्रह्म
ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् ते देवाः सत्यमेवोपासते।[6]

आरम्भ में केवल जल-ही-जल था। जल से सत्य, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवता की उत्पति हुई। ये देवता सत्य की उपासना करते हैं। इसी प्रकार थेल्स भी जल से ही समस्त सृजन मानते हैं। इसके लिए वे किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते। विश्व-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त से भारतीय जल-प्लावन का ऐतिहासिक एवं पौराणिक स्वरूप किंचित्

---

१. Radioactivity and Surface History of Earth—by J. Jolly.
२. 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह'—प्रसाद का लेख-'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' पृष्ठ १६०
३. 'पायनियर'—१९ अक्तूबर १९२८.
४. 'Geology of India'—D. N. Wadia (1949) page 224.
५. 'Dating the past—Zeuner.'
६. 'बृहदारण्यक उपनिषद्' ५-५-१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्य रखता है। विश्वकर्मन् की कथा भी इसके निकट है। उन्होंने वृति का विनाश करके एक नवीन जाति को जन्म दिया था। विश्वकर्मन् ज्वालामुखी के देवता-रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसीके पश्चात् उन्होंने कश्यप को धरणी दान दी थी।[१] तिलक जी भी जल-प्लावन का प्रमुख कारण भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार ही मानते हैं। उनकी धारणा है कि कथा की प्रेरणा सम्भवतः सभीने एक ही स्थान से ग्रहण की।[२]

जल-प्लावन-कथा को धार्मिक ग्रन्थों के साथ ही काव्य में भी स्थान प्राप्त हुआ। प्राचीन काल में जीवन, धर्म और साहित्य में अधिक अन्तर नहीं था। भारत का समस्त वैदिक साहित्य, पौराणिक गाथा, उपनिषद् आदि जीवन की समस्या को सुलझाने के एक भावात्मक प्रयास हैं। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त जल-प्लावन की कथा अन्यान्य प्राचीन साहित्यों में भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से वर्णित है। होमर ने एक स्थान पर कहा है : **'सूर्य सागर के प्रवाह की ओर भागा जा रहा है। सागर, निर्झर, बावली सभी महासागर से निकले हैं, जो पृथ्वी को घेरे हुए हैं। हेलोइस अथवा सूर्य स्वर्ण-नौका में पश्चिम से पूर्व की ओर भागा जा रहा है।'** इसका तात्पर्य डाक्टर वारेन ने यही निकाला कि संसार जल से भरा हुआ है।[३]

भारतीय साहित्य में जल-प्लावन की कथा 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण', 'महाभारत' आदि अनेक स्थलों पर बिखरी हुई मिलती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार—'प्रातःकाल मनु के पास जल लाया गया। उसीमें एक मत्स्य भी था। वह बोला—"मनु, मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। जल-प्लावन में सभी-कुछ नष्ट हो जायगा, तब मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। मनु ने उससे उसकी रक्षा का उपाय पूछा। मत्स्य बोला—"जब तक हम शिशु रहते हैं, बड़े मत्स्य हमें खा जाते हैं। तुम क्रमशः पात्र, गढ़ा, नदी आदि में रखकर अन्त में मुझे सागर में फेंक देना।" यथासमय जल-प्लावन आया। मनु ने नौका को मत्स्य के सींग से बाँध दिया। तदनन्तर उसे एक वृक्ष से अटका दिया। जल-प्लावन शान्त हो जाने पर वे 'मनोरवसर्पण' स्थान में उतरे।[४] इस कथा की सत्यता पर विचार करते हुए तिलक ने स्पष्टीकरण किया है।[५]

'महाभारत' के वन पर्व में 'मत्स्योपाख्यान' की कथा मिलती है। विवस्वान् के पुत्र मनु ने विशाल पर्वत पर दस हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की। एक दिन चारिणी के तट पर एक मत्स्य ने आकर जीवन-रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे जल-पात्र, झील, महासरोवर आदि में रखकर अन्त में सागर में फेंक दिया। मत्स्य उसी समय बोला—'मनु! एक भीषण, प्रचंड प्रलय आने वाला है। इसमें चराचर सभी-कुछ नष्ट हो जायगा। तुम एक नौका में सप्तर्षियों के साथ रहकर मेरी प्रतीक्षा करना।' जल-प्लावन के समय धरणी पर जल-ही-जल हो गया। मत्स्य मनु की नौका को हिमालय पर्वत में 'नौबन्धन' तक ले गया।[६] 'महाभारत' के आगामी

---

१. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy—R. D. Ranade (1926) page 77.

२. 'Arctic Home in Vedas'—B.G. Tilak (1925)—Glacial period.

३. 'Paradise Found'—Dr. Warren (1893) Part V, Chapter V. page 250

४. **'शतपथ ब्राह्मण' (काण्वीय) भाग २, पृष्ठ १५०-१५१।**

५. 'Arctic Home in Vedas'—B. G. Tilak (1925) Page 387.

६. **'महाभारत' वनपर्व; मत्स्योपाख्यान।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंड में भी इसका सविस्तर वर्णन है।

'मत्स्य पुराण' का प्रारम्भ ही आदि-सृष्टि से होता है। 'मनु की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि वे प्रलय-काल में सम्पूर्ण जगत् की रक्षा कर सकेंगे।······ एक दिन जब मनु पितरों को अर्घ्य दे रहे थे, कमण्डलु के जल से एक शफरी गिर पड़ी। राजा ने उसे अनेक स्थलों पड़ रखा पर उसका आकार बढ़ता ही चला गया।' शेष कथा 'शतपथ' की ही भाँति है। यहाँ मत्स्य प्रलय का कारण बताता हुआ संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, बलाहक, विद्युत्पताका, शोण आदि सात प्रलयकालीन मेघों का वर्णन करता है।[1]

इसके अतिरिक्त 'आग्नेय पुराण' (प्रथम अध्याय), 'पद्म पुराण' (३६वाँ अध्याय), 'विष्णु पुराण' (५-१०; ६·३), 'भागवत पुराण' (८-२४; १२-८,६), 'स्कन्द पुराण' (वैष्णव-खण्ड—पुरुषोत्तम-माहात्म्य खण्ड दो), 'भविष्य पुराण' (प्रतिसर्ग पर्व-अध्याय ४), 'कालिका पुराण' (अध्याय २५,३४), 'वायु पुराण' (अध्याय ६, सृष्टि-प्रकरण) आदि में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। इनका संग्रह डॉ० सूर्यकान्त ने किया है। प्रायः इन सभी में 'शतपथ ब्राह्मण' की कथा की छाया है। पौराणिक गाथा होने के कारण उनमें किसी प्रकार के वैज्ञानिक सत्य का निरूपण सम्भव नहीं। कल्पना के आधार पर धार्मिक अभ्युत्थान का प्रतिपादन ही इनका लक्ष्य है।

वेदों में प्रत्यक्ष रूप से जल-प्लावन का वर्णन नहीं मिलता। किन्तु 'अपान्नपात्', 'अर्णव', 'शरदः शतम्', 'शतम् हियाः', 'ओघ' आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है।[2] यहाँ तक कि मण्डल दो का ३५वाँ सूक्त जल के देवता अपान्नपात् को ही समर्पित है। अथर्ववेद (१६-३६-७, ८) में 'नावप्रमशनम्' का प्रयोग हुआ है। 'रामायण' (काण्ड ४, अध्याय ४३, पद ३२) में भी इसी कथा का आभास प्राप्त होता है। इस प्रकार जल-प्लावन की घटना परोक्ष रूप से कई स्थलों पर चित्रित है। इसके अतिरिक्त 'ऋग्वेद' में 'अंधकारमय रजनी' का भी वर्णन है। उसका विस्तृत विवेचन तिलक जी की पुस्तक में मिलता है।[3] भारत की अनेक आदिम जातियों में भी इस कथा का प्रचलन है। वेदों में जल-प्लावन-कथा के प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने से कई विदेशी विद्वान् इस कथा को सेमेटिक भावना से अनुप्राणित और प्रभावित कहते हैं। किन्तु भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, मैकडानल ने भी इसे असत्य प्रमाणित किया है।[4]

ग्रीक-जल-प्लावन-कथा के दो रूप हैं। Dgygian deluge में Attica जलमय हो गया था। Deukalion flood का वर्णन एक सौ चालीस ईसवी वर्ष पूर्व Appollodorms ने अपनी पुस्तक Bibliotheca...I...VII—२ में किया है। उसके अनुसार Zeus ने अपने पिता की इच्छा-पूर्ति के लिए ताम्र-युग के व्यक्ति Deukalion का विनाश करना चाहा। अपनी रक्षा के हेतु deukalion ने एक कवच का निर्माण किया। उसीमें वह अपनी पत्नी Pyrrha को लेकर

१. 'मत्स्यपुराण'—प्रथम व द्वितीय अध्याय।
२. Original Sanskrit Texts-- 3rd Edition—Muir I Vol—Page 181-220
II Vol—Page 322-329.
ऋग्वेद—१-६४-१४, २-२७-१०, २-३३-२, २-३५,५-५४-१५, ६-४८-८, ७-३६-१६।
३. Arctic Home in Vedas—Tilak.
४. Vedic Mythology—Macdonell, page 139.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठ गया। Zeus ने भीषण जल-वृष्टि से समस्त पृथ्वी को डुबो दिया। सभी-कुछ नष्ट हो गया। वे दोनों अपने कवच में ही नौ दिन के पश्चात् Parnassus नामक स्थान पर पहुँचे। उस समय जल-प्लावन कुछ कम हो रहा था। यहाँ उन्होंने देवताओं के लिए अपने अंगरक्षक की बलि दी। प्रसन्न होकर Zeus ने उनकी इच्छा जानने का प्रयास किया। Deukalion बोला कि मुझे सन्तान की कामना है। इस पर पत्थर फेंके गए। जो Deukalion ने फेंके वे पुरुष और जो Pyrrha ने फेंके वे स्त्री हुए।[१]

'बाइबिल' में नूह जल का देवता है। अनायास ही एक दिन उसे सूचना मिलती है कि जीवन का विनाश करने के लिए पृथ्वी पर जल-प्लावन होगा। प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जायगी। (जेनेसिस, ६-१७) इसीके बाद पृथ्वी पर अपार जलराशि छा गई। समस्त पर्वत आदि उसी में विलीन हो गए। (जेनेसिस, ७-१६) सभी चराचर समाप्त हो गए। केवल नूह और उसके साथी नौका में बच रहे। (जेनेसिस, ७-२३) वह नौका अराकन पर्वत पर टिक जाती है। धीरे-धीरे दसवें मास के प्रथम दिवस में जल कम हो गया। पर्वत-श्रेणियाँ दिखाई देने लगीं। (जेनेसिस, ८-५) नूह ही जल-प्लावन-कथा का नायक है। उससे ही मानवता का विकास हुआ।[२] इसी कथा से अन्य कथाओं का भी सम्बन्ध है।[३]

बेबीलोनिया के साहित्य में जल-प्लावन की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उन सबका संग्रह परसी हैएडकाक ने 'बेबीलोनिया की जल-प्लावन-कथाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत लगभग १६२१ में किया था। प्रमुख कथा के अनुसार 'Berossus बेबीलोनिया में तीन सौ ईसवी पूर्व बेल का पुरोहित था। उसने प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर जल-प्लावन का वर्णन किया है।' उसने लिखा है कि 'Ardates की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र Xisuthros ने लगभग अठारह सर (१८×३६०० वर्ष) तक राज्य किया। उसी समय एक भीषण बाढ़ आई। राजा को स्वप्न में ही इसका आभास मिल गया था। समस्त भू-भाग के जलमय हो जाने पर भी वह अपनी नौका में ही बना रहा। जल का वेग कम होने पर उसने तीन बार पंछी उड़ाए। अन्तिम बार पंछी लौटकर नहीं आया, तभी Xisuthros ने समझ लिया कि अब जल-प्लावन कम हो चुका है और वह बाहर निकला। उसने तत्काल देवताओं को बलि दी तथा बेबीलोनिया का नव-निर्माण किया।'

इसके अतिरिक्त 'गिलगमेश' महाकाव्य में भी जल-प्लावन का सजीव चित्रण हुआ है। गिलगमेश ने उपनपीश्तम से बातें कीं। उसने रहस्यमय घटना का उल्लेख करते हुए बताया कि शूरिपाक (Shurippak) नामक नगर यूफ्रेट्स (Euphrates) के किनारे स्थित है। वहीं भीषण जल-प्लावन हुआ। Muir kukki ने जल-वृष्टि की। Adad ने विद्युत् को दौड़ा दिया। सातवें दिन वातावरण कुछ शान्त हुआ। तभी मानवता का विकास हुआ।[४] बेबीलोनिया और 'बाइबिल' की कथाओं में अनेक साम्य मिलते हैं।

---

१. Bibliotheca—Applodorms—I—VII—2
२. Bible of the World—Robert O. Bellon (1946) page 649.
३. The Riks—T. Paramsiva Iyer (1911) page 152.
४. Epic of Gilgamesh—Canto XI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहलवी ग्रंथों के अनुसार सृष्टि-सृजन के पूर्व एक पारस्परिक विवाह हो गया। आकाश, जल, वायु आदि से दानवों का संघर्ष हुआ।[1] फारसी के धार्मिक ग्रंथों में देवताओं ने विचार-विमर्श के अनन्तर यह निर्णय किया कि अपार शीत के साथ हिम-पात से एक भीषण बाढ़ लाई जाय। यीमा को संकेत कर दिया गया कि वह अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर ले। उसने यही किया।[2] सुमेरियन ग्रन्थों में Zi-u-Suddu ने स्वप्न में ही जल-प्लावन का संकेत पा लिया था। वही जल-प्लावन सात दिन तक रहा। परिनिपीश्तम् जल के बीच रहने वाले देवता थे। चीन में भी Shih राजा के समय में zu की बुद्धिमत्ता का वर्णन है।[3]

इस प्रकार जल-प्लावन की कथा प्राचीन जातियों के पुरातन ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। इनमें से सभी की वास्तविकता अथवा वैज्ञानिक आधार की पुष्टि सम्भव नहीं। धार्मिक आधार होने के कारण ये कथाएँ प्रायः इतिहास की दृष्टि से नहीं लिखी गईं। इनका लक्ष्य मानव का आध्यात्मिक विकास है।[4]

'कामायनी' की भूमिका से स्पष्ट है कि प्रसाद ने कथावस्तु का ग्रहण भारतीय ग्रन्थों से किया है। कल्पना का अधिकाधिक आश्रय उन्होंने लिया, क्योंकि वे 'कामायनी' को एक गाथा अथवा धार्मिक ग्रन्थ नहीं बना देना चाहते थे। मानवता का मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक चित्र प्रस्तुत करना ही उनका प्रतिपाद्य विषय था। 'डिवाइन कामेडी' के पौराणिक दोष 'कामायनी' में नहीं हैं। ऐतिहासिक आधार होते हुए भी कवि ने कल्पना के द्वारा नवीनतम विषयों को ग्रहण किया है।

'कामायनी' का आरम्भ ही जलमय पृथ्वी के वर्णन से होता है। इसके पूर्व की घटना छोड़ दी गई है। इसी अवसर पर 'एक पुरुष' के अस्तित्व का परिचय दिया गया है। हिमगिरि उतुङ्ग शिखर का वर्णन तो सभी में मिलता है। जिस 'एक तत्त्व की प्रधानता' का उल्लेख कवि ने किया है, वह जल और हिम के समीप है। जल और हिम दोनों में एक ही तत्त्व प्रमुख था। जड़ अथवा चेतन! जिस तपस्या का वर्णन 'मत्स्य पुराण' आदि में है, उसीका एक आभास 'तरुण तपस्वी' की साधना में मिल जाता है।[5] कवि ने इसी स्थल पर प्रथम पुरुष के पौरुष-मय स्वरूप का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। पौराणिक गाथाओं ने जिस दिव्य शक्ति और तेज से मनु को विभूषित किया है, उसे यहाँ स्थान नहीं दिया गया। 'कामायनी' का मनु पूर्ण मानव के रूप में सम्मुख आता है। मानव की सार्थकता इसी स्वतन्त्र चित्रण के कारण है। मनु जीवन की स्वाभाविक दुर्बलताओं से युद्ध करता हुआ ही परम लक्ष्य तक जाता है।

---

१. 'The sacred conflict was waged with water...........'

—The Bible of the World (1938) Page 628

२. Song Venidad—given by Ushar, translated by Geldner, Page 208.

३. Sacred book of China—Texts of Confucianism—Part 1st.

४. 'But the story of such a flood can neither be verified nor disproved historically. And consequently its value must lie in the moral and spiritual lessons it is designed to teach.'

—A New Standard Bible Dictionary (1926) Page 269.

५. 'कामायनी,'—'चिंता' सर्ग का आरंभिक अंश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि आज भी उसे देवत्व के मधुर स्वप्न याद आते हैं, किन्तु उसे बोध हो गया है कि वह अपूर्ण था। वह कहता है :

'भोले थे, हाँ तिरते केवल,
सब विलासिता के नद में,'

जलप्लावन के उतरने के साथ ही पृथ्वी बाहर निकलने लगी। 'एक पुरुष' की नौका महावट से बँधी है। आगे चलकर वह उत्तरगिरि के सिर से टकराती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी मनु की नौका 'उत्तरगिरेर्मनोरवसर्पण' में एक वृक्ष से बाँध दी गई थी।[१] यह उत्तरगिरि स्थान हिमालय में ही है। आगे चलकर 'इड़ा' सर्ग में वृत्रघ्नी (सरस्वती) का भी वर्णन आया है। इस जल-प्लावन-स्थान और मनु के नौकावरोहण के विषय में प्रसाद जी का विचार है कि—'मेरु और उसके पास ही उत्तरकुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रथों में मेरु के साथ ही उत्तरकुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों ही एक-दूसरे के निकट हैं। उत्तरकुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में पूर्वजों का पवित्र देश कहा गया है। 'भीष्म पर्व' में भी इसका विस्तृत वर्णन है। वहाँ के व्यक्ति शुक्ल वर्ण (गौर) अभिजातसम्पन्न, नीरोग और दीर्घजीवी होते थे।'[२] 'बृहत्संहिता' में भी कहा है :—

'उत्तरतः कैलासो हिमवान वसुमान गिरिर्धनुष्माँश्च
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च ॥ १४-२४ ॥

इस विषय में अविनाशचन्द्र दास जी का भी मत है कि—'सप्तसिन्धु उत्तर-पश्चिम की ओर गान्धार प्रान्त के द्वारा पश्चिमी एशिया अथवा एशिया माइनर से मिला हुआ था।'[३] इतिहास स्वयं इस सत्य का प्रमाण है कि प्राचीन आर्यावर्त की सीमा बड़ी दूर तक थी।

जल-प्लावन के समय चराचर का कोई भी चिह्न शेष नहीं रह गया था। इसे 'कामायनी' में 'वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी, पहचानी-सी' कहकर स्पष्ट किया गया है। इसी विकराल स्थिति के वर्णन के पश्चात् मनु के हृदय का झंझावात दिखाया गया है। यह मनोवैज्ञानिक है। साथ ही भारतीय दर्शन में मनु से मन का भी अर्थ लिया जाता है। इस स्थिति द्वारा ही प्रसाद जी देव-दानव की अपूर्णता बताकर मानव को सर्वोपरि बताते हैं। मनु की चिन्ता के मूल में 'एकोऽहम् बहु स्याम' का बीज निहित है। 'शतपथ' के इड़ा अंश को यहाँ छोड़ दिया गया है। किन्तु वही इड़ा अन्त में जाकर मनु से मिलती है।

मानसिक झंझावात के समाप्त होते ही 'एक पुरुष' प्रलय अथवा जल-प्लावन का दृश्य प्रथम बार अपनी आँखों से देखता है :

दिग्दाहों से धूम उठे या, जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।

---

१. अमीवरम् वैत्वावृत्तेनावं प्रति वंदनीय
'—शतपथ ब्राह्मण' (माध्वीय) ८-०

२. प्रसाद जी का लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'
—कोशोत्सव स्मारक संग्रह (सं० १९८५) पृष्ठ १६२

३. Avinash Chandra Das—Rigvedic India—Page 560.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निःश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास॥

'कामायनी' के इस जल-प्लावन-दृश्य का समर्थन तद्विषयक प्रायः सभी भारतीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'बाइबिल' के वर्णन में भी प्रकृति की यही स्थिति थी—'अन्धकार के स्वामी ने सन्ध्या-काल भीषण जल-वृष्टि की थी। सन-सन पवन, जल, झंझावात आदि पृथ्वी पर छा गए थे।'[1] 'गिलगमेश' महाकाव्य का चित्र यही है। 'मत्स्य पुराण' में कहा गया है, 'सारी पृथ्वी जल से आप्लावित होकर समुद्र में डूब जायगी।' वाडव ज्वाला, जलधि और झंझा का प्रयोग प्रसाद जी ने किया है। इस प्रकार 'कामायनी' का जल-प्लावन चित्र ऐतिहासिक तथा पौराणिक दृष्टि से सार्थक है।[2] इसी स्थल पर कवि ने मानवीय भावनाओं का भी निर्देश किया है। 'एक पुरुष' के 'भीगे नयन' थे, भीषण रव से धरती काँप रही थी, मानों आलिंगन के हेतु नील व्योम उतरा हो। उदधि अखिल धरा को डुबाकर 'मर्यादाहीन' हो गया था।

जिस नौका का वर्णन अन्य पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है, वह अमानवीय थी। उसे देवताओं ने दान दिया था, अथवा उस पर प्रलय का कोई प्रभाव न पड़ सकता था। 'कामायनी' की नाव में भी डाँड अथवा पतवार नहीं लगते। वह तरल तरंगों से उठ-गिरकर 'पगली' बारम्बार बहती है।

मनु की इस नौका को 'कामायनी' में महामत्स्य का एक चपेटा उत्तर-गिरि के सिरे से लाकर टकरा देता है। यह 'चपेटा' शब्द कवि की स्वतन्त्र कल्पना है। अन्यथा प्राचीन आख्यानों में वह मत्स्य के पंख में बँधकर हिमवान प्रदेश पर पहुँचती है।[3] इसी के पश्चात् 'एक पुरुष' पुनः जीवन की मरुमरीचिका पर विचार करने लगता है। आरम्भ का आन्तरिक झंझावात पुनः आरम्भ हो जाता है। यह एक स्वाभाविक क्रम है कि किसी घटना अथवा दृश्य से मानव की स्मृति और विचारणा सजीव हो उठती है। उसीके पश्चात् उसी स्थिति का वर्णन आता है :

पवन पी रहा था शब्दों को, निर्जनता की उखड़ी सांस।
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि, बनी हिमशिलाओं के पास॥

यहीं एक स्थान पर 'तिमिंगिल्ल' का प्रयोग हुआ है। तिमिंगिल बड़ा मत्स्य है, जो छोटों को खा जाता है। मनु से शफरी ने इसी से रक्षा करने की प्रार्थना की थी।[4]

इस प्रकार 'चिन्ता' सर्ग में जल-प्लावन का वर्णन हुआ है। एक पुरुष, हिमगिरि, नौका, प्रलय, प्रकृति आदि का चित्र 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण' आदि भारतीय ग्रन्थों के समीप है।

जल-प्लावन के पश्चात् ही 'आशा' में सृष्टि के नव-विकास का उदय होता है :

---

१. The appointed time arrived. The ruler of darkness at eventide sent a heavy rain......The wind blew, the Flood, the tempest overwhelmed the land—Epic of gilgamesh, canto XI.

२. 'कामायनी' की भूमिका—"इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा सृष्टि हुई है।"

३. ......तस्य नावः पाशं शृङ्गे प्रतिमुमोच तेन हैतमुत्तरं गिरिमभिदुद्राव
शतपथ ब्राह्मण ८-१-३।

४. शतपथ, महाभारत वन पर्व—मत्स्योपाख्यान आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उषा सुनहले तीर बरसती, जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।

यही पुनरुत्थान सभी जल-प्लावन-कथाओं में मिलता है। प्रलय शान्त हो जाती है और नवीन मानवता जन्म लेती है। यहीं पर मनु को जीवन के प्रति मोह उत्पन्न होता है। वे नभ के गानों में शाश्वत रहना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के मनु को भी इड़ा प्रलय के पश्चात् ही मिल जाती है। क्या उन्हींसे मानवता का जन्म होता है।[1] 'बाइबिल' में भी नूह को भावी सृष्टि के विकास का वरदान मिला था। इस विषय में सभी कथाएँ एकमत हैं कि शेष व्यक्ति ही से मानवता का विकास होता है। प्रसाद ने 'आशा' में ही भावी मानवता के प्रति एक सूक्ष्म संकेत कर दिया है। यहीं पर प्रथम बार वे 'एक पुरुष' को मनु की संज्ञा देते हुए कहते हैं :

'देखा मनु ने वह अति रंजित, विजन विश्व का नव एकान्त'

'प्रहर दिवस कितने बीते' से प्रलय-काल का निर्णय प्रसादजी ने कर दिया है।

'कामायनी' के आरम्भिक मनु केवल इसी कारण यज्ञ करते हैं कि 'क्या आश्चर्य है, और कोई जीवन-लीला रचे हुए हो।' वे अवशिष्ट अन्न कहीं कुछ दूर पर रख आते थे। उन्हें इसमें सहज सुख मिलता था कि इससे कोई अपरिचित तृप्त होगा। यह कामना 'शतपथ ब्राह्मण' के इड़ा-उत्पत्ति-कारण से सम्बन्ध रखती है। अन्त में 'श्रद्धा' सर्ग में सृष्टि का यह विधान पूर्ण हो जाता है।

प्राचीन आलेखों के अनुसार प्रलय के दो स्वरूप हैं—प्रलय और महाप्रलय। शैव-दर्शन के अनुसार महाप्रलय की दशा में आणव, कर्म आदि नष्ट हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। यहाँ कर्म का प्रयोग अतिशय व्यापक अर्थ में किया गया है। नैयायिक और वेदान्तवादी इसे नहीं मानते।[2] प्रलय में आत्मा कर्मानुसार एक निद्रा (सुषुप्ति) में निमग्न हो जाती है। सांख्य के अनुसार सत्व, रजस्, तमस् गुण समान स्थिति में आ जाते हैं। किन्तु वैशेषिकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु परमाणु में परिवर्तित हो जाती है।[3] प्रलय की दशा में जो कर्म सो जाता है, वही जाग्रति में सृष्टि का सृजन करता है। किन्तु महाप्रलय के पश्चात् निर्माण सम्भव नहीं। इस दृष्टि से 'कामायनी' की जल-प्रलय साधारण प्रलय है। तभी कर्म से नवीन मानवता का विकास हो सका।

'कामायनी' के प्लावन-वर्णन में आये हुए मनु प्राचीन आलेखों में वर्णित मनु के प्रतिरूप हैं, यह प्रश्न भी विचारणीय है। प्रलय के पश्चात् बच रहने वाले और नये सिरे से सृष्टि का विकास करने वाले मनु के भारतीय जनश्रुति में कई रूप मिलते हैं। वेद मनु को कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में स्वीकार करते हैं। वे यज्ञ करते हैं तथा प्रथम अग्निहोत्र को प्रज्वलित करते हैं।[4] वे 'विश्वदेव' हैं। ऋग्वेद में कहा गया है :

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनु समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये ॥ १०-६३-७

---

१. तद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान्—शतपथ-८-१-७
२. 'वेदान्त सूत्र'—शांकर-भाष्य—४०७
३. K. C. Pande—Abhinavagupta, 1935, Page 231.
४. ऋग्वेद—१-४४-११; ३-३४-३; १०-६३-१५.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये 'श्राद्धदेव' मनु मानवता के जन्मदाता भी हैं। पुराणों में वैवस्वत मनु का आख्यान मिलता है। 'शिव', 'हरिवंश', 'श्रीमद्भागवत', 'देवी भागवत' आदि में इनकी चर्चा है। 'मनुस्मृति' के मनु ऋषि, जन्मदाता और नियामक भी हैं। 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग तांड्य, ब्राह्मण आदि में भी मिलता है। 'महाभारत' के मनु भी प्रजा का पथ-प्रदर्शन करते हैं। मनु का वर्णन प्रायः सभी भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में किसी-न-किसी रूप में मिलता है। उनके समन्वय से हम जन्मदाता, पालनकर्ता, रक्षक और आदि पुरुष का रूप सहज ही पा सकते हैं। प्रलयकालीन मनु का इन सभी से साम्य स्थापित हो जाता है, क्योंकि वे ही सृष्टि का नव-सृजन करते हैं।[1]

'कामायनी' में मनु के चरित्र के कई रूप मिलते हैं। प्रलयकालीन मनु का स्वरूप 'शतपथ ब्राह्मण' आदि ग्रन्थों में प्राप्त हो जाता है। इसीके अनन्तर वे कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। मनु का यह रूप वैदिक कर्मकाण्डी मनु के अधिक समीप है। वे आदि-पुरुष हैं और ज्वलित अग्नि के पास बैठकर मनन किया करते थे। उनकी साधना तपस्वी की भाँति है।

इसीके पश्चात् मनु और श्रद्धा का मिलन होता है। श्रद्धा मनु को भावी मानवता के लिए कर्म में नियोजित करती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के 'श्रद्धादेवौ वै मनुः' सातवें मन्वन्तर ही हैं, इसकी कोई पुष्टि नहीं। 'भागवत पुराण' में वर्णन आता है :

ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञयापयामास भारत।
श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् सआत्मवान॥

यद्यपि एक-दो स्थलों पर अपवाद भी हैं, तथापि मनु प्रायः श्रद्धा के पति रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। इड़ा के साथ उनके सम्बन्ध की पुष्टि करने के लिए 'कामायनी' के मनु को 'शतपथ' के निकट ही रखना होगा। श्रद्धा और इड़ा वहाँ लगभग बहनें ही हैं।[2]

'कर्म' सर्ग में मनु की हिंसात्मक प्रवृत्ति जाग उठती है। किलात-आकुलि के साथ वे पशु-बलि करते हैं। अन्य पौराणिक गाथाओं में मनु को इतना नीचे नहीं गिराया गया जितना 'कामायनी' में। 'शतपथ ब्राह्मण' में अवश्य वे इड़ा के साथ व्यभिचार करना चाहते हैं। 'कामायनी' के मनु सोम का प्रयोग करते हैं। उनके कर्म का क्षेत्र ही परिवर्तित हो जाता है। 'ईर्ष्या' सर्ग में मनु मृगया में व्यस्त पुत्र से ही ईर्ष्या करने लगते हैं। अन्त में श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं। यह कवि की कल्पना है। उसने मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को अंकित करने के लिए ही ऐसा किया है। प्राचीन ग्रन्थों की भाँति ही 'कामायनी' के मनु से सृष्टि का विकास होता है।[3]

मनु 'इड़ा' सर्ग में पश्चाताप करते हैं। उनका आन्तरिक झंझावात प्रबल हो उठता है। यहीं काम के शाप में कवि ने आधुनिक दुर्दशा का चित्रण किया है। इड़ा का मिलन मनु को प्रजापति बना देता है। मनु का यह स्वरूप मनुस्मृति की भाँति है। 'शतपथ' और 'ऋग्वेद' दोनों की इड़ा इस स्थल पर आकर उपस्थित हुई हैं। 'ऋग्वेद' के अनुसार इड़ा मनुष्यों पर शासन करती है।[4] यहाँ भी मनु उसके बुद्धिवाद के सम्मुख समर्पण करते हैं। 'स्वप्न' सर्ग में मनु

१. P. Thomos—Epics, Myths and Legends of India—Ist chapter.
२. शतपथ ब्राह्मण ११-२७-२०।
३. The human race was renewed through Manu. M. Winternitz—A History of Indian Literature (1927) Vol. I, Page 210.
४. ऋग्वेद—१-३१-११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमों का उल्लंघन करके इड़ा का आलिंगन करना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में तो इस अपराध के लिए देवताओं ने केवल शाप दिया था, किन्तु यहाँ समस्त प्रजा ही विद्रोह कर उठती है।

मनु का अन्तिम रूप श्रद्धा की सहायता से आनन्द का सृजन है। इस स्थल पर वे श्रद्धादेव, श्राद्धदेव तथा सफल प्रजापति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। यही नहीं प्रसादजी ने उन्हें वेदों के ऋषि के रूप में चित्रित कर दिया है, जिनके दर्शन से मानवता का सारा श्रम दूर हो जाता है। 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' के मनु आत्मवादी, आनन्दवादी इन्द्र की भाँति हैं। इस प्रकार 'कामायनी' के मनु भारतीय ग्रन्थों से अनुप्राणित कवि की कल्पना के सफल मानव हैं। उनका सम्बन्ध जल-प्लावन से लेकर मानवता के विकास तक है।

'कामायनी' का जल-प्लावन भारतीय आधार पर होते हुए भी सार्वभौमिक हो गया है। पौराणिक पक्ष का परित्याग कर देने से वह वैज्ञानिक दृष्टि से भी सार्थक है। जल-प्लावन के इन मूल स्रोतों से कवि का परिचय अनुमित होता है। भारतीय कथानक को लेकर प्रसादजी ने 'कामायनी' में भावी मानवता का निरूपण किया है। यही कारण है कि 'चिन्ता' का विक्षुब्ध प्रलयकालीन मनु आनन्दवाद तक चला जाता है—और यही जीवन का चरम लक्ष्य है।[1]

१. इस लेख के 'क' भाग के लेखक श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव तथा 'ख' भाग के लेखक डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड

काव्य-सृजन और काव्यालोचन एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं और सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्णतया समझने के लिए इन दोनों के गम्भीरतम स्रोतों को समझ लेना अनिवार्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रसानुभव अथवा रस-ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय श्रोता अथवा रसज्ञ को एक केन्द्र-बिन्दु पर लाने का प्रयत्न किया गया है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सहृदय अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर रस का मानस – आस्वादन करता है। वह अपनी दैनन्दिन अनुभूतियों को पीछे छोड़ देता है और भावना तथा अनुभूति की एक असामान्य, उदात्त और तटस्थ स्थिति को ग्रहण कर लेता है। रस के अलौकिकत्व को हमें इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में ढूँढ़ना होगा। रसानुभूति मन की आनन्दमयी प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में पाठक ऐसे भाव-लोक में पहुँच जाता है कि वह स्वयं अपने को और अपनी भौतिक स्थिति को भूलकर एक अतीन्द्रिय स्वप्न में विचरण करने लगता है। जिस अतीन्द्रिय आनन्द का उसे अनुभव होता है उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। उसका अपना वैयक्तिक अस्तित्व तिरोभूत हो जाता है और वह चेतना के ऐसे स्तरों में प्रवेश करता है जहाँ उसकी अपनी चेतना सार्वभौम चेतना का अंश बन जाती है। व्यंजना के द्वारा इस व्यापक रसानुभूति की कल्पना भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की सबसे ऊँची उड़ान है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि काव्य का पाठक या श्रोता सहृदय हो, उसमें ऐसे संस्कार हों जिनसे वह कला-कृति से पूर्ण रूप से संयोजित हो सके और उसकी अभिरुचि परिमार्जित हो।

परन्तु हमारे काव्य-शास्त्री 'रस' पर रुक जाते हैं। वह काव्य-सृजन की प्रकृति और उसके विभिन्न स्तरों की खोज नहीं करते। भारतीय साहित्य में कवि-प्रतिभा और कवि-व्यापार की विवेचना अवश्य मिलती है; परन्तु रस, ध्वनि, अलंकार, नायिका-भेद, छन्द-शास्त्र और इन विभिन्न काव्यांगों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही अधिक लिखा गया है। पश्चिम में काव्य-सृजन की प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व को कृति से संयोजित करके काव्य-विवेचन के लिए एक नया मार्ग ही अन्वेषित हो गया है।

पण्डितों ने काव्य-सृजन का मूल स्रोत प्रतिभा को माना है। प्रतिभा का अर्थ है वह कल्पना-शक्ति, वह अन्तर्दृष्टि, जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तु-स्थिति और संयोजना में अपने वैयक्तिक और आकर्षक ढंग से किसी मूर्त वस्तु, परिस्थिति, घटना, विचार अथवा भावोद्रेक की स्थापना करता है। कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, विविध और अदमनीय चेतना ही काव्य के रूप में मूर्तिमान होती है। उसकी स्वतन्त्र और सर्वोपरि सत्ता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। वास्तव में उसे शब्दों में पूर्णतया बाँधना कठिन है, इसीसे पूर्वजों ने उसे लोकोत्तर अथवा वरदान के रूप में माना है। अपने यहाँ वाग्देवी की कल्पना की गई है और काव्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य को उसीका प्रसार बतलाया है। कवि-प्रतिभा के इस लोकोत्तर रूप के समर्थक कवि को माध्यम-मात्र मानते हैं।

परन्तु क्या कवि-प्रतिभा सचमुच लोकोत्तर है? क्या कहीं कवि के बाहर उसका अस्तित्व है? सृजन के क्षण इतने स्फूर्ति-प्राण, केन्द्रीभूत और आनन्दमय होते हैं, उस समय कवि नाम के प्राणी में भौतिक (शारीरिक) और स्नायविक चेतना कुछ इतनी नवीन और वैयक्तिक होती है और उन सृजन के क्षणों का फल कवि की कृति ऐसी अद्भुत है कि उसे और कुछ न कहकर लोकोत्तर कह दिया जाता है। काव्य-सृजन साधारण पाठक के लिए विस्मय की ही वस्तु है, अतः रूपक-रूप में उसे लोकोत्तर कहें तो कुछ भी अनुचित नहीं है। साधारण मनुष्य की प्रतिक्षण की काम-काजी अनुभूति से यह इतनी भिन्न है कि उसे विचक्षण ही कहा जा सकता है। परन्तु मनोविज्ञान की नई खोजों से यह स्पष्ट है कि इस अनुभूति में दैवी कुछ भी नहीं है।

काव्य-सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है; जिसमें भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्त्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुम्फित हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संलिश्ष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्त्व भी मिले होते हैं। अभि-व्यंजना काव्य-सृजन का ही एक अंग है। काव्य-प्रेरणा के भावुक क्षणों में कवि की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, उसकी निर्मात्री प्रतिभा उद्दीप्त हो उठती है, उसकी अन्तर्दृष्टि के विस्तार के साथ उसकी कल्पना-शक्ति दुःसाहसी बन जाती है और पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्रकृति-वैभव उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। कवि की अन्तश्चेतना के अनेक अदृश्य स्रोत उन्मुक्त हो जाते हैं और उसकी पूर्व स्मृतियाँ और पूर्वानुभूतियाँ उसके मन को नई मूर्तियों, नये अप्रस्तुत विधानों, नये नाद-स्वरों, नये अर्थों, नई लयों और नये संकेतों से भर देती हैं। कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में जिन तत्त्वों ने भाग लिया है, वे सब—उसके घृणा-द्वेष, उसका सूक्ष्म चिन्तन और उसकी चुहलें—एक ऐसी कला-कृति को जन्म देते हैं, जो कवि को भी अपने व्यक्तित्व से भिन्न एकदम नई लगती है। संक्षेप में, कवि के मन का सौन्दर्य उसके अपने अस्तित्व से स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण कर लेता है।

यह प्रक्रिया एक साथ सौन्दर्यनिष्ठ, सृजनात्मक और व्यवहारात्मक अर्थात् टेकनिकल है। इसका आरम्भ, मध्य और अन्त सुनिश्चित है। आरम्भ को हम प्रेरणा कह सकते हैं। इस अवस्था में कवि—कलाकार किसी माध्यम के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है। दूसरी अवस्था में वह अभिव्यंजना-कला की ओर विशेष जागरूक रहता है और अन्त में वह निश्चित कला-कृति के निर्माण में समर्थ हो जाता है। यह सारी सृजनात्मक प्रक्रिया एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है। परन्तु कला-कृति पूर्ण होने पर भी अपने बाहर प्रसारित होती है। कलाकार भी मनुष्य है, साधारण प्राणी है और वह भी अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उसका माध्यम हैं शब्द, जिनके पीछे अर्थों, भावनात्मक सम्बन्धों, ऐतिहासिक प्रकरणों, सन्दर्भों और भंगिमाओं एवं दृष्टि-कोणों की एक विस्तृत भूमि है। फलस्वरूप जिन शब्दों का प्रयोग कवि अपनी अनुभूति की पूर्णतम व्यंजना के लिए करता है, वही दूसरे के लिए विशेष अर्थ देने में भी समर्थ होते हैं। इस प्रकार सृजन के द्वारा कवि आत्माभिव्यंजना में ही समर्थ नहीं होता, वह पर-बोधक भी बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि का पूरा व्यक्तित्व सृजन में डूब जाता है, माध्यम का उपयोग और उसकी सम्भावनाएँ उसे अद्भुत आनन्द से भर देती हैं और जब वह इस प्रक्रिया से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफल होता है तो उसकी सारी अनुभूति ही कला-कृति का रूप ग्रहण कर लेती है। कुछ भी अवशिष्ट नहीं बचता। परंतु फिर भी उस कला-कृति को एक ओर उसके मूल स्रोत, उसकी पृष्ठभूमि और उसकी सर्जन-प्रक्रिया से और दूसरी ओर उसके साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित किया जा सकता है। हम उसे परम्परा से आबद्ध कर सकते हैं, अथवा परम्परा की दी हुई उसकी चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। या तो हम उस रचना से आनन्द ग्रहण कर सकते हैं, या उसके गुण-दोषों को उन्मुक्त कर सकते हैं। इस तरह कला-कृति के एक ओर कवि है, दूसरी ओर जागरूक सहृदय पाठक या आलोचक।

कला-कृति का विश्लेषण करते हुए भी हमें पहले कवि की प्रतिभा, उसके रूप, उसकी स्फूर्ति के सम्बन्ध में विचार करना होता है। क्यों प्रतिभा विशेष अवसर पर विशेष प्रकार से क्रियाशील होती है, क्यों वह सदैव क्रियाशील नहीं रहती, क्यों विशेष कवियों और कलाकारों का व्यक्तित्व सदैव प्रवहमान रहता है, जड़ीभूत नहीं हो जाता—ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना आज कुछ कठिन है। हमारे देश में प्रतिभा को संस्कार अथवा वासना की उपज माना गया है और उसको पूर्व जन्मों से सम्बन्धित किया गया है। परन्तु क्या हम आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इस सृजनात्मक प्रतिभा की व्याख्या नहीं कर सकते? प्रत्येक प्राणी में सर्जनात्मक स्फूर्ति का निवास है। इसका एक रूप प्रजनन है। क्या रस इसी प्रकार की कोई सर्जनात्मक स्फूर्ति नहीं है? सामान्य मनुष्य को कला-कृति से जो रसानुभूति मिलती है, वह क्या इससे नितान्त भिन्न है?

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के मन को दो भागों में बाँट दिया है—चेतन और अवचेतन। फ्राइड का कहना है कि चेतन मन अक्रियाशील है, अवचेतन मन विशेष क्रियाशील है। मनुष्य की चेतन क्रियाओं के भीतरी तल में अवचेतन की प्रेरणाओं, स्फूर्तियों और क्रियाओं का ही विस्फोट है। प्रतिभाशाली कवि और कलाकार भी सामान्य मनुष्य है यद्यपि उसे विशेष सर्जन-शक्ति प्राप्त है। उसके परिवेष्टन के तत्त्व अर्थात् उसकी आवश्यकताएँ, स्फूर्तियाँ, सीमाएँ, परिस्थितियाँ इत्यादि उसकी अभिरुचि के निर्माण में भाग लेते हैं। उसका अपना परिवार रहता है और इस परिवार की जातिगत अथवा वर्गगत एवं स्थानीय कुछ विशेषताएँ रहती हैं। उसकी प्रतिक्रिया, उसका ज्ञान, उसका विशेषत्व, उसका व्यवहार और जीवन-दर्शन सब निश्चित रहता है। इसमें से अधिकांश के पीछे उसका वैयक्तिक अथवा समाजगत इतिहास रहता है। यह परिवेष्टन ही उसके मन को गढ़ता है। फिर उसकी शिक्षा दीक्षा, उसका अध्ययन, उसके ज्ञात-अज्ञात निरोध उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। कवि-कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी कला-कृति को विशिष्टता प्रदान करता है।

परन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ है, जो कलाकार अपने परिवेष्टन से ग्रहण करता है। उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर अथवा उसके उपचेतन और अवचेतन मन पर अज्ञान, स्मृति, करण-कारण-सम्बन्ध, भाव-भंगिमा (दृष्टिकोण), व्यवहार और अनुभूति की अनेकानेक छापें छिपी या उभरी रहती हैं। ये कवि की अन्तःप्रेरणा के अदृश्य स्रोत हैं। ये जातिगत या सार्वभौमिक तत्त्व एक अव्यक्त सत्त्व के रूप में कलाकार के व्यक्तित्व में सदैव अन्तर्हित रहते हैं। कवि के अन्तर्जगत् का यह भाग साधारणतः सुषुप्ति की अवस्था में रहता है, परन्तु जब वह एक बार जाग्रत हो जाता है तो वह कवि को अदमनीय स्फूर्ति से भर देता है और उसकी कल्पना में ऐसे तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं, जिनका उसे आभास भी नहीं होता या जो सामान्यतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके ज्ञान, व्यवहार और चिन्तन के विषय नहीं होते। सर्जन के क्षणों में कवि–कलाकार इन्हीं अदृश्य स्रोतों में डुबकी लगाता है। इससे वह अपने व्यक्तिगत बन्धनों से मुक्ति पा जाता है और निर्बन्ध, उन्मुक्त जीवन-चेतना उसकी अनुभूति को नया रूप देने से समर्थ होती है। उसकी कल्पना निर्बाध गति से बहने लगती है। 'निर्झरेर स्वप्नभंग' नाम की कविता में श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर ने जिस स्वच्छन्द, निर्द्वन्द जागृति का चित्रण किया है कुछ उसी प्रकार की जागरण-स्फूर्ति कवि को पकड़ लेती है। यही अद्भुत विस्फोट कवि की अशरीरी सर्जन-प्रतिभा को काव्य-शरीर देता है। इन क्षणों में कवि का पुनर्जन्म होता है—उसकी चारित्रिक परिसीमा टूट जाती है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही क्रियमाण हो उठता है। इस अवस्था में कल्पना, तथ्य, गीति, लक्षणा के तत्त्व एक परिपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र में बँधकर नई कला-कृति के अविच्छिन्न अंग बन जाते हैं। सर्जन के अन्त में संसार को जो नई भेंट मिलती है, वह कवि का मानस-पुत्र होने पर भी उसके अपने व्यक्तित्व से बहुत-कुछ भिन्न होती है। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। जिस अवस्था में यह सर्जन-प्रक्रिया गतिमान रहती है उसे परिपूर्ण समाधि की अवस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में ध्येता और ध्येय में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। यदि समाधि शिथिल है तो रचना में आत्मचेतन, शैथिल्य और असन्तुलन रहता है। निस्सन्देह सर्जन के क्षणों में कवि भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र में तटस्थ बन जाता है। उसकी इसी स्थिति को हम 'लोकोत्तर' कह सकते हैं।

यह सर्जन कला-कृति का एक छोर है। दूसरा छोर है उसके सौन्दर्य का उद्घाटन, उसका अनुभव, कला-कृति के अर्थों की व्याख्या और उसका मूल्य-निर्धारण। यह आलोचना का क्षेत्र है। श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए शिक्षा, अनुभूति, सहवेदन, कला-निष्ठा, जीवन और साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, नई प्रतिभा को पहचानने की शक्ति और नये मूल्य-निर्धारण का साहस अपेक्षित हैं। समीक्षक की स्थापनाएँ उसकी अभिरुचि की उच्चता और विशिष्टता पर निर्भर रहती हैं और उसके निर्माण में वे कलागत मूल्य सहायक होते हैं जिन्हें वह मापदण्ड बनाकर चलता है। श्रेष्ठ समीक्षक जब किसी कला-कृति की विवेचना करता है तब वह कला-कृति सामाजिक तत्त्व बन जाती है। उसे उस कला-कृति तक अनेक प्रकार से पहुँचना होता है। कला-कृति के पीछे जो जीवन-सन्देश या तथ्य-स्थापना है, उसमें कलाकार का जो स्वप्न मूर्तिमान हुआ है, उसमें अभिव्यंजना के जिन नये साधनों का उसने प्रयोग किया है और इन विभिन्न उपकरणों में वह जिस प्रकार सन्तुलन स्थापित करने में समर्थ हुआ है—ये समीक्षक के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इसके अतिरिक्त वह विशेष कृति की अन्य समान कृतियों से तुलना करता है, उसे नये-पुराने मूल्यों पर परखता है, उसे वर्गनिष्ठ करता है अथवा युग और परम्परा से सम्बन्धित करता है। कला-कृति का रसास्वादन यदि महत्त्वपूर्ण वस्तु है तो उसका मूल्य-निर्धारण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि समीक्षक अपने क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी हो, वह पक्षपात-रहित हो, कला-कृति में वह अपने अर्थों की स्थापना न करे। ऐसे निष्पक्ष अधिकारी समीक्षक ही कला-कृति को नया संवेदन देने में समर्थ हो सकते हैं।

कला के मानों और समीक्षक के मूल्य-निर्धारण में सार्वभौमिकता हो, यह आवश्यक नहीं है। यह सम्भव भी नहीं है। प्रत्येक युग अपने साहित्यिक दाय के परखने के लिए नये मानों का निर्माण करता है। प्रत्येक नये युग का अपना दृष्टिकोण, अपना स्वप्न, अपना पहलू होता है। फलतः किसी एक श्रेष्ठ कला-कृति के चारों ओर समीक्षा के अनेक परत जम जाते हैं। यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, सैद्धान्तिक समीक्षा भी सदैव अपरिवर्तनशील नहीं रहती। कला के जन्म, उसकी प्रकृति, उसके प्रकार, उसके माध्यम और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति आदि के सम्बन्ध में भी विचार बदलते रहते हैं। परन्तु बदलते हुए मानों और विचारों से श्रेष्ठ कला-कृतियों को हानि नहीं पहुँचती। श्रेष्ठ कला-कृतियाँ जड़ नहीं होतीं। वह जीवन और चेतना से ओत-प्रोत रहती हैं। उनका अपना इतिहास बन जाता है। प्रत्येक युग में उनका सौन्दर्य वृद्धिमान हो जाता है और प्रत्येक नया युग उनमें नया जीवन-सन्देश ढूँढ़ लेता है। काव्य-समीक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह कला-कृति के इस प्रवहमान सत्य को अपने युग की वाणी दे। कलाकार के मन की प्रारम्भिक अस्पष्ट रसानुभूति से लेकर परिपूर्ण कला-कृति तक का बृहद् क्षेत्र उसके लिए दर्पण की तरह उज्ज्वल होना चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि कला-कृति का सौन्दर्यात्मक, रचनात्मक, कलात्मक और समीक्षात्मक मूल्यांकन वस्तुतः उसके अर्थ, सौन्दर्य और रूप का प्रसार-मात्र है।

वस्तुतः कला-कृति को कई कोणों से देखा जा सकता है। कलाकार के लिए वह उसके व्यक्तिगत जीवन का एक अंश, उसका एक अविभाज्य अनुभव, उसके मानस का एक अखण्डित अंग है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को उसमें मन की विभिन्न प्रक्रियाओं का संयोजन महत्त्वपूर्ण जान पड़ेगा। साहित्यिक, सहृदय या समीक्षक के लिए वह वाणी का एक विशिष्ट प्रयोग है और उसकी सफलता-असफलता को वह रस, अलंकार, छन्द, गुण, वृत्ति और ध्वनि की कसौटी पर आँकता है। समाज-विज्ञानी उसमें सामाजिक चेतना देखता है अथवा उसे समसामयिक जीवन से सम्बन्धित करता है। वह वर्ग-प्रेरणा को साहित्य-प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्व देता है। उसके लिए कलाकार और उसकी कला-कृति परिवेष्टन से बाहर की उपज नहीं है और इस परिवेष्टन में कभी-कभी मानव-जाति का सारा विकास सिमट आता है। समीक्षक की दृष्टि से वह ऐसा केन्द्र विन्दु है, जो उसे नये तथ्यों की ओर उन्मुख करता है अथवा पुराने तथ्यों और अभिरुचियों के लिए कंचन-कसौटी का काम करता है। इन सब दृष्टिकोणों से स्वतन्त्र भी कलाकृति का अस्तित्व है। उसमें एक अति भावुक, प्रबुद्ध, जागरूक आत्मा का संवेदन आलेखित है। वह स्वयं एक विशिष्ट इकाई है।

फलतः काव्यालोचन के लिए किसी विशेष दृष्टिकोण का आग्रह वांछनीय नहीं है। उसमें काव्य-सृजन की प्राथमिक अनुभूति से लेकर कवि के व्यक्तित्व, रचना के साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष, उसके सामाजिक परिवेष्टन, उसकी ऐतिहासिक और मूल्यगत विशेषता और उसकी युग-निष्ठा तक सब-कुछ ग्राह्य है। एक तरह से वह कवि के मन का पुनर्निर्माण है। साहित्य-समीक्षा में रचना के विविध शास्त्रीय उपकरणों को विश्लेषित और संश्लेषित किया जाता है, परन्तु यह वस्तुतः कृति के आलोचन का एक अंग-मात्र है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा से बाहर जायँ और रचना में साहित्यकार की मनःप्रवृत्ति, उसकी वर्ग-चेतना और युग-धर्म का प्रतिबिम्ब खोजें और उसे परम्परा और परिवेष्टन से पूर्णतया सम्बन्धित करते हुए भी उसमें कवि की स्वतन्त्र, उदात्त और मौलिक स्फूर्ति की स्थापना करें। परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम नये-नये 'वादों' में कृति के साहित्यिक सौन्दर्य को खो न दें और हमारे लिए कवि का भौतिक परिवेष्टन ही सब-कुछ न हो जाय। प्रत्येक क्षेत्र की तरह समीक्षा के क्षेत्र में भी सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर एजाज़हुसेन

उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना

उर्दू के जन्म के पूर्व और शताब्दियों बाद भी हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का वह दृष्टिकोण नहीं था जिसको आज दुनिया राष्ट्रीय जीवन समझती है। स्वयं यूरोप में राष्ट्रीयता की आधुनिक कल्पना १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मानी जाती है। इसकी नींव कुछ पहले पड़ चुकी थी, लेकिन राष्ट्रीयता की इस नई कल्पना को फ्रान्सीसी क्रान्ति से शक्तिशाली सहारा मिला। उसके स्वरूप के लिए किसी देश की जनता का, एक उद्देश्य के साथ एक केन्द्र पर एकत्र होकर शासन-प्रबन्ध के लिए सक्रिय क़दम उठाना आवश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त और दूसरी शर्तें भी राष्ट्रीय कल्पना के लिए आवश्यक समझी गईं, जिनसे सम्प्रति हमारा कोई प्रयोजन नहीं। कहना तो केवल यह है कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता की वर्तमान कल्पना उस समय प्रस्तुत न थी, जब उर्दू-साहित्य की उत्पत्ति हुई। उस समय राष्ट्रीय भावना के लिए स्वदेश-प्रेम बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। एक हिन्दुस्तानी के लिए हिन्दुस्तान से प्रेम रखना, यहाँ की ऋतुओं, दृश्यों, फल-फूलों आदि में दिलचस्पी लेना, यहाँ के लोगों को प्यार करना, यहाँ की भाषाओं को अपनाना और इसी प्रकार की कुछ दूसरी मान्यताएँ थीं, जिन्हें हम उस समय की राष्ट्रीयता के तत्त्व मानकर उर्दू की जाँच-पड़ताल करना चाहते हैं।

उर्दू की उत्पत्ति और उसके विकास के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए यह अनुभव होता है कि जब बाहर से आने वाले मुसलमान यहाँ आये और आकर बस गए तो उनको लोगों से मिलने-जुलने और बातचीत करने की आवश्यकता पड़ी। यहाँ के लोगों को भी उनकी भाषा समझने की आवश्यकता पड़ी। कालान्तर में बाहर से आने वालों की भाषा और शब्दों से मिलकर हिन्दुस्तान में एक नई बोली का रूप बनने लगा, जिसकी नींव हिन्दुस्तान ही के बनाये हुए व्याकरण पर रखी गई। धीरे-धीरे एक मुद्दत के बाद भाषा तैयार हो गई। चूँकि भारत में बाहर से आने वालों का प्राधान्य उत्तर की ओर था इसलिए इस बोली का प्रारम्भ उत्तर भारत से हुआ, परन्तु कुछ ऐसे संयोग उपस्थित हुए कि एक अरसे के बाद उत्तर के स्थान पर यह बोली दक्षिण में फलने-फूलने लगी। दक्षिण में इस बोली को फैलाने वाले ऐसे सूफ़ी बुज़ुर्ग और उदार हृदय बादशाह थे जिनके विचार बड़े व्यापक थे। सूफ़ी अपने सिद्धान्तों के कारण धर्म के पाश में ऐसे नहीं बँधे थे जैसे ग़ैर सूफ़ी। वे सदा से स्वतन्त्र विचार वाले और मिलनसार थे। अपने विचारों को फैलाने के लिए उन्होंने दक्षिण की भाषाओं में फारसी शब्द मिलाकर तेजी के साथ दक्षिणी भाषाओं में अपने सिद्धान्तों का वर्णन प्रारम्भ किया। वे सिद्धान्त क्या थे इसका वर्णन करना बेकार है। अभीष्ट केवल यह बताना है कि उन्होंने और बातों के अतिरिक्त धर्म में रूढ़ियों से विद्रोह किया। दूसरे धर्मों की भी सराहना की। उनके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की। उनके यहाँ से भी विचारों का अवगाहन किया और उनकी विशेषताओं पर अपने यहाँ मान्यताएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित कीं। बादशाहों की भी यही दशा थी। वे सचमुच बादशाह थे, विशेषतः सुल्तान मुहम्मद अली कुतुबशाह शाहनशाह, जो अकबर का समकालीन था और उर्दू का पहला ग्रन्थकार कवि। इस वंश के बादशाह भारतीय थे। वे बाहर से नहीं आये थे। इसलिए भी उन लोगों को अपने देश से प्रेम, उसके प्राकृतिक दृश्यों से प्यार और उसमें बसने वालों के प्रति आकर्षण था। अतः कवि-बादशाह के काव्य-संग्रह में भारत के फलों—खजूर, नारियल, जामुन आदि—का उल्लेख बड़े जोर-शोर से किया गया है। ऋतुओं में वसंत और ग्रीष्म पर विशिष्ट कविताएँ मिलती हैं। भारत की विशेष स्त्रियों का भी मनोरंजक उल्लेख है। इसी भाँति उसके समकालीन और परवर्ती सूफ़ी कवियों ने कट्टर धार्मिक मुसलमानों के विरुद्ध बहुत-कुछ आवाज उठाई। भारत के दूसरे धर्मों का भी सम्मान किया और उनको समझाने की कोशिश की कि वे अन्य धर्मों को भी समझें। तात्पर्य यह कि कविता और गद्य दोनों का ही पोषण इसी वातावरण में हुआ। प्रारम्भ से ही उर्दू भाषा भारत के विभिन्न तत्वों के प्रति आकर्षित होने लगी थी। सूफ़ियों ने अपनी मिलनसारी और उदारता से इस वृत्ति को बहुत विस्तृत कर लिया था। जब इस भाँति नींव पड़ी तो यह कैसे सम्भव था कि उर्दू अपनी इस उत्तम परम्परा को भी न आगे बढ़ाती? परन्तु इन परम्पराओं को अधिक विकसित करने का अवसर इसलिए न मिला कि यहाँ के लोग किसी विशेष राष्ट्रीय दृष्टिकोण या आन्दोलन के साथ उस समय नहीं चल रहे थे; फिर उर्दू कविता में गजल का दौर इस प्रकार चलता गया कि साहित्य की अन्य प्रवृत्तियाँ उसके प्रकाश में धुँधली पड़ गईं। गज़ल का विशिष्ट विषय सौन्दर्य और प्रेम था। उसको राष्ट्रीयता अथवा राजनीति से कोई विशेष सम्बन्ध न था। परन्तु प्रेम के ही सिलसिले में अथवा अन्य कारणों से प्रभावित गज़लों में ऐसे तत्त्व मिल जाते हैं जिनमें देश-प्रेम, जन-साधारण के प्रति आकर्षण, मानवता का सम्मान अत्यन्त गौरवपूर्ण हैं। पुराने कवियों के कुछ उदाहरण निम्न हैं :

१. **मुफ़लिसी सब बहार खोती है।**
मर्द का एतबार खोती है। (वली)

२. **मत सहल हमें समझो फिरता है फ़लक बरसों,**
तब खाक के परदे से इन्सान निकलते हैं। (मीर)

३. **मीर के दीनो मजहब को अब पूछते क्या हो, इनने तो**
क़शक़ा खींचा, दैर में बैठा, कब का तर्क-इस्लाम किया। (मीर)

४. **दुनियाँ तमाम गर्दिश इफ़लाक से बनी।**
माटी हज़ार रंग की इस चाक से बनी। (सौदा)

५. **मदरसा या दैर था या काबा या बुतखाना था।**
हम सभी मेंहमाँ थे वाँ एक तू ही साहेबखाना था॥

उत्तर भारत में जब उर्दू के फलने-फूलने का समय आया तो राजनीतिक उत्पातों ने सारे देश की शान्ति ही नष्ट कर दी। औरंगजेब के पश्चात् सन् १७०७ से इस देश में वह राजनीतिक घुड़दौड़ रही कि सारा वातावरण अन्धकारमय हो गया। कभी भारत की सल्तनत के लिए शहजादों का आपस में युद्ध करना, एक भाई का दूसरे भाई को मार डालना, कभी राजपूतों से हाथापाई, कभी सिखों से लड़ाई, कभी मराठों का आक्रमण—ये सब आये दिन की घटनाएँ ऐसी हो गई थीं कि सारे देश में लपटें उठ रही थीं। अमीर-गरीब, मर्द-औरत सभी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्दगी दूभर हो गई थी। केन्द्रीय सत्ता का इस प्रकार बिखर जाना कोई साधारण बात न थी। और सबसे बड़ा वज्रपात तो नादिरशाह का आक्रमण था, जो सन् १७३९ ई० में प्रलय बनकर भारत में आया। उसकी लूट-मार, हत्या और विध्वंस ने दिल्ली की जो दुर्दशा की वह सबको ज्ञात है। उत्तरी भारत के अधिकतर भाग और विशेषतः दिल्ली तक के लिए तो नादिरशाह एटम-बम से कम न था। उसके आने से राज्य और देश की तबाही कई प्रकार से अपनी सीमा को पहुँच गई। इस पृष्ठभूमि में दिल्ली का साहित्यिक-समाज क्या रह गया होगा और साहित्य किस प्रकार फूला-फला होगा, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। परन्तु इस वातावरण में भी उर्दू-साहित्य बढ़ता रहा, तूफ़ानों में पलता रहा। जीवन की करवटें क्रान्ति के झूले में उसे लोरियाँ देती रहीं। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में खुदा के अतिरिक्त और कौन याद आया होगा? देश के विनाश ने लोगों की आँखें खोल दी थीं। कितना भी पाषाण-हृदय व्यक्ति क्यों न होता अपने देश की बरबादी पर अफ़सोस किये बग़ैर न रह सकता। और कवि तो अत्यन्त कोमल हृदय वाला और अनुभूतिशील होता है। वह आठ-आठ आँसू रोने से कब रुक सकता था। इस परेशानी में शायद कविता ही अधिकतर लोगों का दर्द भुला सकती थी। अतः लोग कवियों से सान्त्वना प्राप्त करने के लिए बहुत-कुछ निकट आते जा रहे थे और हमारे कवि भी समयानुसार देश की दुर्दशा पर कविताएँ लिखते रहे। इन कविताओं में केवल देश का मर्सिया नहीं था; बल्कि लोगों की अवनति, चरित्र के पतन, शासन की दुर्बलता हर बात पर इन कविताओं में आलोचना प्रस्तुत रहती थी। यह नहीं कि किसी एक कवि ने काम किया, बल्कि हर उल्लेखनीय कवि ने इस प्रकार कविताएँ लिखीं। इन कविताओं को उन्होंने 'शहर आशोब' कहा, जिसमें अपने शहर के परदे में सारे देश की दुर्दशा का दुःख मौजूद है। हातिम, मीर, सौदा, नजीर, जुरअत आदि हर एक के यहाँ ऐसी कविताएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए सौदा की प्रसिद्ध कविता के कुछ शेर देखिए तो अन्दाज हो कि इन लोगों ने उस जमाने में, जब राष्ट्रीयता का कोई संगठित विचार भी न था, क्या क्या कहा है। इस कविता में उन्होंने बताया है कि शरीफों और बुद्धिमानों की क़द्र खत्म हो गई है। लोगों का स्वाभिमान नष्ट हो चुका है। प्रेम और सौहार्द्र का पता नहीं, स्वार्थ और षड्यन्त्रों का दौर है। चैन जमाने से उठ गया है। इस कविता को उन्होंने इस प्रकार प्रारम्भ किया है:

कहा मैं आज ये सौदा से क्यों तू डावाँडोल।
फिरे हैं, जा कहीं नौकर हो ले के घोड़ा मोल।
लगा वो कहने ये उसके जवाब में दो बोल।
जो मैं कहूँगा तो समझेगा तू कि है ठिठोल।
बता कि नौकरी बिकती है ढेरियों या तोल॥

....

कवी है मुल्क में मुफसिद, अमीर हैं सो जईफ,
टके कहाँ जो हमें दे के हों उन्होंके हरीफ,
न कुछ रबीअ में हासिल न दरमियाने खरीफ,
जो आमिल अब हैं मुहालात पर सो यों हैं जईफ,
कि जिस तरह किसी हाकिम के घर गँवार हो ओल।

इसी तरह तबाही बयान करते-करते अमीरों का उल्लेख करते हैं तो कहते हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कोई मिलने को गाहै उन्होंके घर आया,
मिले ये उससे गर अपना दिमाग खुश पाया,
जो जिक्रे सल्तनत उसमें को दरमियाँ लाया,
उन्होंने फेर के अधर से मुँह ये फ़रमाया,
खुदा के वास्ते भाई कुछ और बातें बोल।

कुछ आगे चलकर सेना की दुर्दशा का वर्णन वे यों करते हैं :

पड़े जो काम उन्हें तब निकल के खाई से,
रखें वो फौज जो मोटी फिरे लड़ाई से,
पियादा है सो डरे सर मुड़ाते नाई से,
सवार गिर पड़े सोते में चारपाई से,
करे जो ख्वाब में घोड़ा किसी के नीचे अलोल।
न सर्फ़े खास में आमद न खालसा जारी,
सिपाही जा मुतसद्दी सभों को बेकारी,
अब आगे दफ्तरे तन की मैं क्या कहूँ ख्वारी,
सवाले दस्तखती फाड़ करके पंसारी—
किसी को आँवले दे बाँधकर किसी को कटोल।
सो क्या वो नौकरी, कटती है जिसमे यों औकात,
मिले है पेट को रोटी सो रो-रो आधी रात,
जो चाहें तन ढपे इसमें सिर आगे पीछे हात,
और उसपे यह कि वो तब ठहरे रोजे मौजूदात,
जो पाँचों आँधे हैं हथियार और छठी पिस्तौल॥

किसी के याँ न रहा आसिया से ताब उजाग,
हजार घर में से एक घर में अब जले हैं चिराग,
सो क्या चिराग वो घर है घरों के ग़म से दाग़,
और उन मकानों पे हर सिम्त रेंगते हैं उलाँग,
जहाँ बहार में सुनते थे बैठकर हिंडोल।
खराब है वो इमारत क्या कहूँ तुम्फ पास,
कि जिनके देखे से जाती रही थी भूख और प्यास,
और अब जो देखो तो दिल होवे जिन्दगी से उदास,
बजाये गुल, चमनों में कमर कमर है घास,
कहीं सतून पड़ा है कहीं पड़े मिरग़ोल।
ये बाग खा गई किसकी नज़र नहीं मालूम,
न जाने किनने किया इस जमी पै मक़दमें शूम,
जहाँ थे सवो सनोबर अब उस जगह है जकूम,
मची है जाग जगन सेते अब चमन में धूम,
गुलों के साथ जहाँ बुलबुलें करें थी किलोल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहानाबाद तू कब इस सितम के काबिल था,
मगर कभू किस आशिक़ का यह नगर दिल था,
कि यों उठा दिया गोया कि नक्शे बातिल था,
अजब तरह का ये बहरे जहाँ पै साहिल था,
कि जिसकी खाक से लेती थी खल्क मोती रोल।

स्थानाभाव के कारण यहाँ पूरी कविता नहीं दी जा सकती, इधर-उधर के कुछ टुकड़े आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं। इससे आपको अन्दाज हो सकता है कि उस समय के कवियों ने भी देश के हर वर्ग को दृष्टि के सामने रखा था। अन्तिम बन्द में जहानाबाद के जिस स्तर का उल्लेख है उसके महत्त्व को कोई भुला नहीं सकता। सम्भवतः यह प्रश्न उठे कि जहानाबाद अर्थात् दिल्ली का ही उल्लेख क्यों किया गया। उत्तर यह है कि उस समय दिल्ली की तबाही सारे देश की बरबादी का चित्र प्रस्तुत कर रही थी। जहाँ केन्द्रीय शासन था, जहाँ अधिक-से-अधिक शान्ति होनी चाहिए थी जब वहाँ की दशा यह हो तो दूसरे भागों का अनुमान इससे कर लीजिए। सौदा। (जिनके ये शेर हैं।) संयोगवश शाही सेना में भी नौकर रह चुके थे। इसलिए उनको सेना आदि की दशा भली भाँति ज्ञात थी। इन काव्यों के अतिरिक्त उर्दू के अन्य साहित्यिक रूपों में भी स्थान-स्थान पर समय की दशा का परिचय मिलता है। और कवियों के स्वतन्त्र विचारों का पता चलता है। उदाहरणतः वली ने सूरतनगर पर एक कसीदा कहा। नजीर अकबराबादी ने हिन्दुओं के त्यौहारों पर उसी जोर के साथ कविताएँ रचीं जैसे मुसलमानों की ईद आदि पर। होली, वसन्त और इसके अतिरिक्त मेले-ठेले पर, जिनका जनता से सम्बन्ध है, बराबर कुछ-न-कुछ कहते रहे। कृष्णजी की प्रशंसा में उन्होंने बड़ी लम्बी और अच्छी कविता लिखी है। इनके अतिरिक्त समाज की दूसरी विशेषताओं को भी उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान दिया। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत में उत्पातों के साथ उर्दू अपना रंग बनाये हुए आगे बढ़ती रही रही। साथ ही इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे तत्त्व भी आते रहे जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीयता से नहीं बल्कि व्यक्तित्व से है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन अथवा ऐसी विचार-धाराएँ किसी संगठित रूप में भारत में प्रचलित थीं। अपने-अपने ढंग से लोग सोच और लिख रहे थे। साहित्य में भी इसी तरह की झलक मिलती है।

इस युग के कवियों का देश-प्रेम इस सीमा तक था कि जब तक सम्भव हुआ राजाओं को भी यह अवसर न दिया कि मात्र रुपये के कारण अपनी भूमि छोड़कर चले जाने के लिए उन्हें आकृष्ट कर सकें। सौदा ने उजड़ी हुई दिल्ली को वैभवशाली लखनऊ से श्रेयस्कर माना, बादशाह के बुलाने पर भी काफी अरसे तक दिल्ली में पड़े रहे। नजीर अकबराबादी को आगरा से कहीं जाना जिन्दगी-भर पसन्द न हुआ। हैदराबाद के दरबार से बुलावा आया पर वह न गये। अपनी फकीरी में मस्त रहे। मीर ने जब विवश होकर दिल्ली छोड़ी और लखनऊ की राह ली तो उनकी भावनाओं की कल्पना इस छोटी-सी कविता से की जा सकती है, जिसको कहा जाता है कि लखनऊ पहुँचने पर उन्होंने मुशायरे में पढ़ा था। लखनऊ वालों की छेड़-छाड़ पर उन्होंने सबको सम्बोधित करके कहा :

क्या बूदोबाश पूछो हो, पूरब के साकिनों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमको गरीब जान के हँस-हँस पुकार के।
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तिखाब,
रहते थे मुन्तखिब ही जहाँ रोजगार के।
जिसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया,
हम रहने वाले हैं उसी उजड़े दयार के।

स्वदेश-पूजा का यह दृष्टिकोण पुराने समय में कुछ विचित्र-सा था। जो जिस जगह रहता था उतने ही को अपना देश समझता था; जिस शहर में, और कभी-कभी जिस कस्बे में लोग रहते थे उसीको अपनी मातृभूमि मानते थे। उसके साथ स्वदेश में रहकर भूखों मरना, देश छोड़कर दूसरे नगर में खाने-कमाने के लिए जाने से अच्छा समझते थे। अतः मीर, नजीर, सौदा आदि (जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया) जहाँ अपनी मातृभूमि समझते थे वहाँ से हिलना अनुचित मानते थे। इस दृष्टिकोण को आज संकुचित समझें या उसका मजाक उड़ाएँ, किन्तु बात कुछ इसी प्रकार की थी। आधुनिक युग में हाली ने इस बुराई को दूर करने की चेष्टा की। उन्होंने अपनी मसनवी 'हुब्बे वतन' में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है कि देश-प्रेम इसे नहीं कहते कि अपने घर में बेकार पड़े रहिए और दूसरी जगह जाने की न सोचिए। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति विभिन्न रीतियों से हो सकती है। हाली के बाद इकबाल ने प्रारम्भ में इस दृष्टि को बनाये रखने की चेष्टा की, बाद में उन्होंने इसका अत्यन्त विरोध किया और कहने लगे कि स्वदेश कोई विशिष्ट स्थान नहीं, दुनिया का प्रत्येक भाग स्वदेश है। वे पुकारने लगे कि **"मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा।"** मैं यहाँ स्वदेश-पूजा के दृष्टिकोण पर बहस नहीं करना चाहता। बताना केवल यह है कि पुराने समय में विचार-धारा क्या थी और अब क्या है। जिस युग में जिस कवि ने स्वदेश-प्रेम की अभिव्यक्ति की है वह अपने समय के अनुसार सही हो सकता है और हमारे पुराने कवियों ने जो कुछ लिखा है वह देश-प्रेम के दृष्टिकोण के विवाद से अलग अपने स्थान पर सराहनीय वस्तु थी। वे अपनी मातृभूमि की रीतियों, उसके दृश्यों आदि से प्रभावित थे और दिल खोलकर उस पर कविताएँ लिखते थे तथा किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय से आक्रान्त होकर चुप न हो जाते थे।

प्राचीन एवं आधुनिक युग की सीमान्त-रेखा भारत की एक जबरदस्त ऐतिहासिक घटना है, जो सन् १८५७ में विदेशी राज्य के विरुद्ध हुई। इस विद्रोह में सदा से अधिक भारत की जनता ने विदेशी राज्य के विरुद्ध एकदिल होकर आवाज या तलवार उठाई थी। बिना किसी विवाद के हम इसे राष्ट्रीय आन्दोलन मानते हैं और समझते हैं कि जो प्रयास किया गया था वह राष्ट्र-व्यापी था। जन-साधारण एवं विशिष्ट वर्ग दोनों ही समान रूप से इसमें भाग ले रहे थे। परिणाम जो-कुछ हुआ वह सब जानते हैं। पर यह भी समझते हैं कि पराजय के बावजूद भी भारतवासियों को एक केन्द्र पर किसी राष्ट्र-व्यापी कार्य के लिए इकट्ठा करने का रास्ता खुल गया। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया उर्दू-साहित्य में कहाँ तक मिलती है इसको आँकना यहाँ तो सम्भव नहीं परन्तु विहंगम दृष्टि से हमें यह अवश्य देखना है कि उर्दू की राष्ट्रीयता ने कहाँ तक अपनी भुजाओं को इस आन्दोलन से सशक्त किया और इस सिलसिले में उर्दू-साहित्य को क्या लाभ हुआ।

सन् १८५७ या उसके आस-पास के काल का प्रभाव उर्दू-साहित्य पर न पड़ना असम्भव था, क्योंकि उर्दू की प्रकृति और वृत्ति के अतिरिक्त ऐसे शासक भी थे, जो उर्दू के कवि और भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लोकप्रिय बादशाह थे। उनके जीवन पर सीधे इस घटना का प्रभाव पड़ा। दिल्ली में बहादुरशाह 'ज़फ़र' और लखनऊ में वाजिदअलीशाह विदेशी राज्य के साथ जिस तरह तबाह हुए उसके बताने की आवश्यकता नहीं। उनका राज्य गया, स्वतन्त्रता गई, देश छूटा, घर से बेघर हो गए। इन दुर्घटनाओं के बाद भी इन कवि-बादशाहों की वाणी बन्द कैसे हो सकती थी। इन लोगों ने अपनी विपत्ति का वर्णन किया और अपनी प्रजा तथा अपने देश का भी दर्दनाक हाल सुनाया। उनके शेरों के अतिरिक्त भी हमको उदू-साहित्य में ऐसा काव्य मिलता है जो १८५७ के हत्याकाण्ड, लूट-मार और तबाही का चित्र उपस्थित करता है। इसी जमाने में मुन्शी मुनीर शिकोहाबादी बड़े प्रसिद्ध कवि हुए। उनको भी राज-द्रोह में अंग्रेजों ने काला पानी भेज दिया था। उनकी जबान से कुछ उस समय की दशा की कल्पना कीजिए कि हमारे कवियों का सोचने का ढंग क्या था :

अमीरों से बलायें ग़द्र पहुँची उन ग़रीबों तक,
कि बेदरदी व ज़ोफ़ेहाल में जिनका नहीं सानी।
अदालत इन दिनों ऐसी बढ़ाई है ज़माने ने,
कि शमशीरों गुलू पीते हैं एक ही घाट पर पानी।
बनाई बेड़ियाँ तलवार को तुड़वा के गदूं ने,
किया अरबाबे जौहर को हरेक हीले से ज़िन्दानी।
बहादुर नौहागर है मातमें मरगे शुजाअत में,
बजाये नारये शेराना सीखे मरसिया ख़्वानी।
जहाँ देखो सड़क पर मजमये वहशत की कसरत है,
नज़र आता है हर मेले में अंबोहे परेशानी।
अदालत से मिली है चुग़ दो, बूमो ज़ाग़ की डिगरी,
हुई है ज़ब्त मिल्लके बुलबुलो ताऊसे बुस्तानी।
गुलिस्ताने अरम में धूम है मरघट की दावत की,
तकल्लुफ से हैं कैसरबाग में घूरे की मेहमानी।

इसके बाद वह चित्र खींचते हैं कि सारे भारत में मौत नज़र आती है, जहाँ देखो लोगों को फाँसी दी जा रही है। खून बहने का यह हाल है कि :

कुटी सुरखी सड़क पर जानते हैं देखने वाले,
हुआ है खूने नाहक से यह फ़रशे ख़ाक अफ़शानी।

आगे चलकर बताते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे किस तरह मौत की नींद सुलाये गए। औरतों को गेहूँ क्या भूसी भी न मिल सकी। इस प्रकार के वर्णन उदू-साहित्य में भरे पड़े हैं। स्थानाभाव के कारण हम अधिक उदाहरण नहीं दे सकते।

सन् १८५७ तक उदू में गजलों का प्राधान्य था, और वस्तुएँ अपेक्षाकृत कम हैं। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और गजल की विषय-वस्तु पर विचार किया जाय तो साहित्य में राष्ट्रीयता के तत्त्व काव्य के इस रूप में अन्य रूपों से कम नहीं। गजल का विशिष्ट विषय प्रेम था और प्रेम भी वह जो प्रकाशमान हो, जिसके द्वारा मनुष्य संकुचित दृष्टि की परिधि से छूट जाता है। मानव-मात्र के प्रति अनुरक्ति होती है और धर्म एवं सम्प्रदाय की रुकावटें दूर हो जाती हैं। प्रेम का अंश इतना बढ़ जाता है कि वह हर वस्तु को प्रेम की ही दृष्टि से देखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगता है। सामाजिक रूढ़ियाँ, जो मनुष्य को मनुष्य से मिलने नहीं देतीं, उनसे वह विद्रोह करता है। इसके अतिरिक्त गजल की टेकनीक और विषय-वस्तु दोनों ऐसी थीं कि वे अपनी परिधि में अधिक-से-अधिक मानवता को समेटती रहीं। विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के लोग एक जगह होकर इस घाट पर पानी पीते रहे। उर्दू का सबसे बड़ा केन्द्र गजल ही था, जहाँ अधिक-से-अधिक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई एक होकर काव्य का रसास्वादन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह से गजल भी बिखरे हुए दानों को एक माला में गूँथती रही और राष्ट्रीय तत्त्वों का एक बड़ा मोर्चा बनकर राष्ट्रीयता की रक्षा करती रही।

सन् १८५७ के बाद से भारत में राजनीतिक पद्धतियाँ तेजी से जागने लगीं। लोग अपने को सावधान और संगठित करने के लिए तैयार हो गए। परन्तु काम करने का ढंग अच्छा न था। अधिकतर धर्म के ही ढाँचे पर राष्ट्रीयता का निर्माण होता रहा। सुधारवादी आन्दोलन को लोग राजनीतिक आन्दोलन मानने लगे। साहित्य में भी इस प्रकार के आन्दोलन परिलक्षित हुए। अपने-अपने वर्ग को उभारने के लिए हर नेता ने अपने ढंग से काम करना और सोचना आरम्भ कर दिया। उर्दू-काव्य में मुहम्मद हुसैन आज़ाद, इकबाल और हाली ऐसी कविताएँ लिखने लगे जो लोगों को क्रियाशीलता की ओर प्रेरित करें अर्थात् ये लोग धारणाओं एवं वृत्ति में परिवर्तन करना चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ पाश्चात्य प्रभावों से तथा कुछ इन लोगों के विचारों से प्रभावित होकर धारणाएँ प्रतिदिन बदलती रहीं। विदेशी राज्य की उपस्थिति और अपनी दासता की अनुभूति ने भारतीयों को राष्ट्रीय बनने की चिन्ता में व्यस्त कर दिया। राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्त्व विभिन्न रीतियों और दिशाओं से एकत्र होने लगे। उर्दू-साहित्य में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त स्वदेश के महत्त्व और प्रेम पर अधिक और उत्तम कविताएँ आने लगीं। हाली, आजाद, इकबाल सबने बढ़कर देश-भक्ति का नारा उठाया। हाली ने पूरी एक किताब 'हुब्बे वतन' के नाम से लिख डाली। आजाद ने कई कविताएँ देश-प्रेम पर लिखीं और इसी परदे में समस्त भारतवासियों को एक स्थान पर एकत्र होने का निमन्त्रण देने लगे। उदाहरणार्थ इकबाल का वह शेर लीजिए जो अपने काव्यारम्भ में उन्होंने कहा था :

सच कह दूँ ऐ बिरहमन गर तू बुरा न माने
तैसे सनमकदे के बुत हो गए पुराने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा
जंगो जदल सिखाया वाइज़ को भी खुदा ने।
तंग आके उसने आखिर देरो हरम को छोड़ा
वाइज़ का वाज़ छोड़ा, छोड़े तेरे फसाने।
आ ग़ैरियत के पर्दे एक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें नक्शेदुई मिटा दें।

सन् १८५७ के बाद जैसे-जैसे हिन्दुस्तान का राजनीतिक वातावरण बदलता गया वैसे ही उर्दू-साहित्य में भी बदली हुई प्रवृत्तियों की झलक दिखलाई पड़ने लगी। हाली, आज़ाद, अकबर, इकबाल, चकबस्त, आदि सबका मानसिक झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर होने लगा। हर-एक ने आवश्यकता और अपनी समझ के अनुसार राजनीतिक आन्दोलन पर सम्मति दी और उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में समय के साथ बढ़ती गई। कांग्रेस की स्वायत्त शासन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माँग के साथ, जो सन् १९०६ में उठी थी, उर्दू-कविता पूर्णतः घुल-मिल गई थी। अतः १९१६ से जब होमरूल का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो उर्दू-कविता ने बड़े जोश, उत्साह और सचाई के साथ इसमें भाग लिया। इससे पहले के राजनीतिक आन्दोलन न तो इतने व्यापक थे, न उनमें इतना जोर ही था। इस कारण उर्दू-कविता में अब सदा से अधिक जोश-खरोश आया। चारों ओर वातावरण में स्वतन्त्रता की भावना देखकर उर्दू ने भी राष्ट्रीय भाषा होने की हैसियत से इस आन्दोलन के प्रसार में भाग लेना अपना कर्तव्य समझा। पं० बृजनारायण 'चकबस्त' इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त नजर आए। उनको उर्दू-कविता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर होमरूल के राजनीतिक आन्दोलन में उतार दिया। 'चकबस्त' ने भी अपना कर्तव्य इस खूबी से निबाहा कि समाज के सभी वर्गों में उनकी कविता फैल गई। उनकी नज़्में हर राजनीतिक अथवा अर्धराजनीतिक अधिवेशन के लिए आवश्यक हो गईं। सत्य तो यह है कि वह इस सचाई और कलात्मकता के साथ अपना काव्य प्रस्तुत करते रहे कि हर समझने वाले के दिल में आग लग जाती थी। इनके कुछ शेर नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं :

ये खाके हिन्द से पैदा हैं जोश के आसार, हिमालिया से उठे जैसे अब्र दरिया बार
लहू रंगों में दिखाता है बर्क की रफ़्तार, हुई हैं खाक के पर्दे में हड्डियाँ बेदार
जमीं से अर्श तलक शोर होमरूल का है
शबाब कौम का है ज़ोर होमरूल का है

है आजकल की हवा में वफ़ा की बरबादी, सुने जो कोई तो सारा चमन है फरियादी
कफस में बन्द हैं जो आसमाँ के थे आदी, उड़ा है बाग़ से बू होके रंगे आज़ादी
हवाये शौक में गुन्चे विकस नहीं सकते
हमारे फूल भी चाहें तो हँस नहीं सकते।

इस आन्दोलन के साथ सारा भारत जाग उठा। उर्दू वाले भी जोर-शोर से इसमें भाग लेते रहे। 'चकबस्त' के पहले से ही 'इकबाल' ने उर्दू-कविता में राष्ट्रीय तत्त्वों को बड़े चातुर्य से प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके काव्य में दार्शनिक रंग था। उन्होंने अपने ढंग से बताना प्रारम्भ किया कि गिरे हुए राष्ट्र कैसे उभर सकते हैं, व्यक्ति को क्या करना चाहिए, शासक और शासित का सम्बन्ध क्या और क्यों होता है, यूरोप क्यों तबाह हो रहा है, स्वदेश क्या वस्तु है; तात्पर्य यह कि ये सभी बातें विद्वत्तापूर्ण ढंग से राष्ट्रीय आवरण में 'इक़बाल' कहते रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीयता का साधारण दर्शन शीघ्रता से उर्दू में व्यक्त होने लगा। इन लोगों से सहमति अथवा असहमति का विवाद छोड़कर हम यह देखते हैं कि उर्दू-साहित्य में राष्ट्रीयता और राजनीति का मूल्यवान कोष इकट्ठा होता रहा।

१९१४ से १९१८ तक का काल दुनिया के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। पहले विश्व-युद्ध के फलस्वरूप दुनिया के राष्ट्र बन-बिगड़ रहे थे। युद्ध समाप्त होते-होते भारत भी बिलकुल बदलने लगा। १९१८ से भारत के क्रान्तिकारी जीवन की शृङ्खला प्रारम्भ हो जाती है। एक ओर सत्याग्रह, रौलट-बिल, खिलाफ़त आदि के आन्दोलन हुए, दूसरी ओर महात्मा गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। हवा में 'गांधीजी की जय' के नारे गूँजने लगे। १६ अप्रैल १९१९ का दिवस पहली बार भारत-व्यापी हड़ताल और सत्याग्रह के लिए चुना गया। एक नया ही वातावरण देश में छा गया। चारों ओर से लोगों के साथ उर्दू-कविता भी बढ़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेने लगी। असहयोग के साथ लोगों को जेल जाने का भी डर न रह गया। इसीलिए पूरी स्वच्छन्दता से उर्दू-कवि अंग्रेजी राज्य की बुराई करने और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेने लगे। उर्दू-कविता की वृत्ति इतनी शीघ्रता से बदली कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेने लगी। कार्लमार्क्स के दर्शन और रूस के व्यावहारिक जीवन से प्रभावित होकर समाजवाद की ओर भी झुकाव पैदा हुआ। इस काल में विदेशी राज्य का विरोध करते-करते उर्दू में कई ऐसे कवि आगे आये जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारों के आधार पर उर्दू में ऐसे तत्त्व प्रस्तुत किये जिनमें समाजवाद की झलक थी। इन लोगों में 'जोश मलीहाबादी' का नाम सर्वोच्च और उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कला और निर्भीकता से ऐसी कविता प्रारम्भ की, जो युग की पुकार बन गई। प्रगति और स्वतन्त्रता के सिलसिले में उन्होंने हर ऐसी रीति और प्रवृत्ति से विद्रोह की घोषणा की, जो रास्ते में रुकावट पैदा करे—चाहे उसका सम्बन्ध धर्म से हो या सामाजिक रीतियों या शासन से। उन्होंने पूरे ओज से राजनीतिक आन्दोलन के साथ अपनी कविता के स्वर को मिला दिया। उनकी कला में इतना चमत्कार था कि बड़े-से-बड़े और छोटे-से छोटे आदमी उनकी कविता की ओर आकृष्ट हो गए। उनके प्रभाव से हर ओर के लोग इसी प्रकार की कविता लिखने लगे। 'जोश' ने पूरी-पूरी कविता की प्रवृत्ति ही बदल दी। आवश्यकता और महत्त्व के विचार से आज उर्दू का हर उल्लेखनीय कवि राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर कुछ-न-कुछ लिख रहा है। अतः १९४७ के विभाजन के बाद जिस हत्या-काण्ड और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई उसके विरुद्ध आवाज उठाने में उर्दू से अधिक शायद ही भारत की किसी भाषा ने प्रयास किया हो। परिणाम यह है कि आज हमारे साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्वों का वह भाग एकत्र हो गया है जिस पर किसी भी बड़ी भाषा को गर्व हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध-सार

डॉक्टर रामसिंह तोमर

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

प्राकृतों का भारतीय आर्य भाषा के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश की संस्कृति क माध्यम प्राकृतें बहुत समय तक रही हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। हेमचन्द्र के अनुसार 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति या मूल आधा संस्कृत है, उससे जो उत्पन्न है वह प्राकृत है। कुछ अन्य के अनुसार 'प्राक्-कृत' अर्थात् जो पू में हुई, वह प्राकृत है। कहना न होगा कि प्रथम मत अपूर्ण है तो दूसरा निराधार।

आज का उपलब्ध प्राकृत-साहित्य ६०० ई० पू० से आरम्भ होकर १८०० ई० त आता है, जिसका विभाजन निम्न ढंग से किया जा सकता है—

१. धार्मिक प्राकृत-साहित्य—
   (अ) विशुद्ध धार्मिक, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन, पालि में रचित बौद्ध-साहि तथा अर्ध मागधी एवं शौरसेनी में रचित जैन-धार्मिक साहित्य।
   (आ) धार्मिक, साहित्यिक पालि कथा-साहित्य, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में रचि साहित्य एवं जैनों द्वारा रचित अपभ्रंश-साहित्य।

२. साहित्यिक (ललित) प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश-साहित्य।
   (अ) स्वतन्त्र कृतियों के रूप में, तथा
   (आ) अन्य ग्रन्थों में उद्धरणों के रूप में प्राप्य प्राकृत-साहित्य।

३. नाटकों में प्राप्त प्राकृत-साहित्य।

४. भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त-प्रदेशों में प्राप्त साहित्य—प्राकृत धम्मपद, निय प्रा तथा खोतान एवं मध्य एशिया आदि में प्राकृत-साहित्य।

५. शिला-लेखों का प्राकृत

६. मिश्र संस्कृत—'गाथा डायलेक्ट'

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही एक रूप है, पर प्रायः उसे प्राकृत से पृ माना जाता है, अतः यहाँ पालि-साहित्य नहीं सम्मिलित किया गया है। अर्ध मागधी औ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शौरसेनी के धार्मिक जैनागमों को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी में न आने के कारण छोड़ दिया गया है।

जैन-प्राकृत साहित्य

जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा गया है। दिगम्बरों ने शौरसेनी प्राकृत में लिखा है तो श्वेताम्बरों ने महाराष्ट्री में। जैन-प्राकृत-साहित्य के प्रधान कवियों एवं लेखकों और उनकी रचनाओं का परिचय संक्षेप में निम्न है—

विमल सूरि—इस क्षेत्र में प्रथम कृति विमलसूरि की 'पउमचरिय' है। इसमें राम-कथा को जैन रूप दिया गया है। बालि का विरक्त होना तथा रावण का लक्ष्मण के हाथों मारा जाना आदि इसकी नवीनताएँ हैं। इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रवाहयुक्त महाराष्ट्री है। इसमें गाथा छन्द विशेषतः प्रयुक्त हुआ है। इसके लेखक विमलसूरि के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना चौथी सदी से पूर्व की नहीं हो सकती।

पादलिप्ताचार्य—इनका रचित 'तरंगवती' एक कथा-ग्रन्थ कहा जाता है। यह ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण 'तरंगलीला' नाम का प्राप्त हुआ है। इसके संक्षिप्त-कर्ता नेमिचन्द्र ने बतलाया है कि मूल कृति बड़ी भारी, सुन्दर और कठिन थी। विद्वानों का अनुमान है कि पादलिप्ताचार्य का समय ५ वीं सदी से कुछ पूर्व होगा।

संघदास गणि—इन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत में 'वसुदेव हिंडि' नाम की गद्य-पुस्तक लिखी है। इसमें वसुदेव के भ्रमण की कथा है। इसका आधार 'महाभारत' और 'हरिवंश' हैं। इसे धर्मदास और संघदास ने पूरा किया है। रचना-काल सातवीं सदी से कुछ पूर्व ज्ञात होता है।

हरिभद्र—'समराइच्च कहा' इनकी गद्य-कृति है, जिसमें नायक गुणसेन और प्रतिनायक अग्निशर्मा के ६ जन्म की कथाएँ वर्णित हैं। इनकी भी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। बीच-बीच में इसमें पद्य भी हैं। हरिभद्र की दूसरी कृति 'धूतरिन्यान' है, जो ब्राह्मणों पर एक कटु व्यंग्य-काव्य है। हरिभद्र की और भी कई कृतियाँ कही जाती हैं। इनका समय ७०० से ७८० ई० माना जाता है।

उद्योतनसूरि—इनकी प्रसिद्ध कथा-कृति 'कुवलयमाला कथा' जैन महाराष्ट्री में रचित एक धर्म-कथा है। कृति का रचना-काल कवि ने शक सं० ७०० दिया है।

लौकिक कथा-कृतियों के प्रधान ग्रन्थ और उनके रचयिताओं के परिचय के बाद हम लोग धर्मोपदेश-प्रधान कथाएँ ले सकते हैं, जिनमें साहित्यिक सरसता उपर्युक्त ग्रन्थों की भाँति नहीं है।

जयसिंह सूरि—उपदेशों से युक्त मूल गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए अनेक कथाएँ लिखी गईं। सूरि ने भी १५६ कथाओं की गद्य-पद्य-मिश्रित रचना की, जिसका नाम 'धर्मोपदेश माला-विवरण' है। इसका रचना-काल सं० ६१५ है।

शीलाचार्य—इनका एक नाम शीलांक सूरि भी था। इन्होंने जैन-सम्प्रदाय के ६३ महा-पुरुषों के चरित्रों का वर्णन अपनी विशाल कृति 'महापुरुष चरित' में किया है। ग्रन्थ का रचना-काल ८६८ ई० है।

विजयसिंह सूरि—सन् ६१७ में इन्होंने 'भुवन सुन्दरी कथा' नाम के चम्पू-ग्रन्थ की रचना की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसवीं सदी के आस-पास की एक अज्ञात कवि की रचना 'कालकाचार्य कथानक' मिलती है, जिसमें उज्जैन के एक राजा की पराजय वर्णित है।

धनेश्वर मुनि—इन्होंने 'सुरसुन्दरी चरिय' नाम का एक सुन्दर प्रेमाख्यान लिखा है। इसका रचना-काल सं० १०६५ वि० है।

महेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञान पंचमी कथा' है, जिसमें २००० गाथाओं में दस कथाएँ हैं। इनके समय का ठीक पता नहीं है।

जिनेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथा कोशप्रकरण' है, जिसमें श्रावकों के लिए उपदेश हैं। इनकी दूसरी रचना 'लीलावती कथा' कही जाती है, पर अभी तक यह कहीं मिल नहीं सकी है। इनका रचना-काल सम्वत् की १२वीं सदी का प्रथम चरण है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ऊपर के अन्य लेखकों और कवियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुमारपाल चरित' है, जिसका आरम्भ का दो तिहाई भाग संस्कृत में और शेष प्राकृत एवं अपभ्रंश में है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि कुमारपाल के चरित के साथ-साथ संस्कृत और प्राकृत के सिद्ध रूपों के प्रयोग भी इसमें हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन-सिद्धान्त, काव्य-समीक्षा, व्याकरण, छन्द, पुराण और कोष आदि अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। प्राकृत से सम्बन्धित उनकी दो कृतियाँ—'देशीनाममाला और' 'छन्दानुशासन' हैं। पहला शब्द-संग्रह है और दूसरा छन्द-ग्रन्थ। इनका समय सं० ११४५–१२२६ तक है।

लक्ष्मण मणि—इन्होंने ८७०० गाथाओं में 'सुपार्श्वनाथ चरित' की रचना की, जिसमें सातवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र है। कृति का रचना-काल संवत् ११६६ वि० है।

सोमप्रभाचार्य—इनके दो प्राकृत-ग्रन्थ 'सुमतिनाथ चरित्र' और 'कुमारपाल प्रतिबोध' उपलब्ध हैं। पहली कृति पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ से सम्बद्ध है और दूसरी कुमारपाल से। इनका रचना-काल विक्रम की १३ वीं सदी का मध्यकाल है।

जिन हर्षगणि—पौषध व्रत के दृष्टान्त के रूप में कथित 'रयणसेहरी कहा' इनका एक प्रेमाख्यान है, जिसमें जायसी के रत्नसेन की भाँति रत्नशेखर रत्नवती का रूप-वर्णन सुन मुग्ध होकर सिंहल द्वीप पहुँचता है और कठिनाइयों के बाद परिणय होता है। जिनहर्षगणि का समय विक्रम की १५वीं शती का अन्तिम चरण है।

अनन्तहंस—इनकी 'कुर्मा पुत्र कथा' प्राकृत-गाथाओं की छोटी-सी कृति है, जिसमें भाव शुद्धि की महिमा वर्णित है।

यह जैन प्राकृत-साहित्य के कुछ थोड़े-से लेखकों तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय है। अभी इस प्रकार की बहुत अधिक सामग्री है, पर प्रकाश में न आने से इतने से ही सन्तोष करना पड़ रहा है।

इस साहित्य पर दृष्टिपात करने से कथा के अनेक प्रकारों के दर्शन होते हैं, साथ ही धार्मिक, लौकिक, स्वतन्त्र तथा अवान्तर कथाएँ एकसूत्र में पिरोने के ढंग आदि अनेक विशेषताएँ भी मिलती हैं। धार्मिकता और उपदेशात्मकता के साथ-साथ कल्पना आदि साहित्यिक तत्त्व तथा सामाजिक चित्र भी पर्याप्त मात्रा में इन ग्रन्थों में मिलते हैं।

साहित्यिक प्राकृत

प्राकृत में विशुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी हुई हैं। रूपकों-उपरूपकों में तो सभी प्राकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग मिलता है पर मुक्तक तथा प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त साहित्य १. मुक्तक और २. प्रबन्धात्मक, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

मुक्तक साहित्य-संग्रह और अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पद्य इन दो रूपों में मिलता है। संग्रह अभी तक केवल दो प्राप्त हुए हैं—१. 'गाथा सप्तशती' और २. 'वज्जालग्ग'।

गाथा सप्तशती—इसमें ७०० प्राकृत-गाथाएँ हैं, जो अलग-अलग अपने-आपमें पूर्ण हैं। इसमें कहीं तो शृङ्गार से ओत-प्रोत स्त्रियों के चित्र हैं और कहीं प्रकृति के। नीति, सुभाषित और लोकोक्तियाँ भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाती हैं। शृङ्गार-रस की गाथाएँ इसमें अधिक हैं, जिनमें अनेक प्रकार की नायिकाओं के कार्य-कलाप या उनके हृदय के भाव वर्णित हैं। इसके संग्रहकर्ता हाल या सातवाहन हैं। इसका संग्रह-काल बड़ा विवादग्रस्त है। यदि आन्ध्र देश के सातवाहन को संग्रहकर्ता माना जाय तो ६६ ई० के आस-पास ग्रन्थ का संग्रह-काल माना जा सकता है।

वज्जालग—इसमें ७०४ प्राकृत-गाथाएँ हैं। इसमें सुभाषितों की भाँति विभिन्न विषयों की गाथाएँ शीर्षकों में बाँटकर रखी गई हैं। यहाँ भी शृङ्गार का अभिरूप है; पर साथ ही नीति, सज्जन-दुर्जन-निन्दा, तथा प्रकृति-चित्र भी हैं। यह भी गाथा सप्तशती' की भाँति संग्रह-ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्ता जयवल्लभ के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इसका संग्रह सं० १३६३ वि० के पूर्व हुआ माना जाता है।

बहुत-से प्राकृत-छन्द संस्कृत और प्राकृत के विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इस दृष्टि से भरत के 'नाट्य-शास्त्र' (ई० पू० २०० से २०० ई० के बीच) के ध्रुव-गीत, आनन्दवर्धन (६०० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत ४५ प्राकृत-छन्द, भोज (११वीं शती ई०) के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के ३५० छन्द तथा हेमचन्द्र (११४५-१२२६ वि०) के 'काव्यानुशासन' एवं उसकी वृत्ति के ८० छन्द प्रधान हैं। इसी प्रकार 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रस-गंगाधर' आदि में भी बहुत-से प्राकृत के छन्द मिलते हैं।

इन प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राकृत-छन्दों के उद्धृत किये जाने से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि प्राकृत का महत्त्व संस्कृत के पण्डितों द्वारा भी उस युग तक स्वीकार कर लिया गया था।

प्राकृत में मुक्तक-साहित्य की भाँति ही प्रबन्ध-काव्यों की धारा भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। आज इसके बहुत-से प्रबन्ध-काव्य लुप्त हो गए हैं, फिर भी जो आज हैं, बहुत उत्कृष्ट हैं और अपनी धारा की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। यहाँ कुछ प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों और उनके लेखकों का संक्षिप्त परिचय देखा जा सकता है—

प्रवरसेन—इनका प्रसिद्ध महाकाव्य 'सेतु-बन्ध' या 'रावण-वध' १५ आश्वासों में विभक्त १२६१ छन्दों का है। इसमें सीता-हरण के आगे से आरम्भ होकर रावण-वध के बाद राम-लक्ष्मण के अयोध्या लौटने तक की कथा संक्षेप में दी गई है। कृति का अधिक भाग सेतुबन्ध से सम्बन्धित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। साहित्यिक दृष्टि से कृति सुन्दर है। इसके रचयिता प्रवरसेन के सम्बन्ध में काफी विवाद है। अधिक प्रामाणिक मत यही ज्ञात होता है कि वे काश्मीर के राजा थे और उनका समय सन् १२३ से १८३ तक था। सम्भवतः 'गौड वध' या 'शिशुपाल वध' आदि बाद के काव्यों के नाम भी इसीके अनुकरण पर रखे गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्पतिराज—इनका प्रबन्ध-काव्य 'गौडवध' महाराष्ट्री प्राकृत में रचा गया है। इसमें कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजय-यात्रा तथा गौड़-नृप का वध वर्णित है। १२६० छन्दों की यह कृति अध्यायों में विभक्त नहीं है। विभिन्न वर्णन कहीं-कहीं कुलकों में विभक्त है। वाक्पतिराज यशोवर्मा के मित्र और कवि थे। इनका समय यशोवर्मन के आधार पर ७वीं सदी के अन्तिम चरण और आठवीं के प्रथम चरण के बीच में है।

श्रीकृष्ण लीला शुक—इनका प्रबन्ध-काव्य 'चिह्न काव्य' है। इसमें बारह सर्गों में श्रीकृष्ण की लीला-वर्णन के साथ-साथ त्रिविक्रम देव के प्राकृत-सूत्रों की व्याख्या की गई है। इसी कारण इसकी प्रबन्धात्मकता त्रुटिपूर्ण हो गई है। रचयिता का समय १३वीं शती ई० है।

कौतूहल—इनकी रचना 'लीलावती-कथा' एक प्रेम-काव्य है। इसमें सातवाहन और लीलावती का प्रेम वर्णित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। कवि ने स्पष्ट रूप से अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है किन्तु कुछ छन्दों में 'कौतूहल' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही कवि का नाम ज्ञात होता है। कवि का समय १००० ई० के पूर्व माना जा सकता है।

नाटकीय प्राकृत

नाट्य-शास्त्र के विशारदों ने रूपकों में भी प्राकृतों के प्रयोग का विधान किया है। प्रायः स्त्रियाँ और सेवक आदि संस्कृत-नाटकों में भी स्वाभाविकता के लिए प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं। ये प्राकृतें प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री हैं। रूपकों में प्राकृतों के आंशिक प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ सट्टक भी मिलते हैं, जो आद्यन्त प्राकृत में हैं। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर (८८०-६२० ई०) की 'कर्पूर मंजरी' है। इसमें शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। इस श्रेणी की कुछ अन्य रचनाएँ नयचन्द्र की 'रंभा मंजरी' (१५वीं सदी ई०), रुद्रदास की 'चन्द्रलेखा सट्टक' (१७वीं सदी ई०), विश्वेश्वर की 'शृङ्गार मंजरी सट्टक' (१८वीं सदी) तथा घनश्याम की 'आनन्द सुन्दरी सट्टक' (१८वीं सदी) आदि हैं। वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से ये सभी सट्टक 'कर्पूर मंजरी' से प्रभावित हैं।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की प्राकृत

सन् १८६२ ई० खोतान में खरोष्ठी लिपि में लिखित एक 'धम्मपद' मिला है, जो प्राकृत में है। इस प्राकृत धम्मपद की भाषा को विद्वानों ने उत्तरी-पश्चिमी देश की बोली कहा है। इसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान में भी कुछ लेख मिले हैं। इनकी भाषा भी यही है। निय स्थान पर विशेष रूप से मिलने के कारण कुछ लोगों ने इसे निय प्राकृत कहा है। इस प्राकृत का विशेष महत्त्व भाषा की दृष्टि से है। साहित्यिकता इसमें प्रायः नहीं के बराबर है।

शिला-लेखों की प्राकृत

प्राकृत में प्राप्त प्राचीनतम शिला-लेख अशोक के हैं। उसके बाद के भी बहुत से शिला-लेख विभिन्न प्रान्तों में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में मिलते हैं। देश के अनुसार इनकी भाषा भिन्न है। इनमें भी साहित्यिकता नहीं के बराबर है।

प्राकृत-साहित्य की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है। प्राकृतों का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती से लेकर १८वीं शती तक विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूपों में होता रहा है। गद्य, पद्य, कथा, गीति, मुक्तक, प्रबन्ध तथा नाटक आदि सभी इसमें मिलते हैं, जो साहित्यिकता की दृष्टि से पर्याप्त सुन्दर और प्रौढ़ हैं तथा जिन्होंने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के साहित्य को ही नहीं एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत अंशों में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ एवं छन्द आदि इसके अपने हैं।

अपभ्रंश-साहित्य

संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त शब्द-रूपों को पतंजलि ने अपशब्द या अपभ्रंश (=पतित) कहा है। पर इन शब्दों से 'अपभ्रंश' का कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख करने वाले प्रथम व्यक्ति भामह हैं। आगे फिर दंडी ने भी इसका उल्लेख किया है और इसे आभीरों से सम्बद्ध बतलाया है। इसका अर्थ यह है उस समय अपभ्रंश में रचना होने लगी थी। देश-भेदों के अनुसार पहले-पहल रुद्रट ने अपभ्रंशों के भेदों का उल्लेख किया है। राजशेखर (८८०-६२०) के समय तक अपभ्रंश पतित भाषा न समझी जाकर राज-दरबारों में सम्मान पाने लगी थी। आभीरों और गुर्जरों का अपभ्रंश के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। ये अनार्य थे, अतः इनके संसर्ग में यहाँ की भाषा नई दिशा में चली गई। बाद में इन लोगों ने इसमें रचना आरम्भ की तथा इसे साहित्यिक महत्त्व दिलाया।

अपभ्रंश के लोगों ने तरह-तरह से भेद किये हैं। किसी ने ३ भेद तो किसी ने ११, और किसी ने २७। 'अपभ्रंश' के 'अपभ्रंश' के अतिरिक्त अवहट्ट, अवहंस तथा पटमंजरी आदि और भी कई नाम मिलते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का आरम्भ विक्रम की ८वीं शती के पहले तक जाता है, यों इसकी क्षीण रेखा ईसा की तीसरी शती तक भी मिल जाती है। इधर १६वीं-१७वीं तक इसकी सीमा-रेखा है।

इस पूरे साहित्य को जैन, बौद्ध, सिद्ध, शैव और ऐहिकतापरक इन चार धाराओं में देखा जा सकता है।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य

इसकी धारा वि० की ८वीं सदी से १६वीं सदी तक मिलती है। इसमें भी प्राकृत की भाँति मुक्तक और प्रबन्ध दो प्रकार की रचनाएँ हुई हैं।

मुक्तक शाखा की एक उपशाखा 'रहस्यवादी धारा' कही जा सकती है। योगीन्द्र, रामसिंह तथा सुप्रभाचार्य इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

योगीन्द्र—योगीन्द्र की 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' दो कृतियाँ मिलती हैं। इनमें ईश्वर, आत्मा तथा मोक्ष आदि के विषय में प्रश्नोत्तर हैं तथा कहीं-कहीं नैतिक उपदेश हैं। इनके कुछ और भी ग्रन्थ कहे जाते हैं पर उनकी भाव-धारा इन ग्रन्थों से नहीं मिलती। योगीन्द्र के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

रामसिंह मुनि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाहुड़-दोहा' है। इसमें गुरु, आत्मसुख, आत्मा और देह, समरसी भाव तथा मोक्ष आदि का विवेचन है। स्त्रियों की निन्दा तथा कुछ नीति की अन्य बातें भी इसमें मिलती हैं। विद्वानों का मत है कि इनका समय १००० ई० के लगभग है। 'पाहुड़-दोहा' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। इसमें कुछ छन्द संस्कृत तथा प्राकृत के भी हैं।

सुप्रभाचार्य—इनकी एक छोटी-सी रचना 'वैराग्य सार' मिलती है। इसमें संसार के सुखों से बचकर और मन मारकर वैराग्य भाव अपनाने का आदेश है। माया, ममता आदि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर रहने को भी कहा गया है। कवि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। भाषा के आधार पर उनका समय १००० ई० के आस-पास माना जा सकता है।

इस धारा के अन्य ग्रन्थों में महाणंदि (१००० ई० से १४०० ई० के बीच) का 'आनन्दा' तथा महचन्द (१६०२ के लगभग) का 'दोहा पाहुड़' आदि प्रधान हैं। इन दोनों का विषय भी प्रायः वही है।

इस धारा में और भी बहुत-सा साहित्य होगा पर आज या तो वह नष्ट हो गया है या भंडारों में पड़ा है। इस धारा की प्रधान विशेषताएँ साम्प्रदायिक साहित्य होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदारता, मन्दिर, मूर्ति तथा तीर्थ-सम्बन्धी रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोध तथा चारित्रिक शुद्धता पर जोर आदि हैं।

मुक्तक काव्य की दूसरी उपशाखा 'उपदेशात्मक धारा' की है। इसके प्रधान कवि और उनकी रचनाएँ निम्न हैं—

देवसेन—इनका ग्रन्थ 'सावयधम्म दोहा' इस धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। आरम्भ में 'गुरु-वन्दना' तथा 'दुर्जन-स्मरण' आदि भूमिका के बाद श्रावक-धर्म के ११ भेदों का विवेचन है। इसमें प्रवृत्ति-मार्ग द्वारा धर्म का पालन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव मानी गई है। देवसेन का समय संवत् ६९० के आस-पास है।

जिनदत्त सूरि—इनके तीन ग्रन्थ 'चर्चरी', 'उपदेश रसायन' और 'कालस्वरूप कुलक' हैं। प्रथम का सम्बन्ध गुरु-प्रशंसा आदि से, दूसरे का मनुष्य-जन्म, आत्मोद्धार से तथा कुछ लौकिक-पारलौकिक शिक्षाओं से एवं तीसरी का गुरु-महिमा तथा कुटुम्ब-संगठन से है। इन्होंने परलोक पर विशेष ध्यान न देकर लोक पर दिया है। कवि का समय संवत् ११३२ से १२१० तक है।

महेश्वर सूरि—इन्होंने एक छोटी-सी रचना 'संयम-मञ्जरी' लिखी है, जिसमें संयम को सर्वोत्तम साधन बतलाया है। इसमें साहित्यिकता कम है। इनका समय संवत् १५६१ के पहले होना चाहिए।

इस धारा की अन्य प्रधान रचनाएँ जयदेव मुनि (संवत् १०५४ के आस-पास) की 'भावना-सन्धि-प्रकरण' तथा विनयचन्द्र मुनि की 'कल्याणकरासु' एवं 'चूनड़ी' आदि हैं।

इस धारा की विशेषताएँ नीतिपूर्ण उपदेश, कुटुम्ब का ध्यान तथा संसार में रहते हुए निर्लिप्तता आदि हैं।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य में प्रबन्धात्मक रचनाओं का भी अभाव नहीं है। इनका प्रधान स्वर तो धार्मिक है पर साहित्यिक छटा भी इनमें कम नहीं है। इस धारा के प्रमुख कवि ये हैं—

स्वयंभू—इनके अभी तक तीन ग्रन्थ मिले हैं—'पउम चरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ' और 'स्वयंभू छन्द'। 'पउम-चरिउ' में राम की कथा है। उसमें ५ काण्ड हैं। आरम्भ में गुरु की प्रार्थना आदि के बाद कथा आरम्भ होती है। इसमें सभी पात्र जिन-भक्त हैं। दूसरी कृति का सम्बन्ध 'हरिवंश' तथा 'महाभारत' की कथा से है। तीसरी कृति छन्दों पर है। इनका समय ८०० और ९०० ई० के बीच में है।

पुष्पदन्त—इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवों की कथाएँ हैं। 'महापुराण' की भाषा और साहित्यिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी सुन्दर है। कवि की दूसरी कृति 'णायकुमार चरिउ' में मगधराज जलंधर-पुत्र की कथा है। तीसरी कृति 'जसहर चरित्र' का सम्बन्ध यशोधरा से है। इसमें काव्यात्मकता कम है। पुष्पदन्त के वर्णन बड़े सजीव हैं। इनका समय संवत् १०४४ से कुछ पूर्व है।

पद्मकीर्ति—इनकी प्रसिद्ध रचना 'पासचरिउ' है, जिसमें पार्श्वनाथ का पूरा चरित्र वर्णित है। इनका समय संवत् ९९२ के आस-पास है।

धवल—धवल की विशाल कृति 'रिट्ठणेमिचरिउ' है। कवि का समय १०वीं या ११वीं सदी ई० ज्ञात होता है।

धनवाल—इनकी कृति 'भविदत्त कहा' है। इसमें सज्जन-दुर्जन-स्मरण तथा श्रुतपंचमी-फल की व्याख्या करते हुए कथा आरम्भ की गई है। यह एक साहसी किन्तु धार्मिक बनिए की प्रेम-कथा है। इसमें धार्मिक पात्रों का उत्तरोत्तर अभ्युदय दिखाया गया है। कवि के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। याकोबी का मत है इसका समय १०वीं सदी ई० होना चाहिए।

हरिषेण—इसकी कृति 'धर्म-परीक्षा' ब्राह्मण-धर्म पर एक व्यंग्य है। पुराणों की कथाओं पर इसमें प्रहार किया गया है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि का समय वि० सं० १०४० के आस-पास है।

वीरकवि—जैन-सम्प्रदाय के अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के जीवन को लेकर इन्होंने 'जम्बू स्वामी चरित' लिखा है। इनका समय सं० १०७६ वि० के आस-पास है।

नयनन्द—इन्होंने 'सुदर्शन-चरित' में पंच नमस्कार फल के दृष्टान्त रूप में सुदर्शन की कथा प्रस्तुत की है। इसके कथानक में कसाव नहीं है। इनकी दूसरी कृति 'सकल विधि विधान' काव्य है। नयनन्द का समय ११०० वि० के लगभग है।

इस धारा के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ—कनकाभर (१०५० वि० के लगभग) का 'करकंडुचरिउ', धाहिल (सं० ११९१ से पूर्व) का 'पंउमसिरचरिउ', श्रीचन्द (११-१२ सदी) के 'कथाकोश' तथा 'रत्नकरंडशास्त्र', देवसेनगणि (१२वीं या १४वीं सदी वि०) की 'सुलोचना चरित', हरिभद्र (सं० १२१६ के आस-पास) का 'सनत्कुमार चरित', लक्खण (सं० १३१३ के लगभग) का 'अणुवयर यणपईउ', लक्खमदेव (सं० १५१० के आस-पास) का 'नेमिनाथ चरित', रयूथ (१५ वीं सदी के आस-पास) के 'आदि पुराण', 'यशोधरचरित' तथा 'सिद्ध चक्रचरित' आदि २३ ग्रन्थ, जयमित्रहल (सं० १५४५ के पूर्व) का 'वर्द्धमान चरित्र' तथा हरिदेव (सं० १५७६ के पूर्व) का 'मदन पराजय' आदि हैं।

संक्षेप में, जैन-अपभ्रंश-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा अपभ्रंश-साहित्य की बाह्य और आन्तरिक सभी प्रकार की विशेषताएँ इसमें हैं। इसके विशेषतः कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धर्म-प्रधान काव्य होते हुए भी चरित्रों को अतिमानवीय रूप कहीं भी नहीं प्रदान किया गया है। शुभ कर्म करने वालों को शुभ फल मिलता है। यही इनका सबसे बड़ा सन्देश है। इनका जगत् और जीवन के प्रति बड़ा स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण है। इनमें परलोक से कम लोक का ध्यान नहीं है।

रूप की दृष्टि से इन प्रबन्ध-काव्यों में खण्ड और महाकाव्य दोनों हैं। कडवक-बद्ध शैली का सभीमें प्रयोग किया गया है। अलंकार की दृष्टि से परम्परा अपनाने के अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन जीवन से नये उपमान भी खोजे हैं। समकालीन इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ कृतियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

धार्मिक अपभ्रंश : बौद्ध-सिद्धों की अपभ्रंश-रचनाएँ

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान, सहजयान तन्त्रयान आदि के रूप में हुई। आचार्यों ने इनके सिद्धान्तों के विवेचन के लिए अपभ्रंश को ही माध्यम बनाया। इनके प्राप्त ग्रन्थों का विद्वानों ने बड़े उत्साह के साथ अध्ययन किया है। हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित कराया है। डॉ० चटर्जी ने इनकी भाषा पर विचार किया है। डॉ०शहीदुल्ला, डॉ० बागची और सुकुमार-सेन ने भी इस पर कार्य किया है और पुस्तकें भी लिखी हैं।

सिद्धों की इन रचनाओं में दो प्रकार की भाव-धारा मिलती है। एक तो सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचन की तथा दूसरी उपदेश और खण्डन-मण्डन की। वज्रयान का प्रमुख तत्त्व शून्यवाद है। उनकी दूसरी विशेषता सर्ववाद की भावना है। बाद में इनमें और भी आचार आ गए, जिनमें पंच मकार (मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्र और मैथुन) प्रधान हैं।

अब तक इनका जितना साहित्य मिला है। काद्रपाद, भुसुकपाद तथा सरकपाद आदि २३ सिद्धों की रचनाएँ हैं। यों इनकी संख्या ८४ बताई गई है। सभी रचनाओं में प्रायः मिलती-जुलती बातें व्यक्त की गई हैं। अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तर्गत रहने वाले सहजानन्द की प्राप्ति इनका परम लक्ष्य है। अन्य मार्गों को टेढ़ा बतलाकर सहज मार्ग को सीधा कहा गया है। कुछ ने गुरु की आवश्यकता पर भी जोर दिया है।

सिद्धों के छन्दों में विविधता नहीं है। 'चर्यागीत' में गेय पद हैं। 'दोहा-कोष' में प्रधान छन्द दोहा है। कुछ सोरठे तथा और छन्द भी हैं। सिद्धों की भाषा के दो रूप हैं। एक तो पूर्वी अपभ्रंश, जिसमें पार्श्व भी अपभ्रंश के रूप हैं और दूसरा शौरसेनी अपभ्रंश। इनका समय सन् ८०० से १००० तक ज्ञात होता है।

तन्त्र-शास्त्र से सम्बन्धित दूसरी अपभ्रंश-कृति 'डाकार्णव तन्त्र' है। इसमें वज्रयान के सिद्धान्तों का विवेचन है। इसमें गुरु का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वी से प्रभावित अपभ्रंश है। इसमें चौपाई आदि प्रमुख छन्द हैं। इनका रचना-काल ११ वीं सदी ई० के आस-पास है।

धार्मिक अपभ्रंश : शैवों की अपभ्रंश-रचनाएँ

कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की भी कुछ रचनाएँ अंशतः अपभ्रंश में मिलती हैं। अभिनव गुप्त के 'तन्त्र सार' का इनमें प्रमुख स्थान है। इसमें शैव-मत की व्याख्या है। इसमें व्यक्ति ही परम शिव माना गया है। वह अशुद्धि के कारण अपने-आपको नहीं देख पाता। 'तन्त्र सार' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राकृत अपभ्रंश में पूरे अध्याय का सार दिया गया है। यों यह ग्रन्थ संस्कृत में है। इसका रचना-काल १०१४ ई० के आस-पास है।

दूसरी उल्लेख्य कृति भट्ट वामदेव महेश्वराचार्य की 'जन्म-मरण-विचार' है। इसमें परम शिव की शक्ति और उनके प्रसार का विवेचन है। इसमें एक दोहा अपभ्रंश में है। इसका रचना-काल ११ वीं शती ई० का अन्तिम भाग ज्ञात होता है।

गोरखनाथ के 'अमरोघशासन' में भी एक अपभ्रंश-पद्य मिलता है। कश्मीरी भाषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे प्राचीन नमूना लल्ला के 'लल्ला वाकूपानि' में मिलता है। इसे लिखित रूप पीछे दिया गया, अतः भाषा की प्राचीनता अब ज्यों-की-त्यों नहीं मिल सकती। शिति कण्ठाचार्य की कृति 'महानय प्रकाश' में ६४ अपभ्रंश-पद्य हैं। इसका रचना-काल १५ वीं सदी ई० उत्तरार्द्ध है।

शैव-सम्प्रदाय की इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है। केवल भाषा की दृष्टि से इनका महत्त्व है। साथ ही इनकी भाव-धारा भी महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुगीन साधकों की भाव-धारा की पृष्ठभूमि उन्हींकी सहायता से स्पष्ट हो सकती है।

ऐहिकतापरक अपभ्रंश-साहित्य

इस श्रेणी का साहित्य दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग में तो वे पद्य आते हैं, जो अलंकार, छन्द या व्याकरण आदि के ग्रन्थों में उद्धृत हुए मिलते हैं। इनमें साहित्यिक सौन्दर्य बहुत अधिक है। दूसरे वर्ग में प्रबन्धात्मक कृतियाँ रखी जा सकती हैं।

प्रथम वर्ग के लिए कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक के अपभ्रंश-पद्य, जिनमें प्रकृति-वर्णन आदि बड़े सुन्दर और सजीव हैं। चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' के दो दोहे, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त एक दोहा, भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के १८ अपभ्रंश पद्य। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण' में उद्धृत नीति, शृङ्गार, प्रेम तथा नायक-नायिकाओं के रूप-वर्णन आदि अनेक विषयों के छन्द, प्राकृत पैंगल के कुछ पद्य तथा पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में प्राप्त छन्द देखे जा सकते हैं। ये मुक्तक छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं पर शृङ्गार, प्रेम, वैराग्य, नीति, सूक्ति आदि की विविधता एवं आलंकारिक छटा से ये अपूर्ण हैं। यही मुक्तक धारा रीति-काल तक आई और आध्यात्मिक स्वर मन्द हो जाने पर केवल शृङ्गारपूर्ण रह गई।

दूसरे वर्ग—प्रबन्धात्मक कृतियों—में आज केवल दो-तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। 'सन्देश रासक' 'मेघदूत' की तरह २२३ पद्यों में समाप्त एक सन्देश-काव्य है। विजयपुर की एक विरहिणी नायिका एक पथिक द्वारा अपना सन्देश भेजती है। इसमें ऋतु-वर्णन आदि बड़ा सुन्दर है। विरहिणी के भावों का भी चित्रण बड़ा आकर्षक हुआ है। इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। इसका रचयिता अब्दुल रहमान था। इसकी रचना सं० १४६५ के पूर्व की गई होगी। विद्यापति की 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरित-काव्य है। इसमें कीर्तिसिंह के वंश तथा वीरता, और विजय तथा अभिषेक आदि का वर्णन है। 'कीर्तिलता' में काव्य-वैभव बहुत कम है। इसकी भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। विद्यापति का समय ई० १४वीं १५वीं सदी है। इनकी दूसरी पुस्तक 'कीर्ति पताका' में भी कुछ अपभ्रंश के पद्य निकले हैं।

हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

काव्य-रूपों पर प्रभाव

पीछे के अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश-काव्यों की रचना प्रधाव रूप से हिन्दी के प्रारम्भ काल तक होती रही, या यों कहिए कि अपभ्रंश की ही काव्य-धाराएँ धीरे-धीरे परिवर्तित होकर हिन्दी में भी प्रवाहित हो रही हैं। हिन्दी के मध्ययुगीन प्राचीन साहित्य में जो साहित्यिक रूप और शैलियाँ मिलती हैं उनका अनायास आरम्भ नहीं हुआ। उस समय तक साहित्य के क्षेत्र में प्रवाहित रूप ही पुष्ट होकर इस रूप में आए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य-रूप संक्षेप में इस प्रकार थे—

प्राकृत

(१) प्रबन्ध काव्य

(१) साहित्यिक महाकाव्य—सेतुबन्धादि

(२) जैनों के धार्मिक प्रबन्ध-काव्य—महावीर चरित आदि

(३) गद्य-पद्य-मिश्रित कथा-कृतियाँ—वसुदेव हिण्डी आदि

(२) मुक्तक

(१) गाथा सप्तशती आदि मुक्तक

(२) अन्य कृतियों में उद्धृत छन्द

(३) रूपकों में प्रयुक्त पद्य तथा सट्टक रचनाएँ

अपभ्रंश

(१) प्रबन्धात्मक काव्य

(अ) विशाल चरित-काव्य—महापुराण आदि

आखण्ड काव्य— (क) कल्पना-प्रधान—सन्देश रासक आदि

(ख) ऐतिहासिक—कीर्तिलता

(ग) व्रतादि की पद्यबद्ध कथाएँ

(२) मुक्तक (१) दोहाबद्ध उपदेश-प्रधान धारा

(२) दोहाबद्ध शृङ्गार-प्रधान धारा

(३) पद-शैली के गीति

अपभ्रंश के विविध काव्य-रूपों में कुछ का सम्बन्ध सीधा जनता से था। समयानुसार उन्हींके लिए परिवर्तित भाषा का प्रयोग होने लगा। यह परिवर्तित भाषा ही हिन्दी थी। भाव-धारा के लिए बहुत-से लोगों ने संस्कृत की ओर देखा, पर बाह्य रूपों के लिए वे अपभ्रंश की ओर ही झुके।

उत्तर मध्यकालीन तक के हिन्दी-काव्य-रूपों की प्रधान धाराएँ इस प्रकार हैं—

(क) प्रबन्धात्मक रूप

(१) चारण काव्य—रासो ग्रन्थ तथा राजाओं के चरित-काव्य

(२) धार्मिक साहित्यिक चरित काव्य—रामचरित मानस आदि

धार्मिक साहित्यिक शिथिल प्रबन्धात्मक काव्य—सूरसागर आदि

(३) आध्यात्मिक झलक की प्रेम-गाथाएँ—पद्मावत आदि

(४) ऐहिकतामूलक प्रेम-कथाएँ—ढोला मारू का दूहा आदि

(५) साहित्यिक प्रबन्ध-काव्य—रामचन्द्रिका आदि

(ख) मुक्तक रूप

(१) विषय-प्रधान मुक्तक पद-शैली—गोरख, कबीर आदि के पद

विषय-प्रधान मुक्तक दोहा-शैली—बिहारी आदिक दोहे

विषय-प्रधान मुक्त विविध छन्दबद्ध काव्य—सवैया आदि

(२) उपदेश, नीति, शृङ्गार, सुभाषित आदि—रहीम, मतिराम आदि के दोहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) गीति-काव्य—विद्यापति, सूर, मीरा आदि के पद

अपभ्रंश में दृश्य-काव्य नहीं था, अतः मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में भी यह धारा नहीं मिलती।

चारण-साहित्य की परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवताओं की स्तुतियों तक ले जाई जा सकती है। एक देव और ईश्वर का यश गाते थे तो दूसरे वीरों का। हिन्दी-चारण-साहित्य के पिंगल और डिंगल भाषा में लिखे होने से दो रूप हो जाते हैं। पिंगल रचनाओं की फिर दो उपशाखाएँ (१. अजैन और २. जैन) की जा सकती हैं।

अजैन के भी स्वाभाविक और साहित्यिकता से लदे हुए दो भेद किये जा सकते हैं। पहले का सुन्दर उदाहरण 'बीसलदेव रासो' तथा दूसरे के 'पृथ्वीराज रासो', 'वीरसिंह देव चरित', 'जंगनामा' तथा 'शयमरासा' आदि हैं। ये सभी ऐतिहासिक पुरुषों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हैं। सभी का रूप भी प्रायः एक है।

जैन-रचनाओं में रास नाम से बहुत-सी रचनाएँ व्रज में मिलती हैं। धर्म सूरि की 'जम्बू-स्वामी रास', श्वेताम्बर साधु की 'गोतम रासा' तथा पृथ्वीपाल की 'श्रुतपंचमी रास' आदि उदाहरण के लिए ली जा सकती हैं। इन सबमें एक अपूर्व समानता है। अपभ्रंश में पाए जाने वाले जैन-काव्यों से ये सभी मिलते-जुलते हैं। इनमें चौपाई, दोहा तथा छप्पय आदि के अतिरिक्त लोक-प्रचलित गेय पदों का प्रयोग हुआ है यह प्रवृत्ति भी प्राकृत तथा अपभ्रंश के भी इस श्रेणी के काव्यों में मिलती है। 'बीसलदेव रासो' भी इसी परम्परा में आता है। अन्य 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थ उसी परम्परा के कृत्रिम साहित्यिक रूप हैं।

डिंगल में रचित इस प्रकार के काव्य 'छन्दराउ जलसीरउ', 'वचनिका रतन सिंघरी' तथा 'राणा रासो' आदि हैं। ये भी रूप तथा विषय आदि में उपर्युक्त ग्रन्थों के समान ही हैं। गुजराती रास भी भाव-धारा आदि में इसी प्रकार हैं। इस तरह क्या गुजराती, क्या हिन्दी सभी अपभ्रंश और प्राकृत की अनुरूप धारा की ही परम्परा में है।

रास या रासो नामक काव्य-रूप का प्रथम स्पष्ट उल्लेख बाण (८वीं शती वि०) ने 'हर्ष-चरित' में किया है। वहाँ इसका अर्थ मंडलाकार नृत्य तथा अश्लील पद है। उद्योतन सूरि ने भी 'कुवलय माला कथा' में प्रायः इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। आगे चलकर इसका अर्थ जन-मन को आनन्द देने वाला हो गया। जैन-कवियों द्वारा रचित रास धर्म के समीप होने से ऐहिकता से कुछ अलग होते भी पर्याप्त सरस है। इसका आरम्भ में मूल आधार लोक-प्रचलित रास या नृत्य रहा होगा। अपभ्रंश में कुछ रास-कृतियों के तो केवल नाम मिलते हैं पर दो—'उपदेश-रसायन रास' तथा 'सन्देश रासक' उपलब्ध भी हैं। प्रथम कृति तो गुरु-निन्दा या स्तुति आदि से सम्बन्धित है, पर दूसरी 'बीसलदेव रासो' की भाँति एक वियुक्ता नायिका का सन्देश है। आगे यही हिन्दी तथा गुजराती आदि में शृङ्गारपूर्ण जीवन-चरित्र या वीर और शृङ्गार से मिश्रित हो गया।

प्रेमाख्यानक-काव्यों के दो वर्ग किये जा सकते हैं। एक वर्ग तो उन रचनाओं का है, जिनमें प्रेमाख्यान के साथ जीवन के गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान है और आध्यात्मिकता का भी पुट है। दूसरे वर्ग में प्रेम की परीक्षा कराते हुए प्रेमी-प्रेमिका का संयोग-मात्र है पहले वर्ग में 'पद्मावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' तथा 'पुहुपावती' आदि हैं। दूसरे वर्ग में चतुर्भुजदास निगम कायस्थ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मधुमालती' गणपति की 'कामकन्दला' तथा 'ढोलामारू' आदि हैं। 'ऊषा-अनिरुद्ध' आदि पौराणिक प्रेमाख्यान भी इसीमें आते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाएँ प्रेम-कथाएँ तो हैं ही, साथ ही अध्यात्म भी उनके साथ है; पर दूसरी कोरी ऐहिकतामूलक हैं और प्राकृत-अपभ्रंश के इस प्रकार के काव्यों की परम्परा में हैं। जैन-लेखकों की 'वसुदेव हिण्डी' आदि इसी प्रकार की हैं। वहाँ इन्हें धर्म का पतला आवरण अवश्य पहनाया गया है। जैनेतर पद्यबद्ध कथा-ग्रन्थ अभी तक नहीं मिले हैं, पर जैन-कृतियों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी-प्रेमाख्यानकों की दोहा-चौपाई-शैली का पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश में रहा होगा।

अपभ्रंश-चरित-काव्यों का जैसा बाह्य रूप मिलता है वही 'रामचरित मानस' आदि का भी है। अपभ्रंश में स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' भी राम-कथा है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में भी यह कथा है। नहीं कहा जा सकता कि तुलसी को इन रचनाओं का पता था या नहीं। स्वयम्भू ने राम-कथा को नदी की समता दी है, विनय के साथ अपनी अयोग्यता प्रकट की है, सज्जनों-दुर्जनों के बारे में लिखा है और तुलसी ने उसे सरोवर कहा है तथा और बातें प्रायः स्वयम्भू की भाँति लिखी हैं। तुलसी के मानस की छन्दों की रूप-रेखा अपभ्रंश के चरित-काव्यों के समान है।

हिन्दी में विशुद्ध महाकाव्य लिखने का प्रयास 'रामचन्द्रिका' में है। नयनन्दि का 'सुदर्शन-चरिउ' तथा लालू का 'जिनदत्त चरिउ' भी प्रायः ऐसे ही हैं। 'रामचन्द्रिका' की छन्द-विविधता इन दोनों में मिलती है।

सूर के 'सूरसागर' का भी हल्का सूत्र मिलता है। बौद्ध-सिद्धों के गानों का यही रूप है। वे भी रागबद्ध हैं। हाँ, उनमें कथा अवश्य नहीं है। सम्भव है कोई वैसी भी कृति रही हो, जो आज उपलब्ध नहीं है।

मुक्तक पद गोरख, विद्यापति, कबीर, तुलसी, मीरा, आदि में हैं। सिद्धों के गीतों में और इनमें इतना ही अन्तर है कि उनमें गीति-तत्त्व कम और विषय का विवेचन अधिक है। गोरख और कबीर के नाद, बिन्दु, रवि, शशि तो 'दोहा-कोष' से ही हैं। इनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः वहीं से आती दिखाई पड़ती है।

हिन्दी में दोहों का प्रयोग शृङ्गार, नीति, मत-विवेचन आदि में भी बहुत हुआ है। सन्त तुलसी, बिहारी आदि इसके प्रमाण हैं। प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' और 'वज्जालग्ग' इन्हीं विषयों के संग्रह हैं। 'गाथा सप्तशती' और बिहारी में तो भावसाम्य भी खूब है। सन्तों की साखियों का रूप योगीन्द्र तथा रामसिंह आदि के छन्दों में मिलता है।

सवैया-कवित्त की धारा प्राचीन अपभ्रंश साहित्य में नहीं मिलती। सम्भव है भविष्य में अपभ्रंश का विस्तृत अध्ययन इस कमी को पूरा कर दे।

रचना-शैली और छन्दों का प्रभाव

प्राकृत और अपभ्रंश की रचना-शैलियों में अन्तर है। साहित्यिक के प्राकृत की कुछ कृतियों में संस्कृत-काव्यों की शैली का अनुकरण किया गया है, जैसे 'सेतुबन्ध' में। किन्तु 'गौडव्य'-जैसी कृतियों में मौलिकता भी मिलती है। हिन्दी की कुछ काव्य-धाराओं की रचना-शैली और जैन-अपभ्रंश के चरित-काव्यों में रचना-शैली में कुछ-कुछ साम्य आरम्भ में वन्दना, सज्जन-दुर्जन स्मरण तथा विनम्रता आदि—मिलता है। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा तुलसी के 'मानस' या जायसी के 'पद्मावत' में यह समानताएँ देखी जा सकती हैं। जायसी ने देशादि तथा ऋतुओं के जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन किये हैं वे भी अपभ्रंश के चरित-काव्यों में हैं। जायसी का वियोग-वर्णन 'सन्देशरासक' के वियोग-वर्णन के बहुत समीप है।

हिन्दी-काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश-छन्दों का पड़ा है। प्राकृत-अपभ्रंश में विशेष रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, पर साथ ही वर्ण-वृत्तों के भी कुछ सफल प्रयोग हैं। प्राकृत के प्रिय छन्द गाथा तथा उसके अनेक भेद हैं। अपभ्रंश के चरित या आख्यान-काव्यों में कडवक-बद्ध छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कुछ अपवाद भी अवश्य मिलते हैं। कुछ ने केशव की भाँति अनेक छन्दों के भी प्रयोग किये हैं। अपभ्रंश में पुराने छन्दों को मिलाकर नवीन छन्द बनाने की भी प्रवृत्ति है। छप्पय, वस्तुरड्डा तथा कुण्डलिया आदि इसी प्रकार के छन्द हैं। अपभ्रंश की एक प्रवृत्ति यह भी है कि कवियों ने चतुष्पदी तथा षट्पदी के द्विपदी की भाँति प्रयोग किये हैं। कुछ संस्कृत के छन्द भी नवीन विशेषताओं के साथ प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में गेय छन्द भी हैं। हिन्दी में अपभ्रंश-छन्दों की सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं। यहाँ भी चरितकाव्यों 'पद्मावत' तथा 'मानस' आदि में अपभ्रंश की भाँति कडवक शैली का प्रयोग मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'सुजान-चरित' आदि में प्राकृत छन्द 'गाहा' के प्रयोग मिलते हैं। यह छन्द 'सन्देशरासक' आदि अपभ्रंश-ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है।

समद्विपदी के अपभ्रंश में पुष्पदन्त आदि ने सुन्दर प्रयोग किये हैं। हिन्दी में सूदन ने इसका प्रयोग किया है। २८ मात्रा की द्विपदी के उल्लाला, घत्ता आदि प्रमुख भेद हैं। उल्लाला का हिन्दी में बहुत प्रयोग हुआ है। सम चतुष्पदी छन्दों में मधुभार, विजोहा, दीपक, चौपाई, आभीर, मालती, विज्जुमाला, अरिल्ल, पादाकुलक तथा हरीदुरद आदि छन्दों का अपभ्रंश में प्रयोग हुआ है। इनमें कइयों का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो', 'सुजान-चरित', 'हम्मीर रासो' आदि कृतियों में मिलता है। कुछ अपभ्रंश-छन्दों के नाम बदलने की प्रवृत्ति हिन्दी में रही है। अपभ्रंश में भी कुछ प्राकृत छन्दों के नाम परिवर्तित मिलते हैं। अर्द्ध सम चतुष्पदी छन्दों में दोहा, सोरठा तथा हरिपद आदि हैं। दोहा अपभ्रंश का प्रिय और प्राचीन छन्द है। 'कीर्तिलता', 'सन्देश रासक' तथा अन्य बहुत-सी स्फुट रचनाओं में दोहे का प्रयोग हुआ है। हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों तथा मुक्तक (नीति तथा शृङ्गार आदि) में दोहे का अपना विशिष्ट स्थान है। सोरठे का प्रयोग अपभ्रंश की 'परमात्म प्रकाश' आदि कृतियों में मिलता है। हिन्दी में भी भक्ति और रीतिकाल में इसके प्रयोग हुए हैं। हरिपद प्रचलित न होने पर भी अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में प्रयुक्त हुआ है। मिश्र छन्दों में प्रधानता छप्पय तथा कुण्डलिया को दी जा सकती है। कुण्डलिया प्राचीन अपभ्रंश-ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं है, पर 'छन्दकोश' आदि में इसके उदाहरण मिलते हैं। छप्पय का प्रयोग कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश-अंश में मिलता है। कहना न होगा कि हिन्दी में ये दोनों पर्याप्त प्रचलित छन्द रहे हैं।

वर्णवृत्तों का प्रयोग अपभ्रंश के चरित-काव्यों में विशेष रूप में मिलता है। फिर भी पूरे अपभ्रंश-साहित्य को देखने पर मात्रिकों की तुलना में इनकी संख्या अत्यन्त न्यून है। हिन्दी में भी आधुनिक प्रयोगों को छोड़ दिया जाय तो रासो-ग्रन्थ तथा 'रामचन्द्रिका' आदि कुछ ग्रन्थों में ही वर्ण वृत्तों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मानस में केवल ३ या ४ ही वर्णवृत्त मिलते हैं। अधिक विस्तार में न जाकर कुछ हिन्दी-छन्दों के नाम दिये जा सकते हैं, जो प्राकृत विशेषतः अपभ्रंश की परम्परा से आए हैं—चौपाई, पादाकुलक, दोहा, सार, ताटंक, रूपमाला तथा सोरठा, भुजंगप्रयात, सवैया, छप्पय, वीर, रोला, गीतिका, तथा मनहरण आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के पदों का यही रूप अपभ्रंशादि में नहीं मिलता। अपभ्रंश में दो छन्दों के मेल से निर्मित मित्रबन्ध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही अपभ्रंश में कडवकों के पश्चात् लघु रचनाओं को गाते समय ध्रुवक को दुहराने की पद्धति रही होगी। इन्हीं तत्त्वों का विकसित या मिश्रित रूप पद ज्ञात होता है। पद रागों के अनुसार विभक्त होते हैं। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इससे मिलती-जुलती परम्परा अपभ्रंश में भी रही है। अलंकारों के क्षेत्र में प्राकृत-अपभ्रंश-कवियों ने परम्परा से प्राप्त अप्रस्तुत विधान को तो अपनाया ही, साथ ही अपने चारोंओर के जीवन सेन वीन सामग्री भी ली। यह प्रवत्ति हिन्दी-कवियों में भी रही है। कबीर के जुलाहे आदि के रूपक इसी प्रकार की नवीनताओं की श्रेणी में आते हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति सर्वप्रथम अपभ्रंश में मिलती है। भौंरों की गुञ्जार, संगीत की ध्वनि तथा वर्षा-वर्णन के लिए प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में भी युद्ध, वायु, वर्षा आदि के वर्णनों में इन शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलता है।

कथानकों का प्रभाव

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त कथानकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, एक तो पौराणिक (जैसे राम, कृष्ण आदि) और दूसरा लोक-प्रचलित (जैसे सूफी कवियों की पद्मावती, मृगावती आदि)। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही दो प्रधान भेद मिलते हैं। जहाँ तक हिन्दी में इन कथानकों को लेने का प्रश्न है पौराणिक कथानक तो विशेष रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से न लिये जाकर संस्कृत से लिये गए हैं, पर लोक-कथानक अवश्य अपभ्रंश से विशेष रूप से प्रभावित हैं। सूफी-काव्यों में सिंहल द्वीप की सुन्दरियों का वर्णन आया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'भविष्यदत्त कथा', 'करकण्डुचरिउ', 'जिनदत्त चरित', 'रत्नशेखर नरपति कथा' तथा 'श्रीपाल-चरित' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख आए हैं। जायसी के जोगी-खंड का जोगी-वर्णन भी बहुत अंशों में 'जसहरचरिउ' तथा शैलाचार्यों के वर्णनों से मिलता-जुलता है। कृष्ण-काव्य की राधा को पढ़कर कभी-कभी 'गाथा सप्तशती' के कुछ छन्द याद आ जाते हैं। कृष्ण के भी कुछ चित्र पुष्पदन्त आदि में मिल जाते हैं। हिन्दी की जैन-काव्य-धारा के कथानक तो अधिकांशतः प्राकृत तथा अपभ्रंश जैन-काव्य के कथानकों से प्रभावित हैं। इस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश-कथानकों का हिन्दी के कथानकों पर पर्याप्त प्रभाव है।

इन समानताओं के अतिरिक्त भाव-धारा की समानताएँ भी कुछ हिन्दी तथा अपभ्रंश-साहित्य में मिल जाती हैं। जैन, बौद्ध तथा शैव-साधकों का स्वर बाद में नाथ-पंथ तथा सन्तों में दिखाई पड़ता है। ये सभी जप, तप, पूजा, अर्चना, तीर्थ, वर्ण, अवतार तथा शास्त्र के विरोधी थे। विद्वानों का कहना है कि वैदिक युग से ही इस प्रकार के विरोधी लोग यहाँ थे और वही परम्परा अब तक किसी-न-किसी रूप में आ रही है। 'गुरु' के विषय में भी हिन्दी-साहित्य प्राकृत-अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है। बिहारी आदि की शृङ्गार-धारा के भाव भी 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' तथा हेमचन्द्र में मिल जाते हैं। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य बाह्य और आन्तरिक सभी रूपों में प्राकृत, विशेषतः अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है।[1]

---

१. लेखक के डी० फिल० के अप्रकाशित थीसिस का संक्षिप्त रूप, श्री भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तुत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र

हिन्दी में इस समय काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। एक तो रीतिकालीन आचार्यों के ग्रन्थ; जैसे केशवदास-कृत 'कविप्रिया', भिखारीदास-कृत 'काव्य-निर्णय' आदि तथा दूसरे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के आधार पर लिखे गए आधुनिक ग्रन्थ; जैसे बा० श्यामसुन्दरदास-कृत 'साहित्यालोचन'। प्रश्न यह है कि क्या इन दो श्रेणियों के ग्रन्थों में से किन्हीं को भी हम हिन्दी काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ मान सकते हैं।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के परिभाषा के भाग प्रायः इस विषय के संस्कृत-ग्रन्थों के इन अंशों के स्वतन्त्र अनुवाद हैं अथवा उन्हें आदर्शस्वरूप सामने रखकर लिखे गए हैं। उदाहरण के अंशों में भी हिन्दी के प्रसिद्ध पूर्ववर्ती भक्तिकालीन कवि—जैसे तुलसीदास, सूरदास आदि के ग्रन्थों से उपयुक्त उद्धरण संकलित करने का प्रयास नहीं किया गया बल्कि कल्पित उदाहरण गढ़ कर दिये गए हैं। कहीं-कहीं संस्कृत उदाहरणों का ही छायानुवाद दे दिया गया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थों का सार है; न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित-साहित्य से ही। उदाहरण के लिए इन हिन्दी-ग्रन्थों में नाट्यकला-सम्बन्धी० अध्याय में हडसन अथवा इसी श्रेणी के किसी अंग्रेजी लेखक के विचारों का अनुवाद अथवा भावार्थ मिल जायगा। हिन्दी-लेखक न इस रूप के सिद्धान्तों का परिचय देने का यत्न करेगा और न हिन्दी नाटकों के आधार पर किन्हीं मौलिक सिद्धान्तों के निर्माण का ही यत्न करेगा।

इस प्रकार हम उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के ग्रन्थों को हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र अथवा आलोचना-शास्त्र नहीं मान सकते। इसका निर्माण अभी होना है। इस टिप्पणी में मैं इसी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रश्न यह किया जा सकता है कि हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र कैसे निर्मित हो। उत्तर सीधा है। इसका निर्माण हिन्दी-साहित्य के आधार पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए सूरदास अथवा तुलसीदास आदि के ग्रन्थों में प्रयुक्त समस्त अलंकारों के वास्तविक संकलन तथा विश्लेषण के आधार पर हिन्दी-अलंकार-शास्त्र की नींव डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह विशेष ध्यान रखना आवश्यक होगा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सूरसागर' अथवा 'मानस' के अलंकारों को संस्कृत अथवा रीतिकालीन अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों में पाई जाने वाली परिभाषाओं की कसौटी पर न कसा जाय बल्कि उन्हें मौलिक प्रयोग मानकर उनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। इसी प्रकार से हिन्दी में रस, नायिका-भेद, गुण-दोष, छन्द-शास्त्र आदि के ग्रन्थ तैयार होने चाहिएँ।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य का भी इसी प्रकार विश्लेषण करने की आवश्यकता होगी। प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर ही हिन्दी के अपने नाट्य-शास्त्र की नींव पड़ सकेगी और इसी नींव पर इस विषय के भवन का निर्माण करना होगा। प्रेमचन्द की कहानियों का शास्त्रीय अध्ययन हमें अपनी कहानी-कला के सिद्धान्तों की मौलिक सामग्री दे सकेगा। थोड़ी देर के लिए संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को भुलाकर हमें यह कार्य करना होगा।

हिन्दी के अपने काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के निर्माण के कार्य को हमें दो भागों में बाँटना होगा। व्यक्तिगत हिन्दी कवियों तथा लेखकों की कृतियों का शास्त्रीय विश्लेषण करना, क्रमबद्ध करना तथा उससे निष्कर्ष निकालना। इसमें खोज-कार्य में दिलचस्पी रखने वाले सैकड़ों विद्यार्थियों को लगाया जा सकता है। यह कार्य पूरा हो जाने पर इस सामग्री के आधार पर हिन्दी के विद्वान् हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ लिख सकेंगे जो हिन्दी-साहित्य से संकलित उदाहरणों से पूर्ण रहेंगे—एक प्रकार से उन्हीं का निचोड़ होंगे। यह हिन्दी का काव्य-शास्त्र संस्कृत अथवा अंग्रेजी काव्य-शास्त्र से किस अंश में प्रभावित है तथा किस अंश में मौलिक है यह कार्य अन्त में तीसरी खेप के विद्वानों के लिए छोड़ देना चाहिए। हिन्दी के अपने साहित्य-शास्त्र के निर्माण की वास्तविक सीढ़ियाँ तो पहली और दूसरी हैं जिनमें हिन्दी आलोचना-शास्त्र के विद्यार्थियों तथा विद्वानों को शीघ्र कदम उठाना है।

चन्द्रबली पांडे

जायसी की भूल

'जायसी-ग्रन्थावली' में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त का कहना है—

"यद्यपि मार्गशीर्ष-पौष मास हेमन्त के माने गए हैं, किन्तु 'हेम' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

साथ ही यहाँ इतना और भी समझ लें कि इसके ठीक पश्चात् अगले ही 'छन्द' में फिर आपकी ही टिप्पणी है—

"माघ-फाल्गुन मास शिशिर के ही माने गए हैं, किन्तु 'सिसिर' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठहरते हैं, इसलिए यहाँ पर भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

बात ठीक ही कही गई है। विरोध इसका कोई क्योंकर कर सकता है? परन्तु क्या सम्पादक का यही कहना पर्याप्त समझा जायगा? प्र० १, २, द्वि० ७ का पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अप्रामाणिक ही होगा, इसका प्रमाण क्या? यहाँ तो 'प्रामाणिक' है न? यदि नहीं तो कृपाकर अपने इस 'प्रामाणिक पाठ' पर ध्यान दें। यहाँ 'सिसिर' की स्थिति क्या है? पूर्वराग की दशा में—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ।
पदुमावति सब सखीं हँकारीं। जाँवत सिंघल दीप की बारीं।
आजु बसंत नवल रितुराजा। पंचिमि होइ जगत सब साजा।
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा।
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ।
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते।
अवधि आइ सो पूजी जो इंछा मन कीन्ह।
चलहु देव गढ़ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह ॥१८३॥

प्रश्न उठता है कि कवि की दृष्टि में 'सिसिर' के बाद 'वसन्त' का आगमन होता है अथवा 'हेमन्त' के बाद। समाधान के पहले ही इतना और भी जान लें कि कवि का कथन है 'सिरी पंचमी' के विषय में ही इस 'संस्करण' में स्पष्ट, स्फुट और निर्विवाद

माघ मास पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू।
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा।
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि हौं पदुमावति पास।
पूजैं आइ बसंत जौं पूजै मन कै आस ॥१६२॥

अतएव यह सरलता से कहा जा सकता है कि कवि को 'सिरी पंचमी' और 'वसन्त' का यथार्थ बोध है और फलतः वह 'वसन्त पंचमी' का ठीक निर्देश करता है। परन्तु ऋतु के विचार से तो अभी 'वसन्त' ऋतु है नहीं। माघ-फाल्गुन की गणना तो 'शिशर' ऋतु में है न? फिर यह प्रमाद कैसा? क्या हम इसे जायसी की भूल कह सकते हैं? जायसी कहते हैं, किस ठिकाने से, ठीक अवसर पर—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो जायसी का अर्थ क्या है? स्मरण रहे 'प्रामाणिक' संस्करणानुसार जायसी की दृष्टि में 'शिशिर' का भोग है अगहन और पूस। कहते हैं, रत्नसेन और पद्मावती के सम्भोग को लक्ष्य कर

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँक अंग एक मिली लागा।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।
जानहुँ चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी।
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा।
दुई घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।
हंसा केलि करहिं जेउँ सरवर कुंदहि कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारै दाद भा जस चकई क बिछोउ ॥३३९॥

और 'हेमन्त' की स्थिति है ठीक इसके पश्चात् ही—

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ-फागुन सुख सीउ सियाला।
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती।
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहुँ दुख कर खोजू।
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा।
जाइ इन्द्र सौं कीन्हु पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा।
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा।
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा।
भएउ इन्द्र कर आएसु प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता कबहुँ काहु कै होइ ॥३४०॥

जायसी ने ऋतु-वर्णन को यहीं समाप्त कर दिया है, कारण कि उसका आरम्भ हुआ था—

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई। सुरितु चैत बैसाख सुहाई।
चन्दन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कविलासू।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कन्त मिले सुख बासी।
पिउ संजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी।
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होइ सब चूरू।
जेहि घर कंता रितु भली आउ बसंता निचु।
सुख बहरावहिं देवहरै दुक्ख न जानहिं किचु ॥३३५॥

जायसी ने 'हेमन्त' के बाद 'शिशिर' को नहीं माना ऐसा यहाँ सिद्ध होता है। यह कवि की भूल कही गई है। किन्तु यह भूल कैसी और क्यों है? इसके पहले ही तो कवि ने १८३ में हो कह दिया था—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो फिर इसका अर्थ क्या? क्या कवि यहाँ भी 'सिसिर' का अर्थ अगहन-पूस ही समझता है! और फिर 'सिसिर' का पाठ क्यों? प्रामाणिक संस्करण का पाठान्तर है न—

"द्वि० १, २, ३, ६, ७, तृ० ३, च० १ सो रितु, द्वि० ४, ५, पं० १ सुरितु।"

तो हम जानना चाहते हैं कि वास्तव में 'सो रितु' क्यों ठीक नहीं और इसके स्थान पर 'सिसिर' क्यों ठीक है। और यदि यह ठीक है तो इस पर कोई टिप्पणी क्यों नहीं? क्या 'सिसिर' के बाद 'सिरी पंचमी' का आगमन होता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर कामिल बुल्के

'रामचरितमानस' का रचना-क्रम

'रामचरितमानस' की कथावस्तु तथा उसके विभिन्न अंगों के आधार-ग्रन्थों का पूरा विश्लेषण करने के बाद सुश्री सी० वोद्वील[1] उसके रचना-क्रम के ये तीन सोपान निर्धारित करती है—१. रामचरित; २. शिवरामायण; ३. भुशुण्डी रामायण।

१. 'रामचरित' : प्रथम पाण्डुलिपि के विषय में डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का मत स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार इसमें बालकाण्ड का उत्तरार्द्ध (१८४ ३६१) तथा सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड था।[2] सुश्री वोद्वील का विचार है कि उस सामग्री के अतिरिक्त 'रामचरित' में अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ (१-६) तथा बालकाण्ड की प्रस्तावना का पूर्वार्द्ध (१-२६) भी रहा होगा। प्रस्तावना के पूर्वार्द्ध में 'रामचरितमानस' नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है, और न किसी संवाद का। कवि ही वक्ता हैं; यद्यपि शिव का नाम कई बार आया किन्तु रामकथा के वक्ता अथवा रचयिता के रूप में नहीं।

बालकाण्ड (१८४-२०५) के कई स्थलों पर शिव वक्ता के रूप में आते हैं। उसके विषय में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त के अनुसार माना गया है कि द्वितीय पांडुलिपि तैयार करते समय कवि ने इस अंश में कुछ परिवर्तन किया होगा। यह अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ पर भी लागू है, क्योंकि इसमें शिव तथा कवि[3], दोनों ही वक्ता हैं।

सम्भव है गोस्वामी तुलसीदास के अयोध्या से चले जाने के कारण रामचरित की रचना स्थगित कर दी गई हो।

२. 'शिवरामायण' : रामचरितमानस के शेष अंगों से स्पष्ट है कि रामचरित के स्थगित करने के बाद कवि का दृष्टिकोण बदल गया है। अब वे अपनी रचना को शिव-पार्वती-संवाद के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। काव्य-ग्रन्थ (रामचरित) मात्र न रहकर, एक साम्प्रदायिक रामायण (शिवरामायण) का रूप धारण कर लेता है। सम्पूर्ण प्रथम पाण्डुलिपि के अतिरिक्त, इस रामायण में निम्नलिखित सामग्री थी—बालकाण्ड १०५–१८४, अरण्यकाण्ड से युद्धकाण्ड तक, उत्तरकाण्ड का पूर्वार्द्ध (१-५२)।

'शिवरामायण' में भुशुण्डी का बहुत से स्थलों पर उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त[4] का मत है कि जब कवि ने अन्त में काक भुशुण्डी को रामायण के वक्ता के रूप में रखा तब उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अन्य काण्डों में भी वक्ता के रूप में भुशुण्डी की चर्चा कर दी जाय। सुश्री वोद्वील का विचार है कि 'शिवरामायण' प्रारम्भ करते समय कवि

---

१. आपका अध्ययन पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है और वहाँ छप रहा है।

२. देखिए, 'तुलसीदास' पृष्ठ २६४।

३. देखिए, 'पर नर भरत प्रीति मैं भाई'।

४. देखिए, 'तुलसीदास', पृष्ठ २६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मन में भुशुण्डी को वक्ता के रूप में रखने की बात नहीं आई। अतः बालकाण्ड पूर्वार्द्ध[1] तथा बालचरित में भुशुण्डी अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित है।[2] द्वितीय पाण्डुलिपि के अन्य काण्डों में वक्ता के रूप में जो भुशुण्डी के उल्लेख मिलते हैं इसका कारण यह होगा कि तुलसीदास के पास 'भुशुण्डी रामायण' था ही। ये उल्लेख सम्भवतः उस भुशुण्डी रामायण की सामग्री की ओर निर्देश करते हैं और कवि पर भुशुण्डी रामायण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रमाणित करते हैं; यहाँ तक कि उत्तर काण्ड में उस रामायण का एक विस्तृत उद्धरण भी दिया गया है।[3] उस अंश में शिव अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित हैं।

३. 'भुशुण्डी रामायण' : शिव रामायण सात काण्डों में विभक्त था और स्वतःपूर्ण भी था। लेकिन भुशुण्डी रामायण का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने बाद में भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को भी अपनी रचना में जोड़ दिया है। उस संवाद में भुशुण्डी शिव से स्वतन्त्र वक्ता है। शिव स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मैंने रामकथा काक भुशुण्डी से सुनी थी।[4] फिर भी अपने काव्य की एकता सुरक्षित रखने के लिए तुलसीदास ने अन्त में शिव को प्रधान वक्ता के रूप में माना है[5] तथा प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध में भी लिखा है कि शिव ही रामचरितमानस के रचयिता हैं और उन्होंने काक भुशुण्डी को अधिकारी समझकर उसे रामकथा सुनाई थी।

बहुत सम्भव है कि मूल भुशुण्डी रामायण का नाम 'रामचरितमानस' ही था। अतः भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को अपनी रचना में जोड़ देने के बाद ही तुलसीदास ने उसे 'रामचरितमानस' का नाम दिया है। यह नाम विभिन्न काण्डों की पुष्पिका तथा बालकाण्ड के प्रक्षिप्त तीन सोरठों (१२०) को छोड़कर, केवल प्रस्तावना उत्तरार्द्ध तथा उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध में आया है; ये अंश तृतीय पाण्डुलिपि के ही हैं। सुश्री सी० वोदवील के अनुसार तृतीय पाण्डुलिपि का रचना-क्रम इस प्रकार है—(अ) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०, (आ) शिवचरित, बाल काण्ड ४४-१०४; (इ) प्रस्तावना उत्तरार्ध, ३०-४३।

'शिवचरित' पहले नहीं रखा गया था, इसका प्रमाण यह है कि रामचरितमानस की कथावस्तु का जो सिंहावलोकन उत्तर काण्ड में दिया गया है[6], उसमें शिवचरित का उल्लेख नहीं है।

समालोचना

रामचरितमानस के रचना-क्रम के उपर्युक्त तीन सोपान स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मेरी समझ में इस प्रकार का विभाजन सुश्री वोदवील के अध्ययन का एक बहुमूल्य परिणाम है। फिर भी अन्तिम दो की सामग्री में कुछ परिवर्तन अपेक्षणीय हैं, तथा विकास के तीसरे रूप का नाम 'रामचरितमानस' रखना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार उत्तरकाण्ड में भुशुण्डी-गरुड़-संवाद की भूमिका के रूप

१. देखिए, पृष्ठ १४६।
२. बालकाण्ड के तीन सोरठे १२० क ख ग स्पष्टतया बाद में जोड़ दिये गए हैं।
३. देखिए, पृष्ठ १२-२२।
४. देखिए, 'उत्तरकाण्ड' पृष्ठ ५२-५७।
५. देखिए, पृष्ठ १२६-१३०।
६. देखिए, पृष्ठ ६४-६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में शिव-पार्वती-संवाद रखा है।[1] इस प्रकार बालकाण्ड में भी शिव-पार्वती-संवाद की भूमिका स्वरूप याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पाण्डुलिपि में प्रारम्भ से ही विद्यमान था।[2] सुश्री वोदवील के रचना-क्रम के अनुसार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद बिलकुल अन्त में, प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध के पहले जोड़ दिया गया है। द्वितीय पाण्डुलिपि में[3] याज्ञवल्क्य के जितने उल्लेख मिलते हैं, वे सब-के-सब बाद के प्रक्षेप हैं। अवतार-हेतु की विभिन्न कथाओं में सम्बद्धता का अभाव था, अतः तुलसीदास ने बाद में याज्ञवल्क्य को उनका वक्ता बनाकर उन्हें एक सूत्र में ग्रथित किया है। यह तर्क बहुत चिन्त्य है, और अनावश्यक भी; यदि मान लिया जाय कि याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पांडुलिपि का अंश था, तो सारी समस्या हल हो जाती है।

'शिवचरित'[4] के विषय में मेरा अपना विचार है कि यह एक स्वतन्त्र रचना है; उसकी शैली, भाषा और छन्द-योजना यह अनुमान दृढ़ करती है कि वह प्रथम पाण्डुलिपि के समय ही लिखा गया था। 'सिय-रघुवीर विवाह'[5] तथा भरत-चरित[6] के समान ही उसकी अपनी फलस्तुति है। उत्तरकाण्ड में जो 'रामचरितमानस' का सिंहावलोकन है, उसमें 'शिवचरित' का उल्लेख नहीं है। अतः तुलसीदास ने उसे बाद में, प्रस्तावना उत्तरार्द्ध (उसमें 'शिवचरित' का उल्लेख है) के पहले अपने काव्य में जोड़ दिया है।

एक बात और विचारणीय है। उत्तर काण्ड में 'रामचरितमानस' के सिंहावलोकन में[7] मानस-रूपक का उल्लेख है। अतः बहुत सम्भव है कि प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का एक पूर्वरूप उत्तरकाण्ड से पहले लिखा था। इसके अतिरिक्त बालकाण्ड के दोहे ३१-३२, जिनमें राम-चरित का उल्लेख है, सम्भवतः प्रथम पाण्डुलिपि के अन्तर्गत थे। इस प्रकार 'रामचरितमानस' की निम्न लिखित रचना अधिक समीचीन प्रतीत होती है—

क. *रामचरित* : (१) बालकाण्ड १-२६, ३१-३२ प्रस्तावना पूर्वार्द्ध
(२) बालकाण्ड १८४-२०५ का पूर्वरूप, २०६-३६१
(३) अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण

ख. *शिव रामायण* : (१) बालकाण्ड ४४-४७, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ
(२) बालकाण्ड १०५-१८३, शिव-पार्वती-संवाद, अवतार-हेतु
(३) बालकाण्ड १८४-२०५ का प्रस्तुत रूप
(४) अरण्यकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक
(५) उत्तरकाण्ड उतरार्द्ध १-५२

---

१. देखिए, पृष्ठ ६२

२. प्रस्तुत विवेचन के दृष्टिकोण से बालकाण्ड की कथा-वस्तु का निम्नलिखित विभाजन सुविधाजनक है : (१) १-४३ प्रस्तावना; (२) ४४-४७ याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ; (३) ४८-१०३ शिवचरित; (४) १०४-१२० शिव-पार्वती-संवाद का प्रारम्भ; (५) १२१-१८३ अवतार-हेतु की कथाएँ; (६) १८४-३६१ रामचरित।

३. देखिए, पृष्ठ १०५-१७६।

४. बालकाण्ड, ४८-१०३। ५. देखिए, बालकाण्ड, ३६१। ६. देखिए, अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ३२६

७. देखिए, पृष्ठ ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग. रामचरितमानस : (१) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का पूर्वरूप—मानसरूपक

(२) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०

(३) पूर्वरचित 'शिवचरित' ज्यों का त्यों बालकाण्ड में (४८-१०३) जोड़ दिया जाता है।

(४) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का प्रस्तुत रूप। बालकाण्ड, ३३-४३।

(५) गौण प्रक्षेप—जैसे बालकाण्ड के सोरठे १२० (ख, ग, घ) तथा प्रस्तावना का विविध संवादों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न।[1]

---

१. देखिए, चौ० दो० ३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

पॉल वेलरी

भविष्यत्-साहित्य[1]

: १ :

मानव-चेतना ने भौतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की और आज भौतिक परिस्थितियाँ अपनी पराजय का मूल्य पाई-पाई अदा कर देने पर उतारू हैं। भौतिक परिस्थितियाँ हमको ऐसे स्थल पर ले जा रही हैं, जहाँ पहुँचकर हम होश खो बैठे हैं। हम अपनी आदिम परिस्थितियों से प्रतिक्षण दूर होते जा रहे हैं। भयानक गति से हम ऐसी भौतिक व्यवस्था में प्रवेश करते जा रहे हैं जिनका उलझाव, अस्थायित्व, और अद्भुत विशृङ्खलता हमको स्तब्ध कर रही है, जिसने हमसे हमारी भविष्य को देख पाने वाली दृष्टि छीन ली है, जिसने हमें भविष्य के विषय में कोई भी निश्चित धारणा न बना पाने के लिए मजबूर कर दिया है।

इस सबका प्रभाव मन पर पड़ना अनिवार्य है। मानव-चेतना ने जिस दृश्यमान् जगत् को इतना बदल दिया है, स्वाभाविक है कि वह दृश्यमान् जगत् मानव-चेतना का दृष्टिकोण बदल दे। अतीत की परम्पराओं से सर्वथा पृथक्, बिलकुल नई समस्याएँ और अबूझ पहेलियों से हमें

१. आलोचना के इस अंक में भविष्यत् साहित्य के सम्भावित स्वरूप के विषय में हम दो मनीषियों के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति चेतना को जिस रहस्यमय देश की सीमा तक ले गई है उसने हमारी आज की समस्त मान्यताओं के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि और विचारक पॉल वेलरी की फ्रेन्च गद्य-कृति 'आधुनिक विश्वचिन्तन' के एक अंश पर आधारित जिन विचारों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं उसमें भौतिक विज्ञान के चमत्कारों ने उसे भयाकुल कर दिया है। भविष्य के प्रति उसके अनुमानों में एक निराशा और त्रास की भावना है जिससे वह उबरने का प्रयास करता है। उसके बाद श्री अरविन्द का अत्यन्त विचारोत्तेजक लेख है, जिसमें आशा का अदम्य स्वर है। उनके दर्शन से सभी सहमत हों यह आवश्यक नहीं, किन्तु काव्य के प्रति उनका मौलिक दृष्टिकोण हम गम्भीर विचार-विनिमय के लिए हिन्दी के कृतिकारों और पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। इस लेख को रूपान्तरित करने में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सुझाव और सहयोग के लिए हम आभारी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमत्कृत कर दे।

इस स्थिति ने निस्सन्देह अपने भविष्य के प्रति हमें चिन्तित कर दिया है। जहाँ एक ओर हम अपने इस अभियान की आगामी मंजिल को पंजों के बल खड़े होकर, गरदन उठाकर देखने के लिए उत्सुक हैं, हम अपने आने वाले कल की शक्लें जान लेना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर हम यह महसूस करते हैं कि हमारी जीवन-दृष्टि दिन-प्रतिदिन दूर देख पाने में असमर्थ होती जा रही है। हमारी चेतना का जीवन केवल एक दिन की आयु का होता है। हर दूसरे दिन उसका नवीन जन्म होता है। युद्ध, भूकम्प, महामारी या इसी प्रकार के अप्रत्याशित संकट के दिनों में मनुष्य की भविष्यत्-चेतना जितनी संशयपूर्ण हो जाती है, वैसी ही संशयग्रस्त और केवल तात्कालिकता में केन्द्रित हमारी आधुनिक चेतना है। न केवल काल, प्रत्युत दिशा की दृष्टि से भी हम इसी प्रकार संशयग्रस्त होते जा रहे हैं। हमारे शास्त्र, हमारी आकांक्षाएँ हमारी, राजनीति, सब-कुछ स्थानीय भावनाओं से अनुप्राणित होते रहे हैं। हमारे समस्त प्रतिष्ठान इस आधार पर बने हैं कि राष्ट्रों और व्यक्तियों का क्षेत्र तथा सीमाएँ न्यूनाधिक यही रहेंगी।······लेकिन आज अकस्मात् स्थानान्तरण की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी है, आधुनिक जीवन यायावर हो उठा है, चिर-चलायमान; यात्रा की जो सुविधाएँ और जो साधन भौतिक विज्ञान ने हमें दिये हैं उसने इस प्रवृत्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

इस प्रकार हमारी चेतना का वर्तमान संकट यह है कि उन्मूलित और यायावर मानव आज प्रश्न-चिह्न बनकर स्थायी और परम्पराबद्ध मानव के सम्मुख खड़ा है। हम आज एक प्राचीन परम्परागत व्यवस्था और अपनी धुरी से विचलित हो जाने वाली विकासमान सत्ता के बीच का तुमुल संघर्ष देख रहे हैं। एक ओर ये नये ढंग के खानाबदोश लोग सीमाओं को लाँघते हुए, चहारदीवारियों को तोड़ते हुए भटक रहे हैं, दूसरी ओर बार-बार किलों के परकोटों की मरम्मत कराई जा रही है, शहरपनाह की दीवारें और ऊँची कराई जा रही हैं, राष्ट्रीय सीमाओं पर कँटीले तारों का बाड़ा और घना किया जा रहा है।

मैंने अक्सर यह कहा है कि हम भविष्य के फाटकों में प्रवेश तो कर रहे हैं, लेकिन उल्टे पैरों चलकर। भविष्य की ओर हमारी पीठ ही है। इस गति से भी जीवन-संग्राम में कभी-कभी सहायता मिलती है, किन्तु बाद में कुछ विशेष जाति की मछलियों को भी इस गति का परित्याग कर देना पड़ा है। क्या आज भी हम वही गति कायम रख सकते हैं? यानी हम सोचें, जियें, और लिखें; मगर इस धारणा के साथ जो-कुछ अनागत है उसे हम अतीत की शब्दावली में बाँध नहीं सकते और जो-कुछ घटित हो चुका है उसकी पृष्ठभूमि में अघटित की व्याख्या नहीं कर सकते।

मेरी प्रार्थना है कि आप इस प्रश्न के महत्त्व को समझें। आज यह अनिवार्य है कि लेखक के मन में अदृश्य भविष्य के लिए एक त्रस्त जिज्ञासा हो।

: २ :

बीते हुए कल की स्थिति कुछ और थी। हम भविष्य के प्रति इतने आशंकित नहीं थे। आशंका के बजाय एक क्रीड़ा-भावना मन में थी, जिससे प्रेरित होकर हम अपरिचित, आकस्मिक घटनाओं का भी साहस और धैर्य से सामना करते हैं। पुनश्च हमारे जीवन की पिछली रीति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति—विवाह, सामाजिक नियम, बीमा, बैंक, लेन-देन, ये सब इसके परिचायक हैं कि मनुष्य अपने भविष्य के प्रति बहुत-कुछ आश्वस्त था, वह जानता था कि आने वाला कल आज से बहुत भिन्न नहीं होगा। पुनश्च, अगर कोई कवि हुआ, कलाकार हुआ, लेखक हुआ तो उसकी आस्था भविष्य पर और भी अधिक होती थी। वह अपनी कृतियों का लक्ष्य आगे आने वाली पीढ़ियों को मानता था इससे उसकी कृतियों में स्थायित्व, परिपक्वता और ठोसता भी आती थी। उसका समस्त जीवन तात्कालिकता की माँग के बजाय शाश्वत मूल्यों का अनुगमन करता था। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही और इसकी कोई आशा नहीं कि हमारे अस्थि-शेषों से भी अब कभी वही स्थिति पुनः वापस आये।

यह भी अब स्पष्ट होने लगा है कि विभिन्न देशों में भावी समाज-व्यवस्था की जो रूप-रेखाएँ बनाई जा रही हैं, उनमें साहित्य के संरक्षण को एक अनावश्यक बुद्धि-विलास मानकर महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा रहा है। केवल कुछ अल्पसंख्यक बुद्धिजीवियों का विकास, मुट्ठी-भर व्यक्तियों को प्रश्रय, उनका पालन-पोषण (जो भौतिक अर्थ में बहुसंख्यक लोगों को कुछ भी नहीं दे सकते) शासन-सत्ता के लिए भला क्या महत्त्व रख सकता है। इसलिए लेखकों के सम्मुख साहित्य की जीवन-व्यापी साधना, एक-एक कृति को अपनी सम्पूर्ण संचित अनुभूति से सिक्त करने की कल्पना जो गोएटे के समय सम्भव थी आज केवल अतीत की मधुर कल्पना ही प्रतीत होती है। आखिर कवि, दार्शनिक, कलाकार अभी तक कैसे जीविका उपार्जित करते रहे। उन्होंने मानव-जाति के लिए उन कृतियों का सृजन किया है जो मानव-संस्कृति के गौरव-चिह्न हैं, किन्तु किस आधार पर? सच तो यह है कि वे किसी प्रकार अस्तित्व धारण किये रहे। आर्थिक व्यवस्था में कुछ इतनी अनियमितता रही है कि कुछ भी निश्चित नहीं था। किसी को ऐश्वर्य, तो किसी को सूखी रोटी। वर्ले किसी तरह दान-दया के सहारे जिया, तो विक्टर ह्यूगो लखपती होकर मरा। कुछ ने महल खड़े कर लिये तो कुछ दीवालिये हो गए। किन्तु अब जो स्थिति है उसमें लेखन का आर्थिक भविष्य कुछ बहुत उज्ज्वल नहीं दीख पड़ता। शासन-सत्ता का यन्त्र उन पर अपने शिकञ्जे बुरी तरह कस रहा है और चाहे कोई कहे कि उन पर अनुशासन नहीं रखा जा रहा है, किन्तु फिर भी उस पर इस बात की विवशता दिन-प्रतिदिन आरोपित हो रही है कि शासन-सत्ता कोई भी हो किन्तु वह यही कहता रहे कि यही शासन-सत्ता सर्वोत्तम है, और इसीकी अधीनता में समाज का सर्वश्रेष्ठ निर्माण सम्भव है।

: ३ :

आर्थिक स्थिति के बाद अब दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है भाषा के माध्यमों का। साहित्य की वाहिनी 'भाषा' है। मनुष्य ने अभी तक भाषा के रूप को सुरक्षित रखने के लिए लेखन-प्रणाली और लिपि का प्रयोग किया है। किन्तु इस वैज्ञानिक युग में बहुत-से महत्त्वपूर्ण साधन ऐसे विकसित हो रहे हैं जो भाषा के स्वरूप को, उसके प्रभाव को, उसके वृत्त को नये रूप देंगे, नई प्रणाली से आयोजित करेंगे। यदि अन्य साधनों को छोड़ दें तो ग्रामोफ़ोन और रेडियो, दो साधन ऐसे हैं जो स्पष्ट हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इनकी लोकप्रियता जिस प्रकार बढ़ रही है, और लिखित वाणी के स्थान पर बोली हुई वाणी को सुरक्षित रखने के जितने सरल माध्यम इन प्रणालियों ने खोज निकाले हैं उनसे अभी से यह सम्भावना उत्पन्न होने लगी है कि कहीं धीरे-धीरे पाठ्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य विलुप्त न हो जाय और केवल श्रव्य-साहित्य ही भाषा के प्रयोग की मुख्य दिशा न बन जाय।

लेखन-पद्धति का विलोप निस्सन्देह हमें मानव-संस्कृति की आदिम अवस्था की ओर वापस ले जायगा और साहित्य के शिल्प की दृष्टि से आश्चर्यजनक क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावनाएँ हैं। इससे यह लाभ तो अवश्य है कि काव्य-रूपों के विधान में, पुनः श्रवण का विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित हो जायगा। ध्वनि और ध्वनि-ग्रहण के बीच से लिखित अक्षर का माध्यम हट जायगा। साहित्य का रूप-विधान और उसकी प्रेषणीयता पर इसका तत्काल प्रभाव होगा। कुछ कवियों में जो दुरूहता मिलती है, वह उनके मुख से सुने जाने पर कम हो जायगी, लेकिन पाठक (जो श्रोता में बदल जायँगे) अक्सर किसी भी पद्यांश या गद्यांश को दुहरा-दुहराकर उस तरह न पढ़ पायँगे, जैसा अभी उन्हें सुलभ है।

श्रव्य के अतिरिक्त दृश्य तत्त्व में भी नवीनताएँ आयँगी। यदि टेलीविज़न का विकास हुआ तो उपन्यासों और कविताओं के तमाम प्राकृतिक दृश्य-वर्णनों की कोई भी आवश्यकता न रहेगी। उनको प्रस्तुत करने के लिए दूसरे अधिक सशक्त साधन सुलभ हो जायँगे। उनके उद्दीपन-स्वभाव का क्या होगा, यह कहना कठिन है। इसी प्रकार अरूप-चिन्तन-प्रधान साहित्य के भावी रूप का भी अभी अनुमान नहीं किया जा सकता।

: ४ :

लेकिन हमारे अभी तक के अनुमान अपनी तात्कालिक भौतिक शक्तियों पर ही आधारित रहे हैं। यह सम्भवतः एकांगी दृष्टिकोण है। साहित्य का भविष्यत्-रूप सोचने के अर्थ यह भी हैं कि हम पूर्ण मानवीय चेतना के भविष्यत्-रूप पर विचार करें। भविष्यत्-साहित्य में भविष्यत्-चेतना को ही तो अभिव्यक्त होना है। चिन्तन का यह स्थल अत्यन्त जटिल है। क्योंकि भविष्यत् स्वयं अभी रूप ग्रहण कर रहा है और हमारी आज की भविष्यत्-कल्पना हमारी चेतना की आज की सीमाओं से बँधी हुई है। पहले हम भाग्य से दाँव लगाते समय सभी पासों को पहचानते थे, लेकिन आज स्थिति यह है कि पासे बिलकुल अपरिचित हैं और हर बाजी को लगाते समय निर्णय के नियम एकाएक बदल जाते हैं। वास्तव में हम जिस युग में जी रहे हैं वह बौद्धिक संकटों का युग है। नूतनता आज के युग में एक स्वतःसिद्ध गुण बनती जा रही है। यह नूतनता सांस्कृतिक परम्परा के विकास में सदैव सहायक ही हो, यह बात नहीं है। वह घातक भी सिद्ध हो सकती है, पुराने मूल्यों को निर्ममता से उखाड़ फेंक सकती है। किन्तु एक दूसरी सम्भावना भी है।

मैं आपको यह चेतावनी इस स्थल पर दे दूँ कि अब हम एक मानसिक दिवा-स्वप्न-शृङ्खला में डूबने जा रहे हैं; जो एडगर एलन पो, वेल्स या बर्न के लिए भी सम्भव नहीं थी। सच तो यह है कि विज्ञान की कई शताब्दियों की प्रगति के बाद सभी आज इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि वे न चेतना के विषय में कुछ जानते हैं और न संवेदनाओं के विषय में। भौतिक तत्त्ववेत्ताओं से बात करने पर अक्सर यही पता चला है कि वे भौतिक जगत् का रहस्य सुलझा पाने में असमर्थ हैं। तत्त्व, शक्ति, विकास—सभी अर्थहीन से होते जा रहे हैं।

स्मृति तथा वे अन्य मानसिक शक्तियाँ, जिनके समवेत पुञ्ज को सम्भवतः हम 'चित्त'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं, और भी अधिक अज्ञात हैं। सम्भव है कि जैसे पिछले ४० वर्षों में भौतिक जगत् के विषय में हमारे सारे विचार बदल गए हैं, चित्त के विषय में भी हम सर्वथा नई भूमि पर जा पहुँचें। विज्ञान की प्रगति ने आज भौतिकता और मानसिकता का भेद मिटा दिया है। वे केवल एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं, विज्ञान में उनका कोई अलग अर्थ नहीं रह गया है।

अन्ततोगत्वा होगा क्या ?

मेरे एक महान् वैज्ञानिक घनिष्ठ मित्र का, जिनका विश्वास अभी विकासवाद में है, यह कथन है कि अन्त में मनुष्य की परिणति यह होगी कि उसे बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध होंगी जिनसे उसके वर्तमान अन्तर्विरोधों का शमन हो सकेगा; फिर दो-तीन हजार वर्षों में मानवीय चेतना बिलकुल एक नये जगत् को देख सकेगी जिसमें दिशा और काल के नये तत्त्व होंगे, आज जो केवल गणित के प्रतीक समाधान-मात्र हैं वे कल के यथार्थ होंगे। आज जो अत्यन्त दुरूह कल्पनाएँ हैं वे कल (अर्थात् हजारों वर्ष बाद) मानव की सहज प्रेरणाएँ बन जायंगी। भविष्यत्-साहित्य भी इसीके अनुरूप होगा।

अरविन्द

भविष्यत्-काव्य

: १ :

युग-परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से पहली बात यह समझ में आती है कि सम्भवतः अभी भी नये युग का पदार्पण नहीं हुआ है, किन्तु मानवता के इतिहास का एक नया युग हमारे द्वार खट-खटा रहा है, यह काल प्रतीक्षा और तैयारियों का काल है, संक्रान्ति-काल है। हर जगह, हर दिशा में लोग कुछ-न-कुछ नया खोजने की चिन्ता में हैं। पिछले ढाँचे, पिछले आदर्श, पिछली शक्तियाँ आज सन्तोष नहीं दे पातीं; आविष्कार और अन्वेषण की प्यास; भाषा, छन्द, रूप-विधान की अन्तर्निहित अनजानी शक्तियों को खोज निकालने की कामना आज सभी में जाग उठी है; क्योंकि एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक विराट् जीवन-चेतना जन्म ले रही है; अभी बहुत-सी ऐसी गूढ़ और अर्थमयी बातें कही जानी शेष हैं जो अभी तक नहीं कही गईं—और भाषा की उच्चतम वाहिका कविता को उस भविष्यत्-वस्तु-तत्त्व के लिए उपयुक्त वाणी खोजनी है।

लय (rhythm) की एक नई शक्ति खोज निकालने का अथक प्रयास—यह इस आगामी क्रान्ति का प्रथम संकेत प्रतीत होता है। समग्र मानव जाति अपने चिन्तन में एक नये दर्शन की ओर प्रगति कर रही है और यह अनिवार्य है कि कविता में इस आन्तरिक प्रगति की व्याख्या और प्रतिध्वनि मिले। निकट भविष्य में आने वाली इस नवीन जीवन-चेतना की आतुर और अधीर प्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक सम्पूर्णतः नवीन लय-विधान ढूँढ़ रही है और इसीलिए चारों ओर हमें कई व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित आन्दोलन मिलते हैं, जो काव्यात्मक लय-विधान की मूलभूत पद्धति में एक सर्वव्यापी, अकल्पनीय क्रान्ति के लिए अथक प्रयास करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लगे हुए हैं।

यह स्वाभाविक भी है, मनुष्य की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति कविता भी चिरविकासशील है। काव्य एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है और काव्य-प्रेरणा मनुष्य के मानस और आत्मा की अतुल शक्तिमयी अभिव्यक्ति पिपासा है। चूँकि काव्य-प्रेरणा आत्मा की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति-पिपासा है, अतः अन्तर्जीवन के विकास के साथ-साथ काव्य-प्रेरणा का भी विकसित होना आवश्यक है। इस विकास की कई क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

पहली अवस्था में मनुष्य बाह्य भौतिक संसार पर दृष्टिपात करता है और उसकी जीवन-प्रक्रिया भी बाह्य महत्कार्यों में अभिव्यक्त होती है—जैसे युद्ध, अभियान, अपहरण, आखेट। इस प्रकार के जीवन में भी उसकी काव्य-प्रेरणा चरमोत्कर्ष तक पहुँच सकती है। इस अवस्था की झलक हमें होमर आदि के वीर-काव्य में मिलती है।

जीवन के अधिक गहरे स्तर पर पहुँचकर उसके काम-मानस (desire Soul) में अधिक क्रियाशीलता आती है, जो प्रथम बार उसे अन्तर्विश्लेषण के लिए विवश करती है और वह अन्तर्मुख होकर अपने आन्तरिक जीवन में पैठने लगता है। इसीके साथ-साथ काव्य भी नये मोड़ लेता है, एक नई महत्ता को आत्मसात् करने के लिए वह अपने आयाम विस्तृत और गहरे करने लगता है। इन नई ऊँचाइयों का उत्तुङ्ग शिखर शेक्सपीयर है।

किन्तु मानस-पुरुष की अपेक्षाकृत व्यापक क्रियाशीलता को दर्शन और सृजन की यह प्रणाली बहुत काल तक नहीं उलझा सकती। वह जीवन के उन आवेगों, भाव-स्थितियों और चिन्तन-संकेतों में सदैव आबद्ध नहीं रह सकता; क्योंकि उसे मुक्त होकर, इनसे परे होकर यह समझना आवश्यक है कि 'वह' क्या है, और 'ये' क्या हैं—अपने शान्त विवेक-चक्षुओं से उसे इनमें पैठकर इनका विश्लेषण करना रहता है। इस गति का अनुगमन करते हुए काव्य भी संयमित, आवेशहीन, जटिलतर सूक्ष्मताओं से मुक्त 'क्लासिक' काव्य का रूप ग्रहण करता है, जिसका सौन्दर्य स्पष्ट होता है और एक आत्म-तुष्ट बौद्धिक दृष्टि को स्वीकार कर लेता है। ग्रीक और लैटिन कवियों की सफलता का यही मूलाधार है। लेकिन बाद में वह बौद्धिकता आत्म-तुष्ट न रहकर अधिक जटिल और सर्वग्राही हो जाती है, अधिक व्यापक और विस्तृत ढंग से प्रभाव डालने लगती है; और सत्य की हर प्रकार की सम्भावित विधियों को ग्रहण करने का प्रयास करती है। आधुनिक युग की बौद्धिकता इसी प्रकार की है।

इस नई मानसिकता से उद्भूत होने वाली कविता बहुपक्षी काव्यात्मक भाव-प्रक्रियाओं से सम्पन्न होती है, वह कई प्रकार के योगों (Combinations) और प्रयोगों (Experiments) के क्रम से गुजरती है। जो युग स्वतः बहुमुखी हो, उसकी कविता भी निस्सन्देह बिना बहुमुखी हुए जीवित नहीं रह सकती। कवि की पश्यन्ती, चिन्तनमती, विश्लेषिका प्रतिभा अपने सौन्दर्य-सृजन की प्रक्रिया को ऐसी प्रत्येक वस्तु पर लागू करने में नहीं हिचकती जो उसके वृत्त में आती है।

: २ :

किन्तु इस सांस्कृतिक विकास के सम्मुख इसी स्थल पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न-चिह्न लग जाता है—आखिरकार इस बौद्धिकता की परिणति कहाँ होगी? बौद्धिकता सदैव दो अतिवादों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर उन्मुख होती है। या तो वह तर्क के विश्लेषणात्मक समाधानों का आश्रय ग्रहण करके जटिलतम चिन्तन की अरूप सूक्ष्मता में बदल जाती है या व्यावहारिक तथ्यात्मकता में आश्रय खोजती है; बौद्धिकता की परिणति या तो दार्शनिकता के अतिरेक में होती है या वैज्ञानिक की संकीर्णता में। यूनान में बौद्धिकता के चरम विकास ने काव्य की हत्या कर डाली और उसके स्थान पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक मानस चूँकि अधिक जटिल और अधिक सम्पन्न है, अतः यह परिणति इतनी शीघ्रता और सरलता से नहीं आ सकी। किन्तु इस युग में काव्य की मूलभूत भावभूमि और युग की मूल भावना में कहीं-न-कहीं विषमता होने के कारण कविता की शक्ति, प्रेषणीयता, प्रभाव और महत्त्व में थोड़ा ह्रास अवश्य अनुभव होता है।

इस ह्रास का अनुभव पाश्चात्य देशों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही होने लगा था जब कि सौन्दर्य-चेतना में एक ह्रास के विषय में दबे-दबे कुछ उल्लेख होने लगे थे और बहुत से आचार्य कला और काव्य के नवीन प्रयोगों और प्रवृत्तियों को इसीका लक्षण मानने लगे थे। एक समय तो ऐसा था जब यह बड़ी शक्ति से घोषित किया गया था कि अब धीरे-धीरे विज्ञान कविता का स्थानापन्न बन जायगा। दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जिनका यह अनुमान था कि वैज्ञानिक वस्तु-तत्त्वों से समन्वित होकर कविता जीवन की काव्यात्मक आलोचना बन जायगी और धीरे-धीरे उसे वही महत्त्व मिल जायगा जो विगत युगों में दर्शन और धर्म को प्राप्त था।

इस तमाम अशान्त और विक्षुब्ध चिन्तन की पृष्ठभूमि में यह चेतना आवश्यक रूप से वर्तमान थी कि वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक बौद्धिकता से प्रभावित युग सम्भवतः उच्च स्तर के काव्य-सृजन के लिए सामान्यतया सहायक नहीं होता। खरी बौद्धिकता काव्य-सृजन नहीं कर सकती।

किन्तु इस विषमता-मात्र के उल्लेख से हम युग का सही चित्र हृदयंगम नहीं कर सकते। कविता जिस सत्य को अभिव्यक्त करती है उसके दो रूप हैं—जीवन की वास्तविकता अर्थात् वस्तु-सत्य और जीवन का आन्तरिक क्रियाशील सत्य अर्थात् भाव सत्य, जो जीवन-विकास को प्रेरित करता रहता है। काव्य में जहाँ वस्तु-सत्य का चित्रण है वहां भी अक्सर प्रेय तत्त्व की झलक मिल जाती है। किन्तु दूसरी सम्भावना इस बात की है कि काव्य भाव-सत्य की ओर उन्मुख हो जाय। आज की काव्य-धारा की सबसे अनोखी, प्रभावपूर्ण और सुन्दर कृतियों में इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, जहां कविता का प्रवाह आन्तरिकता की ओर है। ह्विटमैन और कार्पेण्टर, टैगोर तथा यीट्स, कुछ आधुनिक फ्रेञ्च-कवि सभी इसी धारा से प्रभावित हैं। किन्तु जब तक सम्पूर्ण युग-मानस उस दिशा को नहीं अपनाता तब तक इस प्रवृत्ति का पूर्णतम विकास नहीं हो सकता। किन्तु इस बात के संकेत स्पष्ट हैं कि आधुनिक मानस ने जो नया मोड़ लिया है वह उसे इसी लक्ष्य की ओर ले चलेगा। लगता है कि आज मानव प्रज्ञा, बुद्धि के माध्यम से उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक प्रेरणामयी भावात्मक मनोभूमि तक पहुँचने की सीमा पर है, यद्यपि इसके अर्थ यह नहीं हैं कि अभी तक बुद्धि और विज्ञान ने हमें जो विरासत दी है उसका हम निषेध करेंगे। जैसा कहा जा चुका है कि यह यात्रा इन्हीं पथों को पार करते हुए होगी।

कुछ ऐसे आलोचक हैं जो इस प्रवृत्ति को केवल ह्रासोन्मुखता (डिकैडेन्स) का ही एक लक्षण मानते हैं। लेकिन उनकी विचार-धारा को प्रश्रय देने के अर्थ यह हैं कि हम यह मान लेते हैं कि जो-कुछ सफलता अतीत में उपलब्ध की जा चुकी है, आज की कविता केवल उसे दुहरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है, वह बहिर्मुख रहकर ही सफल हो सकती है, वही उसकी स्वस्थ दिशा है। इसमें सन्देह नहीं कि इधर की कविता में बहुत-कुछ कुण्ठित, विकृत और अस्वस्थ रहा है; किन्तु वह संक्रान्ति-काल की एक ऐसी मानसिक विशृङ्खलता का परिणाम है जिसके मूलभूत कारण समाप्त हो चुके हैं, किन्तु जिनका प्रभाव अभी तक चला आ रहा है या जो किसी कारण से अस्थायी तौर पर अत्यधिक तीव्र हो गया है। एक ऐसा युग जो, विराट्, नये शक्तिशाली आध्यात्मिक सत्यों को प्रकट कर रहा है, कवि की दृष्टि और कल्पना के लिए सर्वथा नये और अनजान लोकों का द्वार खोल रहा है—ऐसा युग ह्रास का युग नहीं हो सकता और न ऐसी कविता ह्रास की कविता हो सकती है।

भविष्यत्-काल—जब वह अपनी वर्तमान संक्रान्ति से सफलता पूर्वक परिपक्व होकर उदित होगा तब मानव के भौतिक अस्तित्व से, असम्पृक्त, अस्पष्टताओं में उलझा हुआ रहस्यवादी दुरूहता का काव्य नहीं होगा। रहस्यवाद जिन अर्थों में बदनाम है, उनमें वह अस्पष्टता और दुरूहता का समानार्थी बन गया है। किन्तु वैसा रहस्यवाद तभी अवतरित होता है जब हमें सत्य की झलक-मात्र मिलती है, उसका निकटतम साक्षात्कार नहीं मिलता, जब हमें इलहाम होता है, स्वतः प्रेरणा नहीं; और वह जीवन से विच्छिन्न इसलिए प्रतीत होता है कि चैतन्य और जीवन का हम भली भाँति परिणय नहीं करा पाते। लेकिन भविष्यत्-युग प्रकाश की झलक-मात्र का युग नहीं होगा; किन्तु एक प्रकाशमान सम्पूर्णता का युग होगा। सौन्दर्य-मानस चाहे वह कवि की वाणी में रूपान्तरित हो या अनुप्रेरित, चिन्तक या पैगम्बर या द्रष्टा की वाणी में, वह सत्य के प्रमुख द्वारों में से एक होगा। चूँकि भविष्यत्-युग का लक्ष्य सत् की सामंजस्यमयी सम्पूर्णता होगी, अतः कोई भ॰ विषय काव्य के क्षेत्र से बाहर न समझा जायगा। ऐसा नहीं है कि भविष्य की ओर ले जाने वाले काव्य की यह पगडंडी किसी भी मेड़ पर जाकर समाप्त हो जाती है या किसी बहुत बड़े खेत में ले जाकर छोड़ देती है—यह एक अपेक्षाकृत उच्च स्तर के नये विकास-क्रम की ओर ले जाती है—मनुष्य की शक्ति, उसके अस्तित्व, उसकी कार्य-प्रणाली और उसकी सृजन-प्रक्रिया के एक नूतन पुनर्जन्म की ओर ले जाती है।

: ३ :

अब प्रश्न यह है कि इस नये मानस द्वारा उद्भूत नई कविता की आदर्श प्रकृति क्या होगी? पुरुष और प्रकृति के कुछ गूढ़तम सत्यों के साक्षात्कार से समन्वित प्रेरणा, अवतरण और दर्शन (विज़न) से युक्त चिन्तन की वाणी को मन्त्र कहा गया है। भविष्यत्-काव्य की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति होगी। सम्भव है यह परिभाषा अत्यधिक रहस्यवादी प्रतीत हो, किंतु आत्मोद्भूत और सत्य की द्रष्टा वाणी के लिए इसके अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं है और यद्यपि वैदिक ऋषियों ने इस शब्द का प्रयोग और भी ऊँचे अर्थों में किया है किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि वास्तविक रूप में महान् काव्य की अभिव्यक्ति जहाँ कहीं भी मिलती है, जिस भाषा में भी मिलती है, वह भाषा की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है।

इस नये मन्त्र-काव्य की नई काव्य-दृष्टि अतीत की भाँति जीवन से दूर, रहस्यमयी अस्पष्टता से युक्त, अन्तर्मुखी और हमारे ऐन्द्रिक अस्तित्व से विमुख न होगी, वरन् दिव्यताओं को धरती के अधिक निकट खींच लाने का प्रयास करेगी। फिर धरती माता से हमारे किसी प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्यवादी नकारात्मक संघर्ष शेष न रहेंगे। एक चेतना, (जिसमें समग्र जीवन आश्रय पायगा क्योंकि वह समग्र जीवन से अधिक व्यापक होगी) इस नई कविता का नया काव्य-सत्य बनेगी जिसमें अपनी समग्र शक्ति से अस्तित्व धारण करेंगे। और यदि ऐसा होता है या युग-मानस इसकी ओर प्रबल वेग से प्रवृत्त भी होता है, तब इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि कविता अपनी खोई हुई पवित्र प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ले। बहुत-सा ऐसा काव्य-सृजन होता रहेगा जो पुरानी लीक पीटता रहेगा, और यह स्वाभाविक भी है; किन्तु ऐसा भी कवि अवतरित हो सकता है जो ऋषि हो, द्रष्टा हो, सत्य साम का गायक हो और दिव्य सत्य तथा विश्व-सौन्दर्य का स्वर-साधक हो।

किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि काव्य-सत्य से हमारा क्या तात्पर्य है और हम काव्य से किस प्रकार के सत्य की उपलब्धि की कामना करते हैं? हम सभी की 'सत्य' के विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं, इसीलिए यह प्रश्न इतना जटिल प्रतीत होता है। एक ओर तो वे लोग हैं जो स्पष्ट कहते हैं कि हमें किसी प्रकार के सत्य से कोई लेना-देना नहीं है, वे केवल सौन्दर्य के उपासक हैं और सत्य नहीं वरन् कल्पना ही उनकी पंखमयी दूतिका है, कल्पना-हंस ही उनकी सरस्वती का वाहन है। इसके सर्वथा विरुद्ध दूसरी कल्पना यह है कि बाह्य जीवन का सशक्त संघर्षमय सत्य ही काव्य का उपयुक्त वस्तु-तत्त्व हो सकता है। यही नहीं, वरन् ऐसे चिन्तकों का यह भी विचार है कि कविता को अपनी लय का संस्कार भी इस तरह करना चाहिए कि वह जीवन की गति के साथ ही रेंगे या कूदे या दौड़े, जीवन के हर सशक्त कदम की थाप और धमक को प्रतिध्वनित करे। वे काव्य से सौन्दर्य की नहीं, वरन् शक्ति की कामना करते हैं।

जिस काव्य-सत्य की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ वह इन सीमाओं से घिरा हुआ सत्य नहीं है। वह सत्य, जो अन्त में काव्य से उपलब्ध होता है, सीमाहीन शिव (कल्याण) है। वह कल्पना का विरोधी नहीं है, कल्पना तो उसका वर्ण-विशेष है। इसी सीमाहीन सत्य को काव्य अपने सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अपनी रस-रीति से प्रदान करता है। किन्तु कवि का सत्य दर्शन, धर्म अथवा विज्ञान के सत्य से पृथक् है। कवि किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का हो सकता है, किसी भी दार्शनिक प्रणाली का अनुगमन कर सकता है; किन्तु जहाँ वह अपनी विशेष प्रणाली को बौद्धिक ढंग से पद्य में प्रस्तुत करता है या छन्दबद्ध विज्ञान लिखने लगता है या पद्यात्मक उपदेश या धार्मिक विवाद हम पर लादने लगता है, वहीं वह काव्य के नियमों का अतिक्रमण करने लगता है। (यद्यपि अक्सर यह भी किया गया है और इसमें आंशिक या कभी-कभी पूरी सफलता भी मिली है।) फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान के सभी अंगों का अन्तर्व्यापी सत्य अलग नहीं है; दर्शन, धर्म और विज्ञान आदि के प्राथमिक नियम, प्रणाली और क्षेत्र अलग हैं; किन्तु अपने गहनतम स्तरों में उतरकर वे एक-दूसरे के निकट पहुँचकर एक-दूसरे को स्पर्श करने लगते हैं; और इसी नैकट्य के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति में दर्शन, अध्यात्म-विज्ञान और धर्म आदि एक अनिवार्य एकता में अन्तर्ग्रथित थे और जब कभी वे अपने अन्तर्सत्य को प्रकट करना चाहते थे तो काव्यात्मक वाणी का आश्रय ग्रहण करते थे। किन्तु फिर भी मानव-चेतना एक विराट् शिखर है और इन विभिन्न क्षेत्रों और पगडण्डियों का मिलन-स्थल नीचे की घाटी में नहीं वरन् ऊपर शिखर पर है। उन्हींमें एक ओर कविता की भी अपनी सीढ़ियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और अपना चढ़ाव है जो नीचे सबसे पृथक् और ऊपर सबसे मिला हुआ है। वेदों में एक स्थान पर प्रतीकमयी शैली में इसी असीम सत्य की धारा का वर्णन किया गया है, जिसके चारों ओर चिन्तन और जीवन की ज्योतिर्मय शक्तियाँ स्थित हैं। वहाँ उनका दिव्य नृत्य होता है। उस मण्डल में अपने जाग्रत मानस के साथ प्रवेश पाने वाला ही द्रष्टा कवि है और उसीको 'प्रेरित-वाक्' या 'मन्त्र-शक्ति की उपलब्धि होती है।

मन्त्र-शक्ति से समन्वित यह काव्य जीवन का लयात्मक उद्घोष है, किन्तु वह उद्घोष ऊपरी सतह की छोटी लहरों का नहीं है, अतल गहराई की सशक्त अन्तर्धाराओं का है। देश-विदेश की समस्त नई कविता में जो कुछ महत्त्वपूर्ण और स्थायी है, उसकी प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है; वही स्थायी है, शेष क्षणिक है।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसी कविता का बहुत सा अंश अत्यन्त दुरूह है, मानव के दैनिक अस्तित्व की निकटतम सामयिक यथार्थताओं से निरपेक्ष, निस्संग और असम्पृक्त है। लेकिन इस आक्षेप को प्रश्रय देने का अर्थ है कि हम इस कविता की मुख्य उपयोगिता नहीं समझ रहे हैं। निरन्तर विस्तृत होते हुए युग-मानस के प्रति जीवन-चेतना जिस प्रकार अपने को निवेदित करना चाहती है, उसकी सूक्ष्मता को भी हम हृदयंगम नहीं कर रहे हैं। यह ठीक है कि इन नये कवियों ने अपना कार्य पूर्णतः सम्पन्न नहीं कर लिया है और न अभी विराट् काव्यात्मक समन्वय तक ही पहुँचे हैं। उनका यह कार्य है कि वे एक नवीन और गहनतर जीवन-दृष्टि का विकास करें, मनुष्य के मानस, आत्मा और प्राण तथा अनन्त और शाश्वत सत्य के मध्य युगदर्शी प्रकाश और लय के सबल सेतुओं का निर्माण करें। भविष्यत्-काव्य अपने इन प्रारम्भिक प्रयासों से उबरकर नई और अधिक विस्तृत घाटियों में पहुँचेगा, उन अथाह गहराइयों को मापेगा जिनको अभी तक नहीं मापा गया। यह महत्कार्य आज ही, तुरन्त नहीं सम्पन्न हो सकता, लेकिन यदि आज की कविता इस कार्य का श्रीगणेश भी कर देती है, तो एक पूरे युग को महत्ता प्रदान करने के लिए इतना ही यथेष्ट है।

इस काव्य की प्रकृति के सम्बन्ध में और दो-एक बातों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। वे आलोचक, जो कविता से जीवन के प्रत्यक्ष, स्पष्ट और यथार्थ यथातथ्य चित्रण की माँग करते हैं, एक भ्रमपूर्ण धारणा के शिकार हैं। न केवल काव्य वरन् मानव-मन की किसी भी चिन्तना—यहाँ तक कि विश्लेषण और वैज्ञानिक विचार को भी दृश्य जगत् की बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण करके उन्हें मानसिक दृष्टि के अनुशासन में लाना पड़ता है। किन्तु कवि की सृजन-शक्ति इससे भी आगे है। वह न केवल नई सृष्टि करती है प्रत्युत वर्तमान वस्तुओं को भी एक नया रूप और नये गुण प्रदान कर सकती है।

भविष्यत्-काव्य अपने को उन बाह्य यथार्थताओं से पूर्णतया आबद्ध नहीं कर सकता जिन्हें हम भ्रम से जीवन की सम्पूर्णता मान बैठे हैं। बाह्य यथार्थ और दृश्यमान जगत् बहुत दिनों तक हमारे अनुभव में पृथक् सत्ता नहीं बनाये रख सकते, क्योंकि आध्यात्मिक और मानसिक जगत् से उन्हें पृथक् करने वाली दीवारें धीरे-धीरे टूट रही हैं। बाह्य और अन्तर का अधिक व्यापक क्षेत्र, जो हमारी अनुभूति में सर्वथा वास्तविक होगा, भविष्यत्-काव्य का वस्तु-तत्त्व रहेगा। भविष्यत्-काव्य हमारी भविष्यत्-अनुभूति की वाणी होगा और भविष्यत्-अनुभूति विराट् की व्यापकतर और सम्पूर्णतर जीवन की अनुभूति होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु जब तक यह नूतन सत्यान्वेषी दृष्टि आनन्द और सौन्दर्य की चेतना से अभिषिक्त नहीं होगी तब तक काव्य-दृष्टि में सम्पूर्णता नहीं आयगी। कवि के लिए सौन्दर्य और आनन्द का देवता चन्द्रमा, सत्य के देवता सूर्य से अधिक आवश्यक है। वेदों में चन्द्रमा का प्रतीक देवता सोम ही रस का अधिष्टाता है—इस मधुमती सोमलता को चाँदनी से नहाये हुए अनुभूति के निर्जन शिखरों पर ही पाया जा सकता है। इसीसे नि:सृत द्रव मादक मधु और जीवनदायी अमृत या रस होता है और इस सोम रस के बिना देवताओं को भी अमरता नहीं मिली थी। आज का युग बौद्धिक संघर्षों से ध्वस्त युग है, किन्तु इसमें आनन्द की उपलब्धि असम्भव नहीं। हमारी ऊपरी स्तर की चेतना को विभिन्न वस्तुएँ और अनुभूतियाँ चाहे-जैसी लगें पर प्रत्येक वस्तु और अनुभूति अन्तर्निहित एक गहन आनन्द-भावना और सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है। यही गूढ़ आध्यात्मिक आनन्द की भावना काव्यानन्द और काव्य-सौन्दर्य की मूल पीठिका है।

इस आनन्द को कवि जहाँ चाहे, जब चाहे, यथार्थ जीवन और अनुभूतियों से योंही ग्रहण नहीं कर सकता। कवि का व्यक्तित्व द्विविध होता है। जीवन और अस्तित्व के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ भी दोहरी होती हैं। उसमें एक वह व्यक्ति होता है जो जीवन-प्रक्रिया में निमग्न होता है, जो अन्य लोगों की ही भाँति सोचता है, अनुभव करता है, कर्म करता है—और दूसरी ओर उसमें अन्तर्द्रष्टा होता है जो असाधारण मानव होता है, आनन्द पुरुष होता है, जो सौन्दर्य और आनन्द के मूल स्रोतों से संयुक्त रहता है और विशेष रासायनिक प्रक्रिया से समस्त अनुभवों का आनन्द-प्राण कर देता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में काव्य के इसी सत्व को रस कहा गया था। न केवल भारतीय किन्तु जिन इतर-देशीय संस्कृतियों ने इस रस की उपलब्धि की थी, उनमें सौन्दर्य के प्रति वह गुह्य किन्तु साधारणीकृत पिपासा थी जो परवर्ती युग-मानस से धीरे-धीरे लुप्त हो गई। किन्तु हमें एक बार पुनः उस गंगा को भगीरथ प्रयत्नों द्वारा अवतरित करके सामान्य जन-मानस को उस आनन्द से अभिसिंचित करना है। भविष्यत्-काव्य का एक पावन कर्तव्य यह भी होगा।

: ४ :

काव्य के प्राणों में अन्तर आते ही उसकी देह में भी अन्तर आयगा। उसका रूप बदलेगा, शिल्प-विधान में परिवर्तन होगा। किन्तु जब काव्य-मानस एक नई आत्मा—भूमि में प्रवेश करेगा तो यह आवश्यक नहीं कि पुराने काव्य-रूपों को पूर्णतया परित्यक्त करके सर्वथा नये और अपरिचित रूप ग्रहण किये जायँ। अधिक सम्भव यह है कि पुराने रूपों में नई सम्भावनाएँ प्रतिष्ठित की जायँ और उन्हींकी प्रकृति में आन्तरिक परिवर्तन लाया जाय। काव्य-सृजन के प्रमुख क्षेत्रों में—गीतों में, नाटकों में, प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यों में एक नई परम्परा का सूत्रपात होना अनिवार्य है।

भविष्यत् गीति-काव्य का रूप हृदयंगम करने के लिए गीति-काव्य की परम्परा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। गीति-प्रेरणा सम्भवतः काव्य-सृजन की मौलिक प्रेरणा रही है। आदिम साहित्य में जब जीवन-शक्ति की प्रत्यक्ष गति भावपूर्ण काव्याभिव्यक्ति की प्रमुख प्रेरणा थी तब ताजे आत्म-प्रेरित गीतों की अधिकता थी। बुद्धि-प्रधान युगों में गीतों की धारा मन्द पड़ जाती है। अत्यधिक विकसित बुद्धि या चिन्ता जीवन की आदिम निश्चिन्तता को नहीं आत्मसात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर पाती और न अपनी चिन्ता-ग्रस्त वाणी में उसकी स्मृति को ही लौटा पाती है। प्राचीन क्लासिकल युग में यही स्थिति मिलती है। गीतों के पुनरावर्तन के लिए पुनः रोमाण्टिक युग और रोमाण्टिक भावना की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस समय कवि अपनी कल्पना द्वारा पुराने गीति-रूपों और सरल जीवन-गति की ओर लौटने का प्रयास करता है। किन्तु उस समय तक काव्य-मानस बौद्धिकता के कई युगों से गुज़र चुकता है। गीतों की सहजता भी एक विकसित बुद्धियुक्त काव्य-मानस की आरोपित सहजता होती है। परिणामस्वरूप ऐसी कृतियाँ सम्मुख आती हैं जिनमें सौन्दर्य-चेतना को सन्तोषजनक सफलता मिली है, किन्तु फिर भी आदिम काल की मौलिक गीति-प्रतिभा की उससे तुलना नहीं की जा सकती। भविष्यत्-काव्य में बुद्धि से परे आत्मा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति एक नये प्रकार की मनोभूमि का सृजन करेगी जिसमें न ऊपरी स्तर की भावभूमि की गीति-प्रेरणा होगी और न चिन्तन-मानस का गीति-विरोधी विक्षोभ। भविष्यत्-काव्य का एक आवश्यक और निर्णयात्मक चरण यह भी होगा कि उसे इस सत्य की उपलब्धि हो चुकेगी कि काव्य-रूप वस्तु-तत्त्व का निर्णय नहीं करता वरन् वस्तु-तत्त्व अपने लिए ऊर्णनाभ की भाँति रूप-विधान और 'शब्द' का निर्माण अपने अन्दर से करता है। कवि-चेतना में यह स्थिर होने के उपरान्त जो गीतात्मक स्फोट होगा वह अवर्णनीय है।

इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यों में भी यह कायाकल्प होना अनिवार्य है। साधारण विवरण, या जीवन का यथार्थ चित्रण, या किसी एक मानसिक या नैतिक भाव-धारा का विकास-मात्र उसके लिए यथेष्ट नहीं होगा, उसका तत्त्व वास्तविक होगा और अर्थों का स्तर आत्मा की गहनता में आश्रित होगा। उसकी कार्य-शृङ्खला केवल बाह्यार्थक न होगी, वातावरण भी उनके आन्तरिक अर्थ को व्यक्त करने के लिए ही गुम्फित होगा। महाकाव्य भी प्रबन्ध-परम्परा की व्यापक पृष्ठभूमि और उच्च स्तर की कृति है। अक्सर उसे आदिम काल से सम्बद्ध माना जाता है, किन्तु यह केवल बाह्यस्थिति को आन्तरिक प्रकृति का स्थानापन्न मान लेने की भ्रमात्मक धारणा है। भविष्य के स्वर में आत्मिक जीवन के महाकाव्य गुञ्जरित होंगे।

जिस प्रकार के युग-परिवर्तन की आशा है वह न केवल काव्य-रूपों में नूतन विकास उपस्थित करेगा, वरन् भाषा-शैली और लय-विधान में भी सूक्ष्म परिवर्तन प्रस्तुत करेगा। भाषा के पुराने अभ्यास नये प्राणों को नहीं समेट सकते। या तो वे अपने को विस्तार दें या और गहन बनाएँ, या पूर्णतया कायाकल्प कर लें, अन्यथा वे टूट-फूट जायँगे और उनके स्थान पर नये तत्त्वों की प्रतिष्ठा होगी। वेदों में कहा गया है कि ब्रह्मा ने 'शब्द' से लोकों की सृष्टि की। कवि की सृष्टि भी शब्द-सृष्टि है। बाह्य दृष्टि से शब्द केवल शरीरोद्भूत ध्वनि-मात्र हैं, जिन्हें प्रज्ञा द्वारा अधिक अर्थवान् बना लिया गया है। किन्तु यदि हम आन्तरिक विश्लेषण करें तो पायँगे कि कोई चैतन्य-शक्ति शब्दों को प्राण, मार्मिकता, अर्थ और अस्तित्व प्रदान करती है। यही शक्ति है जिसे वैदिक ऋषियों ने 'वाक्' की संज्ञा प्रदान की थी। तान्त्रिकों का कहना था कि मेरुदण्ड के विभिन्न चक्रों में वाक् का विकास होता है और कवि की वाणी को चतुर्थ स्थिति अर्थात् पश्यन्ती तक पहुँचना है—पश्यन्ती अर्थात् वह शब्द, जिसमें दृष्टि भी है, वह गिरा, जिसके नयन भी हैं।

: ५ :

अतः भविष्यत्-काव्य को काव्य-भाषा की एक सर्वथा नवीन समस्या सुलझानी है। उसे अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहनतम अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए नये प्रतीक ढूँढ़ने हैं। हम नई कविता का जो आन्दोलन देख रहे हैं वह एक बहुत महान् आन्दोलन की भूमिका-मात्र है। वह आन्दोलन—जो समस्त मानव-जीवनकी एक नवीन व्याख्या देने की ओर प्रयासशील है। युग-मानस में जो परिवर्तन हो रहे हैं, अन्तर्दृष्टि जिस प्रकार विकसित हो रही है, मनुष्य के 'स्व' और वस्तुओं के 'स्व' में, पुरुष और प्रकृति में जो तादात्म्य स्थापित हो रहा है—कवि को इन समस्त नवीनतम अनुभूतियों के लिए भाषा का निर्माण करना है, उसे नये उपमान और नये प्रतीक खोजने हैं—उनका प्रयोग भी एक नये ढंग से करना है, जिनमें वे प्रतीक मूल प्रेषणीय सत्यों के आवरण न बन जायँ वरन् काव्यानुभूति और श्रोता की ग्रहण-शक्ति के मध्य नये सेतु बन सकें।

इसी प्रकार दिक् और काल के आकलन में भविष्यत्-काव्य का एक नया स्वभाव होगा। जब तक वह गूढ़ शाश्वत सत्यों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार न करता हो तब तक अधिकतर उसकी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित होगी और भविष्य उसका लक्ष्य होगा। मानव-जाति की वर्तमान अवस्था और भावी भाग्य-निर्णय उसकी प्रमुख समस्या होगी। उसके लिए अतीत और वर्तमान दोनों ही भविष्यत् के अर्द्ध विकसित, अपरिपक्व प्राथमिक रूप-मात्र होंगे और भविष्य मनुष्य के अन्तर्निहित दैवत्व के विकास का स्वर्ण-युग होगा।

वास्तव में भविष्यत्-काव्य मानवता पर अवतरित होने वाला एक नूतन विराट् दर्शन है। वे जातियाँ, जो इस दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करेंगी, अपनी जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को इसकी ज्योति से आलोकित करेंगी वे ही भावी-युग की महा शक्तियाँ बन जायँगी और जिस किसी भी भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और इसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगे वे ही भविष्यत्-युग के अमर स्वरकार होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डाक्टर माताप्रसाद गुप्त

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। किन्तु अपने आकार की विशालता तथा भाषा की दुरूहता के कारण इसका यथोचित रीति से प्रचार नहीं हो सका है। यद्यपि यह हिन्दी की उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में देश के प्रायः समस्त विश्वविद्यालयों में रखा हुआ है, किन्तु आंशिक रूप में ही—कहीं पर कोई समय निर्धारित है तो कहीं पर कोई। प्रकट है कि ६६ समयों के ग्रन्थ का यह आंशिक अध्ययन उसका ठीक-ठीक परिचय नहीं दे सकता। इतना ही नहीं, वह उसका गलत परिचय भी दे सकता है यदि वह ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशों में का हो—और ग्रन्थ के समस्त अंश प्रामाणिक हैं यह अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है। ऐसी दशा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री नामवरसिंह का 'पृथ्वीराज रासो' का एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास निस्सन्देह श्लाघ्य है। आरम्भ में द्विवेदी जी द्वारा लिखित एक संक्षिप्त भूमिका है, और अन्त में दो परिशिष्ट हैं, जिनमें से प्रथम परिशिष्ट में श्री नामवरसिंह जी द्वारा 'रासो-काव्य की परम्परा', 'पृथ्वीराज रासो की प्रतियाँ तथा रूपान्तर', 'पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता', 'पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव', 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' तथा 'भाषा-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ' शीर्षकों के अन्तर्गत ग्रन्थ के विषय में संक्षिप्त ऐतिहासिक और साहित्यिक विवेचन है, और दूसरे परिशिष्ट में 'शब्दार्थ' हैं। ये अंश संक्षिप्त होने पर भी विद्यार्थियों और साधारण पाठकों के लिए उपयोगी हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धी परिशिष्ट कुछ और पूर्ण होता तो अच्छा था, क्योंकि ग्रन्थ के अनेकानेक कठिन और आवश्यक शब्द उसमें आने से रह गए हैं। किन्तु हो सकता है कि इनमें से कुछ इसलिए रह गए हों कि उन्हें सम्पादकों ने सरल समझा हो, और कुछ इसलिए रह गए हों कि उनका अर्थ स्पष्ट न हुआ हो, अथवा उनका पाठ सन्दिग्ध हो। इस पिछली परिस्थिति में जबरदस्ती कोई अर्थ देने की अपेक्षा यह अच्छा ही होता है कि मौन रहा जाय।

किन्तु इतना ही नहीं, यह संक्षिप्त संस्करण इस विश्वास के साथ भी प्रस्तुत किया गया है कि चन्द की मूल रचना कुछ इसीके आस-पास होगी।[१] और इसीलिए संकलन निम्न लिखित स्थापनाओं के आधार पर किया गया है :

१. 'भूमिका' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. "उन दिनों कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद के रूप में लिखा था।"

२. "चन्द बरदाई का यह काव्य 'रासक' भी है, जो गेय-काव्य हुआ करता था, जिसमें मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे।"

३. "'सन्देश रासक' की एक उक्ति तथा एक-दो प्राकृत गाथाएँ भी रासो में पाई जाती हैं।"

४. " 'सन्देश रासक' में बीच-बीच में कवि सूचना देता है कि अमुक पात्र ने अमुक छन्द में अपनी बात कही। उसी प्रकार रासो में भी बीच-बीच में कर दिया गया है।"

५. "वीर रस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छन्दों का प्रयोग अधिक किया था, इस दृष्टि से निम्न लिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—(१) आरम्भिक अंश, (२) इञ्छिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इञ्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता। इन अंशों में भाषा में उस प्रकार की बेडौल और बेमेल ठूँस-ठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है।"

६. "इन अंशों में चन्द केवल कल्पना-विलासी कवि ही नहीं, निपुण मन्त्रदाता के रूप में भी सामने आते हैं।"

७. "साधारण भारतीय कथाओं में, कथाओं को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिए कुछ (जो बताई गई हैं) कथानक-रूढ़ियों का व्यवहार हुआ है। लगभग इन सभी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' में किया गया है।"

८. "शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा-प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है।"

९. "अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है।"

१०. "छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है, पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। १२वीं-१३वीं शती के अपभ्रंश-साहित्य में छन्दों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था।"

११. "वर्तमान रासो में युद्धों का प्रसंग बहुत अधिक है और शहाबुद्दीन तो इसमें हर मौके-बेमौके अनायास आ पड़ता है। अधिकतर भट्ट भणन्त और गलत तिथियों का हिसाब ऐसे प्रसंग में ही आता है। ऐसा करने में कुछ भी संकोच नहीं मालूम पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कर्मधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्ती ठूँस-ठाँस हैं।"

१२. "इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पण्डितों में यह जल्पना-कल्पना आरम्भ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूल रूप है या नहीं। अभी तक इन संस्करणों का जो-कुछ विवरण देखने में आया है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि ये सब संस्करण रासो के संक्षेप रूप ही हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः रासो के मूल पाठ-निर्धारण की दृष्टि से इन स्थापनाओं पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा।

कथाओं का संवादों के रूप में होना इस विषय में कोई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता, इसकी पुष्टि में इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि पैंतालीसवें समय में संयोगिता के अवतार ग्रहण करने की जो कथा है वह भी इसी प्रकार शुक-शुकी संवाद के रूप में है, किन्तु उसे द्विवेदी जी ने स्वतः प्रक्षिप्त माना है[1] और इस संस्करण में स्थान नहीं दिया है। पुनः 'रासो-परम्परा' में यह संवाद-रूढ़ि व्यापक रूप से मान्य भी नहीं थी, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' के निकट समसामयिक 'बीसलदेव रासो' में ही यह रूढ़ि हमें नहीं मिलती।

जहाँ तक रासक-काव्यों के गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोगयुक्त होने का प्रश्न है, वह अंश भी, जो इस संस्करण में नहीं सम्मिलित किया गया है, गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोग-युक्त है।

'संदेश रासक' की कोई उक्ति यदि रूप बदलकर आ गई है तो आश्चर्य न होना चाहिए—यह तो बहुधा हुआ करता है, किन्तु उसकी जो दो प्राकृत गाथाएँ रासो में आ गई हैं वे तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त होंगी, क्योंकि कोई भी— साधारण-से-साधारण प्रतिभा का कवि भी— ऐसा न करेगा कि अपने हजारों छन्दों के काव्य में दो-चार छन्द किसी पूर्ववर्ती कवि की रचना से ज्यों-का-त्यों लाकर रख दे। इस प्रकार की बातें प्रायः पाठकों के द्वारा होती हैं यदि प्रसंगोपयोगी अथवा मिलती-जुलती उक्ति वाले कोई छन्द उन्हें स्मरण रहते हैं, तो वे प्रायः उन्हें हाशियों में लिख लेते हैं और इसके अनन्तर प्रतिलिपिकार प्रायः उन्हें मूल पाठ में सम्मिलित करके उतार लेते हैं।

छन्दों और उनके लक्षणों के उल्लेख उन अंशों में भी मिलते हैं जो इस संस्करण में सम्मिलित नहीं किये गए हैं—यथा 'रेवा-तट समय' में।

छप्पय निस्संदेह इन अंशों में प्रमुख हैं, किन्तु अन्य अंशों में भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, और सम्पादकों ने इन अंशों के अतिरिक्त भी कुछ अंशों को संस्करण में सम्मिलित किया है—यथाः बड़ी लड़ाई समय और बान बेध समय। और वही बात, जो ऊपर छन्दों के सम्बन्ध में कही गई है, भाषा-शैली के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जहाँ तक चन्द के निपुण मन्त्रदाता होने का प्रश्न है, वह भी केवल संकलित अंश में नहीं, शेष अंश में भी उसी प्रकार और लगभग उतनी ही मात्रा में पाया जाता है।

कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग तो अभिन्न रूप में और कदाचित् कुछ अधिक मात्रा में ही उस अंश में भी पाया जाता है जिसे सम्पादकों ने ग्रहण नहीं किया है। ठीक यही बात काव्य-रूढ़ियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन रूढ़ियों का आधार कितना कच्चा है, यह स्वतः द्विवेदी जी के इन शब्दों से प्रकट होगा : **"परवर्ती-काल में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है, वे चन्द की इस प्रवृत्ति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे; इसीलिए प्रक्षेप करने वालों ने चुन-चुन करके कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का सन्निवेश किया है।"**[2]

अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम उतने ही उज्ज्वल रूप में उस अंश में

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' पृष्ठ ६४-६५।
२. 'भूमिका' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रकट हुए हैं जितने उज्ज्वल रूप में वे गृहीत अंश में प्रकट हुए हैं।

छन्द-परिवर्तन की शैली के सम्बन्ध में भी वही बात लागू होती है और इस सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है : "अत्यधिक प्रक्षेप होते रहने के बाद भी 'पृथ्वीराज रासो' में यह (छन्दो बहुला) प्रथा सजीव रूप में वर्तमान है। अनुकरण करने वालों ने भी चन्द की शैली को ठीक रूप में पकड़ा है और वर्तमान रूप में भी रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"[1]

द्विवेदी जी का यह कथन अवश्य ठीक जँचता है कि वर्तमान रासो में युद्धों का आधिक्य, विशेषतः शहाबुद्दीन का मौके-बेमौके अनायास आ पड़ना, प्रक्षेप-जनित ही ज्ञात होता है। युद्धों का अनावश्यक विस्तार और उनमें आई हुई सामन्तों की नामावली आदि तो प्रकट ही भट्ट-भणन्त प्रतीत होते हैं।

किन्तु सबसे अधिक विचारणीय बात अन्तिम है—क्या प्रकाशित बृहत् पाठ के अतिरिक्त पाये गए 'पृथ्वीराज रासो' के मध्यम, लघु, और लघुतम पाठ क्रमशः अथवा स्वतन्त्र रूप से उसके संक्षेप-मात्र हैं। निस्संदेह कुछ विद्वानों ने यह विचार उपस्थित किया है, किन्तु वास्तव में इस विचार का कोई दृढ़ आधार नहीं है, यह केवल एक अटकल है और ऐसी अटकल; जिस पर किसी भी समझदार आदमी को सहसा विश्वास न कर लेना चाहिए।

इस अटकल का आधार, जहाँ तक प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है, इतना ही है कि इन छोटे-से छोटे पाठों में भी कुछ-न-कुछ अनैतिहासिक बातें मिलती ही हैं। किन्तु किसी रचना में अनैतिहासिक बातें मिलना ही उसको अप्रामाणिक भी नहीं बना देता। कोई भी रचना अपने मूल रूप में सुरक्षित हो सकती है और उसमें भी अनैतिहासिक बातें मिल सकती हैं। प्रस्तुत लेखक की समझ में 'पृथ्वीराज रासो' का सबसे बड़ा अपकार इस विचार ने किया है कि यह पृथ्वीराज के समकालीन किसी व्यक्ति की रचना है। इस संस्करण के सम्पादकों का भी यही विचार है। द्विवेदीजी इसमें पाई जाने वाली काल्पनिक बातों के समावेश का कारण काव्य की आवश्यकताओं को मानते हैं।[2] किन्तु सोचने की बात है कि किसी भी समसामयिक—विशेष रूप से आश्रित कवि को क्या पड़ी थी कि वह नायक की माता तक का नाम बदल देता। कर्पूरदेवी नाम में—जो सभी प्रकार से इतिहास से प्रमाणित है—ऐसी कौन-सी खराबी थी कि कोई भी समकालीन और जिम्मेदार कवि उसके स्थान पर 'कमला' कर देता ? किसी भी ऐसे कवि का काव्य का ऐसा कौनसा उद्देश्य सिद्ध हो सकता था नितान्त अनर्गल तिथियाँ और विस्तार देने में ? यह सही है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में कुछ छन्द इस ग्रंथ के मिल जाते हैं। किंतु इतने से ही यह प्रमाणित नहीं होता कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का आश्रित अथवा उनका समसामयिक था। जैसा कि सम्पादकों ने माना है ?[3] स्वतः सम्पादकों ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के उन तीन छन्दों में से, जो 'पृथ्वीराज रासो' में भी पाए जाते हैं, केवल एक को 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' में स्थान दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि शेष दो को वे कदाचित् प्रामाणिक नहीं मानते हैं। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि 'पुरातन प्रबन्ध

१. 'भूमिका' में।
२. वही।
३. भूमिका तथा परिशिष्ट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह' में उद्धृत छन्दयुक्त पृथ्वीराज और चन्द-सम्बन्धी कोई रचना पन्द्रहवीं शताब्दी तक बन चुकी थी।

वस्तुतः यह सारा-का-सारा प्रश्न पाठ-विज्ञान का है। विभिन्न पाठों की प्रतियाँ मिलने पर पाठ-विज्ञान के सिद्धान्त की सहायता से यह सर्वमान्य रूप से निश्चय पूर्वक बतलाया जा सकता है कि ग्रन्थ के जो चार विभिन्न पाठ मिलते हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है कौन किसका पूर्वज है और वह पूर्वज मूल पाठ के कितना निकट माना जा सकता है, अथवा कोई किसी का पूर्वज नहीं है—सभी एक सामान्य पूर्वज की सन्तानें हैं और वह सामान्य पूर्वज कवि का मूल पाठ हो सकता है या नहीं। किन्तु यहीं पर हिन्दी के सम्पादन-कार्य की सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। जिनके पास आवश्यक प्रतियाँ हैं, वे इस कार्य के लिए उन्हें देना नहीं चाहते, विशेष रूप से उस समय जब कि उस सामग्री के आधार पर स्वतः कभी फुरसत से आगे-पीछे कुछ करना चाहते हैं। ऐसी दशा में प्रस्तुत के समान प्रयासों के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए कोई चारा नहीं रह जाता और प्रतियों का आधार लिये बिना एक से अधिक पाठों वाले किसी भी ग्रन्थ के निर्धारित पाठ के विषय में उपर्युक्त प्रकार की शंकाएँ बनी रह जाना स्वाभाविक है। फलतः हम 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' के रूप में इस प्रयास का हृदय से स्वागत करते हैं। यह प्रयास सम्पूर्ण रासक-परम्परा के गहरे अध्ययन का परिणाम है और इस कारण इसके सम्पादकगण हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

महाकवि सूरदास

'महाकवि सूरदास' में महात्मा सूरदास के व्यक्तित्व और कवित्व का मूल्यांकन है। इस दिशा में अनेक ग्रन्थ अब तक लिखे गए हैं, पर उन सबसे भिन्न इसकी विशेषताएँ हैं और इसमें कोई ऐसी पुनरुक्ति नहीं जो इस ग्रन्थ के मूल्य या महत्त्व को कम करने वाली हो। लेखक ने प्रायः सूर के अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री का स्वमत-पुष्टि या वैषम्य के स्थलों में बराबर उल्लेख किया है। परन्तु एक यह बात खटकती है कि इस दिशा में लिखे गए दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का कहीं भी किसी रूप में इसमें उल्लेख नहीं; वे हैं–'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'[2] और 'सूरदास'[3]। जान पड़ता है कि वाजपेयी जी ने इन्हें देखा नहीं, अन्यथा अपने 'जीवनी और व्यक्तित्व', 'काव्य-सौन्दर्य', 'दार्शनिक पीठिका'-जैसे प्रसंगों में वे इनका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि इन विषयों पर इनमें विस्तृत विवेचनाएँ हैं। मेरी दृष्टि में उनका उपयोग आवश्यक था। इतना होते हुए भी इस पुस्तक

१. लेखक—डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।
२. लेखक डॉक्टर दीनदयाल गुप्त
३. लेखक डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विश्लेषणात्मक अध्ययन और तथ्य-उद्घाटन का प्रयत्न इतना गम्भीर है कि महाकवि सूरदास के अध्ययन में यह एक ठोस पृष्ठभूमि ही नहीं, वरन् एक आलोकपूर्ण दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक का नाम है 'महाकवि सूरदास'। सूरदास के महाकवि होने में शायद किसी को शंका न हो, पर 'सूर सागर' को 'महाकाव्य' कहना विवाद से शून्य नहीं। प्रबन्धात्मक न होने पर भी 'सूर सागर' में महाकाव्य-सुलभ क्षेत्र, भावभूमि, चित्रण, विशाल दृष्टि आदि की कमी नहीं है। और इसका कहीं भी संकेत न होना केवल इस बात का ही द्योतक सिद्ध होता है कि लेखक इस पक्ष में किसी प्रकार की शंका या मत-वैषम्य की आशा नहीं रखता। इतना ही नहीं समस्त पुस्तक पर दृष्टिपात करने से पुस्तक में महाकवित्व-प्रधान दृष्टि नहीं, वरन् इस महाकवि के काव्य के अध्ययन के लिए उपयोगी पृष्ठभूमि और दृष्टि प्रदान की गई है। अतएव शीर्षक को देखते हुए यह कमी भी इसमें खटकती है।

प्रथम अध्याय में भक्ति के विकास का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत लेखक ने भक्ति-सम्बन्धी विशाल भारतीय साहित्य का अध्ययन करके उसके विकास को स्पष्ट किया है। वेदों में भक्ति-सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण, ब्राह्मण-काल में भक्ति का स्वरूप, उपनिषदों में भक्ति और उपासना का स्वरूप तथा विष्णु को मनुष्य के अधिक सान्निध्य में लाकर भक्तों के परम दैवत की स्थापना के प्रसंग बड़े ही रोचक हैं। विस्तार-भय के कारण ही सम्भवतः उपनिषदों की रहस्यात्मक भक्ति-भावना पर अधिक नहीं लिखा गया है। इस प्रकार महाकाव्य और गीता-काल में भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण है, जिसमें लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महर्षि वेदव्यास ने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषद्-शास्त्र-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय-प्रधान भक्ति को समान स्थान प्राप्त हुआ, जो भागवत धर्म है। इस प्रसंग का विश्लेषण विस्तृत रूप से लेखक ने किया है कि गीता और भागवत द्वारा भक्ति का उत्कृष्ट विकास हुआ है। इनमें कर्म-फल-त्याग के साथ-साथ ईश्वर को सब-कुछ समर्पण की भावना की परिपुष्टि हुई है, जो सभी साधनों से श्रेष्ठ है और प्रेमाभक्ति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती है, जिसकी व्याख्या ही विशेष रूप से नारद और शाडिल्य भक्ति-सूत्रों में हुई है तथा इसी स्वरूप का प्रतिपादन अनेक रूपों में पौराणिक युग में हुआ। भागवत भक्ति के पूर्ण विकास को स्पष्ट करने वाला ग्रन्थ है, जिसका आधार लेकर आगे आचार्यों ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या की।

भक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख द्वितीय अध्याय में है। पृष्ठभूमि के रूप में हिन्दी-भक्ति-काव्य के अध्ययन के हेतु यह प्रसंग बड़ा ही उपादेय है। इसके अन्तर्गत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विश्लेषण है और शंकराचार्य के मत से इसकी तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रसंग में इस परम्परा में आने वाले स्वामी रामानन्द की उपासना-पद्धति की भी चर्चा है। श्री निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की भी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यह सब हमें सूरदास ही नहीं अष्टछाप के अन्य कवियों के विचार और भाव-धारा को समझने में सहायक हैं। यह अध्याय हिन्दी के भक्ति-काव्य को हृदयंगम करने के लिए बड़ा उपयोगी है।

तीसरा अध्याय सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व पर है। इस प्रसंग में 'सूर सागर' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त 'सूर सौरभ', 'हिन्दी-नवरत्न', 'अष्टछाप'[१], 'सूरदास'[२], 'सूर-निर्णय' आदि ग्रन्थों का उल्लेख है; परन्तु जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व की दिशा में सबसे अधिक विस्तृत विवेचन और प्रामाणिक सामग्री का उपयोग करने वाले ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' का कोई उल्लेख नहीं और न 'सूरदास' ग्रन्थ का ही। डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा के 'सूरदास' में जीवन-सम्बन्धी बातें अत्यन्त विस्तार के साथ दी गई हैं। हो सकता था कि वाजपेयी जी उनसे सहमत होकर उन्हें पुष्ट करते अथवा सहमत न होकर अपना कोई दूसरा दृष्टिकोण सामने रखते। अतएव इन दो पुस्तकों का उपयोग न करने से अब तक के अध्ययन में इस प्रसंग द्वारा विकास प्रस्तुत नहीं किया जा सका। इनके उपयोग से कतिपय मत-वैषम्य के स्थल भी साफ हो जाते—उदाहरणार्थ डॉ० गुप्तजी सूरदास जी का जन्म-संवत् वल्लभाचार्य जी के जन्म-संवत् के आधार पर सं० १५३५ मानते हैं, परन्तु वाजपेयी जी ने उन्हीं तर्कों को देते हुए सं० १५३० माना है। इसी प्रकार के अन्य कई स्थल हैं जिन पर वाजपेयी जी के अध्ययन द्वारा प्रकाश पड़ना आवश्यक था।

पुस्तक का चतुर्थ अध्याय 'आत्मपरक भावभूमि' अत्यन्त महत्त्व का है। यह हमें सूर-साहित्य को ही नहीं, वरन् समस्त कृष्ण-भक्ति-काव्य को समझने के लिए एक मापदंड प्रदान करता है। यह रीतिकालीन शृङ्गारी कृष्ण-काव्य से सूर-जैसे भक्त कवियों के कृष्ण-काव्य का अन्तर स्पष्ट करता है। वल्लभाचार्य का उद्देश्य दर्शन और भक्ति का समन्वय था। हिन्दी के भक्त कवियों ने भक्ति और काव्य का समन्वय कर दिया। इस बात को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है: **"ज्ञान की इस मौन समाधि के समकक्ष (भक्तों के लिए तो उससे भी बढ़कर) भक्ति की मुखर समाधि की कल्पना आचार्य वल्लभ ने की, जो परम आनन्दमयी है।"**[३] यह भक्ति की मुखर समाधि, भक्तिकाव्यामृत का प्रवाह ही है। इतना ही नहीं, दिव्य जन्म-कर्म वाले कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उपरान्त जो कृष्ण का नखशिख-सौन्दर्य-वर्णन है उसके द्वारा **"कलाओं का शृंगार पवित्र हो उठा।"** लेखक का निष्कर्ष है कि कृष्ण दूसरे कवियों के हाथ में नायिकाओं के आमोद-प्रमोद, अष्टयाम और विलासमयी चेष्टाओं और वासनामयी भावनाओं के प्रेरक बन गए, किन्तु सूर के हाथ में वे सर्वत्र पूत—सर्वत्र पावन—बने हुए हैं। भक्तिकालीन कवियों का महत्त्व सचमुच इस बात में है कि उन्होंने मानव की समस्त भावनाओं का विस्तार करके उन्हें राम-कृष्णमय बना दिया।

'दार्शनिक पीठिका' में सूर-काव्य के आन्तरिक रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न है। यहाँ लेखक ने 'सूर सागर' के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्पष्ट किया है। इसमें प्रमुख मन्तव्य, यह सिद्ध करना है कि सूर की भक्ति भावुकता-मात्र से प्रेरित नहीं; वरन् ठोस दार्शनिक भूमि पर स्थित है। उनका भक्ति-मार्ग, दार्शनिक चिन्तनों के उपरान्त निश्चित किया हुआ जीवन-पथ है। प्रेमा-भक्ति का लक्ष्य, ज्ञानियों की मुक्ति नहीं; वरन् मुक्ति तो इन भक्तों के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। उनके लिए तो साधन और साध्य सब-कुछ भक्ति ही है।

'सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष' नामक अध्याय में कतिपय आक्षेपों के उत्तर हैं। लेखक ने

---

१. डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित।

२. लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

३. 'महाकवि सूरदास' पृष्ठ ८४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सिद्ध किया है कि गीता और भागवत दोनों में ही कृष्ण की तटस्थ भावना प्रधान है। दोनों में वर्णित कृत्य उनकी लीला हैं, केवल स्वरूप-भेद है। कृष्ण दोनों ही में निस्संग और निर्लेप हैं और इस दृष्टि से देखने पर ही कृष्ण-चरित्र के सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष को समझा जा सकता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण तो सराहनीय है; परन्तु आक्षेपों के उत्तर में उनकी व्यक्तिगत आलोचना, ऐसी गम्भीर पुस्तक में अधिक शोभनीय नहीं जान पड़ती।

जिस प्रकार उपर्युक्त अध्याय में नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उठी हुई शंकाओं का निवारण है उसी प्रकार 'प्रतीक-योजना' नामक अध्याय में सूर-काव्य-सम्बन्धी कुछ साहित्यिक शंकाओं का समाधान किया गया है। लेखक ने इसके भीतर कतिपय प्रतीकों (जैसे—होली, रास भँवरगीत, चोलीबन्द तोड़ना, वेणु-गीत आदि के भीतर का सौन्दर्य) को केवल लौकिक या केवल आध्यात्मिक रूप में एकांगी दृष्टि से नहीं, वरन् समन्वित दृष्टि से स्पष्ट किया है, जो महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एकाध स्थलों पर वर्णन को न्यायोचित ठहराने का अधिक आग्रह आवश्यक नहीं दीखता।

'काव्य-सौन्दर्य' के प्रसंग में सर्वप्रथम सूर के वर्णन की कुछ असफलताओं का संकेत है जिनमें उन्होंने केवल रूढ़ि-पालन किया है और कोई भावात्मक सौन्दर्य उनमें नहीं आ पाया। इसके पश्चात् इसमें सूर-काव्य में आये कुछ वर्णनों के सौन्दर्य को स्पष्ट किया गया है और उनके भीतर के चित्रणों के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा है। परन्तु सूर के काव्य-सौन्दर्य का व्यापक और पूर्ण उद्घाटन इसमें नहीं हो पाया और इस दृष्टि से यह अन्य प्रसंगों से हीन है।

यह सब होते हुए भी 'महाकवि सूरदास' पुस्तक में जिन प्रसंगों को लिया गया है उनमें लेखक का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन पूर्णतया प्रकट है। बहुत-से ऐसे प्रसंग हैं जिनके अधिक विस्तार से विवेचन की आवश्यकता, इतनी पृष्ठभूमि देने के बाद अपेक्षित थी और जिनके अभाव में यह सूर-साहित्य के अध्ययन को भूमिका-रूप जान पड़ती है। परन्तु उनके न होने का कारण विस्तार-भय ही समझ पड़ता है। इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा सूर-साहित्य के विद्यार्थियों को एक नवीन दृष्टि प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं।[1]

प्रभाकर माचवे

महायान

चीन-भवन के भदन्त शान्तिभिक्षु द्वारा लिखित और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भूमिका से समन्वित इस ग्रन्थ में ३० पृष्ठों की प्रस्तावना है, जिसमें बौद्ध धर्म का स्वाभाविक विकास तथा बौद्धों के अलग-अलग सम्प्रदाय और उनके साहित्य की चर्चा है। उपनिषद्कालीन आदर्शवाद और बौद्ध मत की विद्रोही प्रतिक्रिया की समाज-वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है, जो बहुत मूलगामी है। उदाहरणार्थ पृष्ठ १११ पर बुद्ध-मार्ग और ब्रह्म-मार्ग की यह तुलना देखिए :

१. लेखक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध	ब्रह्म
क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लौकिक, पूरे तौर पर मानवीय;	क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लोकोत्तर, सर्वथा अमानवीय;
ख—बुद्ध के रूप का विस्तार, पूर्व जन्मों के विषय में कहानियों की सृष्टि द्वारा	ख—ब्रह्म के सगुण रूपों के अवतारों द्वारा मानवों के बीच जन्म लेने का सिद्धान्त;
ग—बुद्धत्व-प्राप्ति जीवन का परम उद्देश्य और उसे पाने के लिए पारमिताओं का अभ्यास अनेक जन्मों तक करना;	ग—ब्रह्म तक लोग साधारणतया नहीं पहुँच सकते इसलिए लोगों के उद्धार के लिए स्वयं ब्रह्म का अवतार धारण करना;
घ—बुद्ध और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अभ्यास करनेवाले में क्षमा का परम स्थान, अपराधी के प्रति भी दया भाव, निरपवाद, अहिंसा का भाव।	घ—अपराधियों एवं अधर्मियों के प्रति अवतार की अक्षमता तथा उनका संहार।

इस प्रस्तावना में आगम के मूल रूप और इतिहास पर बहुत अच्छी तरह विमर्श किया गया है। बाद में चौदहवीं शती के संगो-पा ने जाकर सूत्र और तन्त्र को एकात्म कर दिया ऐसा तिब्बती आधारों से पता चलता है, परन्तु वहाँ तक पुस्तक-लेखक नहीं गया है। वह केवल महायान के आठवीं शती के साहित्यिक प्रकारों तक ही प्रस्तावना में अपने को सीमित करता है। परन्तु अन्तिम अध्याय उपसंहार में जहाँ चौरासी सिद्धों के बाद निर्गुण-सगुण मतावली की चर्चा है, कबीर और तुलसी के रामों के रामत्व के भेद पर विचार है, वहाँ यदि सहजयान और वज्रयान के अद्वय और निर्गुण की, जिन्हें तिब्बती में 'नि-मेय' और 'येत्तेन्ट्रेल्वा' कहते हैं, चर्चा हो जाती तो उत्तम होता। तिब्बत में इसीलिए तो बुद्ध को 'संघे' कहते हैं।

इस ग्रन्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है 'महायान-दर्शन'। इसमें महायान के जो आचार्य हैं उनके उपलब्ध मूलग्रन्थों की पूरी खोज-बीन और उनका पूरा निचोड़ विद्वान् लेखक ने उपस्थित किया है।

उन सन्दर्भ-ग्रंथों की छान-बीन से पता चलेगा कि भारत में राहुल जी, कृष्णमाचार्य, ध्रुव, विधुशेखर भट्टाचार्य, वैद्य आदि को छोड़ें तो फ्रांसीसी, रूसी और इतालवी विद्वानों ने ही इस दिशा में अधिक काम किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस विद्वत्तापूर्ण कार्य का सारांश हिन्दी में प्रस्तुत करता है। दर्शन-चर्चा में "शून्य का प्राचीनतम उल्लेख, जो हीनयान निकायों में मिलता है और बाद में उसकी परिभाषा में सब सिद्धान्तों के चरम खण्डनकार नागार्जुन द्वारा जो सूक्ष्म तर्क-प्रमाण प्रयुक्त किया गया, विचारणीय था। शून्य केवल किसी गुणावशेष का अभाव नहीं, परन्तु किसीगुण के आरोप की अपर्यवेक्षणीयता है, अप्रमेयता है। यों वास्तव विज्ञान से परे हो जाता है और ग्राह्य ग्राहक से भी परे। राइस डेविस ने इसकी चर्चा की है। परन्तु शान्तिभिक्षु उन विवरणों में शायद जान-बूझकर नहीं गये हैं, अन्यथा पुस्तक बोझिल हो जाती। शून्य को तिब्बती 'तोम्पानी' मानते हैं, जो अद्वैत का पर्यायवाची है। माध्यमिकों या 'उ-मा-पा' में इसका अधिक प्रचार था। यों, तिब्बत में जाकर बौद्ध-धर्म अपने निराशावादी रूप में जरा भी नहीं मिलता। वह दुःख-पूजा शेष नहीं रहती और तृष्णा एक चमत्कारिक अपार शक्ति बन जाती है।

उपसंहार में तुलसी के सगुणवाद की कुछ निर्भय आलोचना है। उस प्रसंग में मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य बरान्निकोव के तुलसी के समचौपाई रूसी पद्यानुवाद की भूमिका में लिखे एक तर्क की याद दिलाने की इच्छा होती है : 'इस ईश्वर-तत्त्व को तुलसीदास ने कहीं सच्चिदानन्द कहा है और कहीं 'अगुण', इसीको वेद 'नेति' परिभाषा करते हैं, संसार में शरीर धारण करके आता है।[1] और आगे सबसे मजेदार कारण वे देते हैं : "अगुण के सगुण होने का, अवतार की प्रेरणा का कारण है इन दीन-दुखियों के प्रति उसका प्रेम। और ईश्वर-तत्त्व का यह मानवी रूप अपने-आप चलता है।" इस विचार-धारा की रोशनी में शान्तिभिक्षु के इस मत से सहमत हो जाना कठिन है : "राम आदि पौराणिक परम्परा के नामों के बल पर निर्गुनियाँ सन्तों को वेद और पुराणों का अनुयायी नहीं बताया जा सकता, जबकि उनके राम आदि सर्वथा वेद और पुराण-सम्मत नहीं हैं। इन निर्गुनियाँ सन्तों का प्रभाव सगुनियाँ सन्तों पर बहुत पड़ा। वर्ण-श्रेष्ठता के पक्षपाती होने पर भी इन्होंने धार्मिक साधना का द्वार सबके लिए खुला रखने की कोशिश की है।···सगुनियाँ मत के सन्त राम को सब नामों पर तरजीह देते हैं वह अकारण नहीं है।"[2] इस प्रकार से कहीं-कहीं पर लेखक के बौद्ध-प्रचारक होने के कारण ऐतिह्य विवेचन में विवेक का स्थान भावुकता ने ले लिया है; फिर भी सर्वत्र बुद्धिवादी, विचिकित्सक सन्तुलन को लेखक खोता नहीं है। इतर मत-खंडन भी सौम्य और अहिंसक शब्दावली में है।

संक्षेप में, यह ग्रन्थ हिन्दी को गौरव प्रदान करता है और अन्य भाषाओं की दृष्टि में हिन्दी को उठाता है। शान्तिभिक्षु जी का कार्य इस विषय में बहुत ही मूल्यवान है।

हिन्दी के अन्य सभी प्रकाशनों की भाँति इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर भी प्रकाशन-तिथि, वर्ष आदि कहीं भी नहीं दिये हैं।[3]

रायआनन्दकृष्ण

कला : एक नवीन दृष्टिकोण

कला के प्रति हमारे समाज की जो उदासीनता है, वह उससे सम्बन्धित साहित्य के दुर्लभ होने से स्पष्ट है। जिन देशों में, हमारे प्राचीन समाज की भाँति समाज की कला के प्रति आँखें बन्द नहीं हैं, उनमें कला की तात्विक चर्चा बहुत लोकप्रिय हुई है और अँग्रेजी एवं अन्य पाश्चात्य भाषाओं का प्रकाशन इस दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा है। अपने देश का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि एक ओर अपनी कलाओं का समुचित अध्ययन नहीं, दूसरे उनके इतिहास अथवा उनकी व्याख्याएँ संकुचित पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुईं, जिनके द्वारा उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन ही नहीं हो सका एवं अन्ततः उन सबका प्रकाशन विदेशी भाषाओं में होने से वह चर्चा अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही। समुचित साहित्य का अभाव भी हमारे लोक में कला-चेतना के ह्रास का एक कारण रहा है; कला की चर्चा गुलदस्तों की भाँति भले ही उच्च वर्ग के

१. यथा लंकाकांड १२६, ३-४।
२. देखिए पुस्तक का पृष्ठ १३४।
३. लेखक—शान्तिभिक्षु, प्रकाशक—विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोल कमरों की शोभा बढ़ाने लगी हो, पर धरती से वह बिलकुल विच्छिन्न होती जा रही है।

दूसरी ओर कला की तत्त्व-चर्चा पाश्चात्य देशों में कला की नवीन-से-नवीनतम दिशाओं की खोज करने एवं उसमें उसे प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो रही है। लेखनी का सहारा पाकर वहाँ शैलियों ने कुछ ऐसे मोड़ लिये हैं, जिन्हें हमारे कलाकार आँख मूँदकर आत्मसात करते जा रहे हैं। उनमें अनेक के सम्बन्ध में समाज को विचार करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक एक बहुपठित लेखक की रचना है, जिसने उपनिषद्-साहित्य से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक के उद्धरणों द्वारा हमारे चिन्तन की न जाने कितनी श्रेणियों को पार करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके विशद प्रतिपादनों के कुछ सुन्दर स्थल पृष्ठ ३-४, पृष्ठ २०, पृष्ठ ३३, पृष्ठ ५०-५१, पृष्ठ ५२, पृष्ठ ११६-१२०, पृष्ठ १२१-१२२ आदि हैं, कहीं-कहीं पृष्ठ ३, पृष्ठ ११६-१२० आदि पर वे बहुत काव्यात्मक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों, साहित्य-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के उद्धरणों में उसने कितनी सतर्कता रखी है, यह उन शास्त्रों में पारंगत ही बता सकते हैं, परन्तु उसके प्रतिपादन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पहलुओं पर कुछ निवेदन करना आवश्यक है।

विद्वान् लेखक ने पहले निबन्ध में कला शब्द के अर्थ, प्रयोग एवं भारतीय प्राचीन जीवन से उसके सम्बन्धों पर विचार किया है। 'कामसूत्र' की भाँति अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कलाओं की सूची मिलती है। जातकों में भी शिल्पों की सूची है, जिनमें कुछ शिल्प (यथा हजामत बनाना!) हीन शिल्प के अन्तर्गत आते हैं। विभिन्न कालों में कला शब्द के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं एवं कहीं-कहीं उसका प्रयोग कौशलों (क्रैफ्ट्स) के अर्थ में हुआ है। समय-समय पर होने वाले इन अन्तरों को ध्यान में न रखने से भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्वभावतः मध्यकालीन साहित्य-शास्त्रकारों ने इस शब्द का जो अर्थ किया है उससे गुप्त-काल में या उससे भी पूर्व, उसका अर्थ कुछ और ही था। कम-से-कम ऐसे अनेक प्रमाण हैं कि कला को कौशल से भिन्न स्तर पर पूर्वों ने प्रतिष्ठित किया है। प्रारम्भ में लेखक ने कहीं-कहीं इस दृष्टिकोण को छोड़ दिया है, यद्यपि पृष्ठ ६६ पर उसने स्वयं इसे स्वीकार किया है। आचार्य डॉक्टर कुमारस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ट्रान्सफ़ार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट' में इस विषय को बहुत विशदता से समझाया है। उपनिषदों में प्रयुक्त चित्त-संज्ञा शब्द से ही स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति में लोक-वृत्ति अनुकरण होने पर भी कलाकार के मन पर पड़ी लोक की छाया का व्यक्तीकरण है। चित्र-कला के सन्दर्भ में प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त सु-सदृश, अनु-रूप, अनु-कृति आदि शब्द इसी बात को स्पष्ट करते हैं।

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी इससे भिन्न नहीं। विद्वान् लेखक ने अनेक पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों के प्रमाणों द्वारा साहित्य-सृजन में इस प्रक्रिया को स्वीकारा है। पृष्ठ १३ पर पाद-टिप्पणी में हर्बर्ट रीड की उक्ति में इमेजेज शब्द इसी चित्त-संज्ञा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः 'बाइबिल' का विज़न (पृष्ठ १४) शब्द इससे भिन्न नहीं। लेखक ने साहित्य में इस प्रक्रिया को जिस रूप में देखा है, कला में उसकी प्रतिष्ठा है। आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे निबन्ध 'कला की परिभाषा' में उसने अरस्तू से लेकर रवीन्द्रनाथ तक के चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को बहुत प्रबलता के साथ हमारे सामने रखा है। पृष्ठ १२५ पर प्राचीन चीनी चित्रकार कुओसी की उक्ति भी इसकी पुष्टि करती है। चित्र-सूत्र में भी यही बात मिलती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पृष्ठ ४५ और पृष्ठ ६३ पर विद्वान् लेखक ने स्वयं स्वीकारा है : **"प्रत्येक कला···एक ही लक्ष्य की साधना करती है।"** पर न जाने क्यों स्वयं उसे इस बात पर निष्ठा नहीं। इसी प्रकार **"संगीत···ही है,"** (पृष्ठ ५७) वाला उसका निष्कर्ष किसी तर्क पर आधारित नहीं।

अतः साहित्य अर्थात् काव्य एवं कला में साधन-मात्र की भिन्नता मानी जाती है। जिस प्रकार साहित्य में ही अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार हैं; यथा छन्दों द्वारा, कथाओं द्वारा, गद्य-काव्यों द्वारा, निबन्धों द्वारा एक ही भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है उसी प्रकार साहित्य और कला अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग-मात्र हैं। तालस्ताय के कथन (पृष्ठ १६), **"कला वही मर्मवाणी है जो साहित्य की है,"** पर ध्यान न देकर लेखक ने कहा है : **"कला और काव्य को एक कर देने में कोई अशुभ सम्भावना नहीं होनी चाहिए।"** इस प्रकार लेखक ने दोनों में जो तात्विक अन्तर पाया है वह वस्तुतः है ही नहीं और ऊपर यही बात तालस्ताय के शब्दों में भली भाँति व्यक्त हुई है। लेखक ने इस दृष्टिकोण को अमान्य ठहराकर कहा है : **"हम इसे काव्य नहीं कहेंगे, यह काव्य की कला हो सकती है।"** (पृष्ठ ८)। मानो सबसे हीन रूप कला का है। अपने देश में कला के प्रति ऐसी भावना कभी न थी। प्राचीन उल्लेखों में तो कुछ और ही मिलता है :

> शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
> लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्ययैर्ह्यमी। (भामह)

अथवा **'साहित्य संगीत-कला-विहीनः'** वाले प्रसिद्ध वाक्यांश में कला की प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से मिलती है। इस पक्ष के इतने उद्धरण मिल सकते हैं कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं। तब ऐसा भ्रम क्यों उत्पन्न होता है ? वस्तुतः चित्र आदि को कहीं-कहीं कलाओं के ऐसे वर्गों में रखा गया है जिनमें नागरों के लिए अनेक कौशलों के नाम हैं; जैसे माला गूँथना, बुझौवल, समस्या-पूर्ति आदि। ध्यान देने की बात है कि ये सूचियाँ नागरिकों के लिए हैं, कलाकारों अथवा आचार्यों के लिए नहीं। जन-साधारण के लिए कला की सूची वस्तुतः उनके दैनिक जीवन में काम आने वाले गुणों की सूची है, आजकल के शब्दों में 'सोसायटी मैन' बनने के लिए गुणों की सूची है। इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट है कि वेश्याएँ कलाओं में प्रवीणता इसलिए प्राप्त नहीं करती थीं कि उससे उन्हें 'ब्रह्मानन्द सहोदर रस' की उपलब्धि हो, वरन् उन्हें वे अपनी 'वैदग्ध-ख्याति' के लिए प्राप्त करती थीं। कलाकार की साधना इन सबसे भिन्न ही होती है।

इन सब वर्गों से ऊपर कलाकार था, जिसे समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजा अपने दरबार में उसे 'अत्रभवान' कहकर सम्बोधित करते थे। वह आचार्य कहलाता था। वह जिस साधना में लगा रहता उसके फलस्वरूप हमारे प्राचीन काल की लोकोत्तर कला की सृष्टि हुई है जिसके उदाहरण सारे देश में महावराह की भाँति अतीत के महा समुद्र से प्रायः निकल पड़ते हैं। जिस समाज ने अजन्ता के कलाकारों को जन्म दिया, जिस समाज में सारनाथ के बुद्धदेव की मूर्ति गढ़ने वाला पैदा हुआ, उसमें कला के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा होगा इसे बताने की आवश्यकता नहीं। जीवन से वह कला कितनी सम्पृक्त रही होगी इसकी वकालत करना भी अनपेक्षित है। यदि और विस्तार में जाना चाहें तो तत्कालीन साहित्य में कला-कृतियों के प्रति सहसा निर्गत श्लाघा वा उसकी आलोचना को देखें, जिनसे सारा संस्कृत-साहित्य भरा पड़ा है। ऐसी दशा में विद्वान् लेखक की उक्ति, **"जो भी हों, मानव ने कला की यह मान्यता इसके (नई विचार-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा के) पहले कभी नहीं" दी (पृष्ठ ८), भारत के पास प्रतिमा बनाने का कौशल कला तो था, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का अभिषिक्त मन्त्र उसके पास नहीं था" (पृष्ठ ११), न्यायपूर्ण नहीं। ऐसी अनेक उक्तियों के पीछे विद्वान् लेखक को कौनसी प्रेरणा थी, यह पता नहीं।

अन्य निबन्धों में लेखक ने कला की भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई परिभाषाओं का अच्छा संग्रह किया है, जो इस विषय में उसके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है। कला-सम्बन्धी प्राच्य वा पाश्चात्य उक्तियों का ऐसा बृहद् एवं सुन्दर संग्रह दुर्लभ है। उन उक्तियों का प्रतिपादन भी लेखक ने बड़े ही सामर्थ्य के साथ किया है। इसमें भी कई बार ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें देशी वा विदेशी चिन्तकों ने कला की प्रतिष्ठा साहित्य से कम नहीं की है। आश्चर्य है स्वयं उससे भिन्न-मति होते, लेखक ने इनके पक्ष का इतना अच्छा प्रतिपादन कैसे किया है। परन्तु इसमे यह स्पष्ट है कि अनेक देश-काल के भिन्न-भिन्न विचार-धारा वाले मनीषी कला के सम्बन्ध में प्रायः एकमत हैं। वस्तुतः उनके इस मतैक्य को देखकर आश्चर्य होता है। यही बात कला के प्रयोजनों के सम्बन्ध में आती है। सौन्दर्य शब्द एवं उसके विभिन्न अर्थों में भी कुछ कम बखेड़ा नहीं है। इस 'खंडनखंडखाद्य' से बेचारी कला का सिर चकरा गया होगा। इसके बाद यह निष्कर्ष उचित है : **"जो कला की दृष्टि से अच्छा सुन्दर है, वह सुनीतिमूलक, जो नहीं वह नहीं अथवा विपर्यय करके, जो सुनीतिमूलक है वही अच्छा, जो नहीं वह नहीं।"** सारे ऊहापोह के बाद यहीं ठौर मिलता है। कला जीवन का संस्कार करती है या नहीं, यह भी बहुत-कुछ इसी सूत्र पर हल होता है। कला की तीनों दृष्टियों अर्थात् कलाकार का दृष्टिकोण, कृति का दृष्टिकोण एवं रस-ग्राहक के दृष्टिकोणों का अलग-अलग अच्छा विवेचन हुआ है, जिसमें अनेक उद्धरण उपयोगी एवं मननीय हैं। इन तीनों दृष्टिकोणों को अलग-अलग, एक-दूसरे से भिन्न, एक-दूसरे से परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः ये तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टिकोण के बिना कला की परिभाषा एकांगी होगी।

पर लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने अपने-आपको तटस्थ रखकर सामग्री प्रस्तुत की है और उस पर विचार-विमर्श किया है। किसी वाद में पड़कर प्रत्येक सिद्धान्त को तोड़ने-मरोड़ने की चेष्टा उसने नहीं की है। विशेष रूप से प्रत्येक सिद्धान्त वा वाद को प्रतिपादित करने में उसने अपनी गहराई का परिचय दिया है यथा पृष्ठ ३२-३३ पर 'स्वान्तःसुखाय' और 'बहुजन हिताय' वाला प्रसंग अथवा पृष्ठ ५०-५१ पर 'अभिव्यक्ति की शक्ति' या पृष्ठ ५१ पर 'उपयोगिता बनाम सौन्दर्य-भावना' आदि उदाहरण के लिए काफी होंगे।

इस प्रकार पुस्तक अपनी उपादेयता के देखते विशिष्ट वर्ग में आती है, जिसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।

---

१. **लेखक—हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक—मानसरोवर, गया।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन

भारतीय प्राचीन लोकोत्सव ऐसा विषय है, जिस पर बहुत कम अध्ययन हुआ है। पर "...... **प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल ऐसे ही उत्सवों का वर्णन हुआ है, जिनका कुछ ऐतिहासिक महत्त्व है।"** इस प्रकार विषय जरा सीमित पर गठित हो गया है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में अनेक लोकोत्सवों को छोड़ भी दिया गया है। विषय-प्रवेश में उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण में लेखक ने पाकिस्तान बनाने वाली मुसलिम मनोवृत्ति की चर्चा के साथ ही यह भी कहा है कि हमारे देश में **'फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीका वालों का स्वातन्त्र्य-संग्राम या रूसी क्रान्ति-जैसी अनियन्त्रित जनता की उद्दण्डता का उदाहरण नहीं मिलता।'** एक तो इन बातों का विषय-वस्तु से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है; दूसरे फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीकी स्वातन्त्र्य-संग्राम और रूसी क्रान्ति का सम्बन्ध समाज के उस विकास से है, जिसे अर्थनीतिक परिभाषा में औद्योगिक और सामाजिक क्रान्ति कहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ भारतवर्ष में अंग्रेजों के माध्यम से हुआ। इसीलिए यहाँ क्रान्ति नहीं, अंग्रेजों की छाया में औद्योगिक विकास हुआ। इस विकास के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में अंग्रेजों की छाया में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति हुई। भारतीय समाज के श्रेणी-सम्बन्धों, ऐतिहासिक काल-क्रम और अंग्रेजी कूटनीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति पहले हुई और मुसलमानों में बाद को। इस अर्थनीतिक भेद ने सामाजिक परिपार्श्व के अन्दर अंग्रेजी कूटनीति द्वारा साम्प्रदायिक रूप लिया, जिसका परिणाम पाकिस्तान हुआ। अतः यह (पाकिस्तान) कोरे सामूहिक मनोविज्ञान का विषय नहीं है। सामाजिक यथार्थ का कुछ सीमा तक अपरिपक्व, विकृत और कुछ सीमा तक विदेशी कूटनीतिक परिणाम है। फ्रांसीसी और रूसी क्रान्ति में समाज का विकास न देखकर उद्दण्डता देखना, समाजतात्त्विक यथार्थ की अवहेलना करना है। किन्तु उदाहरण की अप्रासंगिकता और इन गलतियों को निकाल दिया जाय तो उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण सुन्दर है।

ऐतिहासिकता का बन्धन लेखक ने ऐसा बाँधा है कि बहुत-से अपेक्षित उत्सवों के विधानों की उपेक्षा हो गई है। 'दीपावली' के बाद 'यम द्वितीया' के उत्सव के वर्णन में शहरों में होने वाले कृत्यों का भी वर्णन नहीं किया गया है। जैसे बहन द्वारा भँडेहर भरना, गोधना कूटना, भाई को गाली और मृत्यु का श्राप देना और फिर भाई की आयु जोड़ना। भोजपुरी-भाषी देहातों में इस उत्सव में ज़मीन पर गोबर की पुरुष आकृति बनाना, उसमें चना रखना, कुमारी कन्याओं द्वारा उसे मूसल से मारना, गालियाँ बकना, वृद्धाओं द्वारा कहानियाँ कहना और गीत गाना तथा फिर उसी चने का खाना आदि बहुत विधान हैं। पर लेखक ने किसी का जिक्र नहीं किया है। ऐसा लगता है कि लेखक नें प्राचीन साहित्यिक रेकार्डों को ही इतिहास मान लिया है। जीवित परम्पराओं की ओर ध्यान कम दिया गया है। प्राचीन रेकार्डों में भी उससे गलतियाँ हो गई हैं। जैसे बृहद्रथ को आर्येतर योद्धा मानना। बृहद्रथ वसु का पुत्र है और उसने मगध में बार्हद्रथ-वंश की स्थापना की थी, जिसमें आगे चलकर जरासन्ध नामक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इस वंश ने व्रात्यों से ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध रखा। इसीलिए बाद के ब्राह्मण-मत वाले साहित्यकारों ने इस वंश को हीन रूप में चित्रित किया, पर आधुनिक लेखकों को इन तथ्यों को समझना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकोत्सवों के उत्सवोचित विधानों का वर्णन तो प्रायः नहीं-सा ही है। शुष्क शैली में सार-मात्र दिया हुआ है। इससे प्राचीन लोकोत्सवों की झाँकी नहीं मिलती। सिर्फ इंगित होता है कि अमुक उत्सव ऐसा होता था। अच्छा होता यदि प्राचीन साहित्य से उत्सवों के सजीव वर्णनों को और उत्सवों के लोक-प्रचलित रूपों को भी ले लिया गया होता। उत्सवों की विधि को ही न देकर यदि उसके कलात्मक रूपों को भी दे दिया गया होता तो न केवल ग्रन्थ की कमजोरियाँ दूर हो जातीं, बल्कि उसकी उपयोगिता भी बढ़ गई होती।

'प्राचीन लोकोत्सव' में लोकोत्सवों की अपेक्षा, जिन मान्य देवी-देवताओं के नाम पर उत्सव होते हैं, उन देवी-देवताओं के विकास और इतिहास का अच्छा परिचय दिया हुआ है। नवरात्रि-उत्सव के प्रसंग में देवियों का परिचय विस्तृत और प्रमाण-पुष्ट है। विभिन्न देवियों के सम्बन्ध में, उनकी पूजा के सम्बन्ध में, प्रारम्भ में उनका किन जन-जातियों से सम्बन्ध था और बाद में उनका कैसे आर्यीकरण हुआ, इन सभी पहलुओं पर सूक्ष्म और सारग्राही विवरण इस ग्रन्थ में है। वस्तुतः इसमें इतना ही सर्वोत्तम है। यदि कुछ उत्सवों को हटाकर इसका नाम 'भारतीय लोक देवी-देवता' कर दिया जाय तो ग्रन्थ गठित हो जायगा और ऐसा न करने पर लोकोत्सवों का सजीव चित्र देना परमावश्यक होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में विषय-प्रतिपादन की दृष्टि व्यापक है। भारतीय देवी-देवताओं और लोकोत्सवों से मिलते-जुलते विश्व में जहाँ जो देवी-देवता और लोकोत्सव हैं, उन सबों का संक्षिप्त परिचय लेखक ने दिया है। इस शैली से विश्व में मानव-मन की एकता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित होता है। विभिन्न देवी-देवताओं और विश्लेषणों के अन्त में लेखक ने अपने परिणाम भी निकाले हैं। लेखक के परिणामों से पूर्णतः कोई सहमत हो अथवा न हो; पर लेखक की इस वैज्ञानिक शैली का पाठक के मन पर शुभ परिणाम पड़ना चाहिए। इस शैली द्वारा लेखक पाठकों को सोचने के लिए बाध्य भी कर देता है और एक परिणाम भी सामने रख देता है, जिसके पीछे तर्क और प्रमाण दोनों होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी में इस विषय का यह अच्छा ग्रन्थ है। इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं, इसकी भाषा में भी कुछ दोष हैं—पुनश्च का प्रयोग बड़ा बेढंगा है—पर लेखक की दिशा ठीक है।

डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

व्यक्ति और वाङ्मय

श्री प्रभाकर माचवे हिन्दी के सुविख्यात कवि और आलोचक हैं। उनकी प्रस्तुत कृति 'व्यक्ति और वाङ्मय' में सन् '३६ से सन् '५२ तक समय-समय पर लिखे हुए उनके लेखों का संग्रह है। इन लेखों में उन्होंने आदि काल से आधुनिक काल तक के भारतीय कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया है। ऐसे कवियों में वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, राजशेखर, कबीर, विद्यापति, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला, महादेवी, 'दिनकर'

१. लेखक—श्री मन्मथ राय, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतभूषण अग्रवाल आदि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मराठी के ताँबे, बी. यशवन्त आदि, दक्षिण भारत के सुब्रह्मण्य भारती (तमिल), वल्लथोल (मलयालम), दे० कृष्ण शास्त्री (तैलुगु), द० रा० बेन्द्रे (कन्नड़), गुजराती के नान्हामल, जोशी आदि और पंजाबी के नानक से लेकर आज तक कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया गया है। कुछ लोगों का यह कहना रहा है कि माचवे जी केवल हिन्दी की बात मराठी में और मराठी की बात हिन्दी में कहते हैं। 'व्यक्ति और वाङ्मय' से यह सिद्ध हो जाता है कि वे मराठी की बात ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की बात भी हिन्दी में कहते हैं—हाँ, यह पता नहीं कि वे हिन्दी की बात भी उन सब भाषाओं में कहते हैं या नहीं। इतना ही नहीं, माचवे जी को रूसी, जर्मन, फ्रेञ्च, ग्रीक, लेटिन, इटैलियन, अंग्रेजी, पोलिश आदि यूरोपीय भाषाओं का भी ज्ञान है, जिनसे वे स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हैं और यूरोपीय ग्रन्थकारों के नामों का उल्लेख करते हैं। ऐसे बहु-भाषाविद् कवि और लेखक को पाकर हिन्दी-भाषा आज धन्य है! प्रारम्भ में लेखक ने लिखा है: **'लेखक व्यक्ति की वर्तमान आचार-स्थिति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तैयार नहीं। हाँ, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन करने की चेष्टा आवश्यक समझता है।'** माचवे जी व्यक्ति और उसके साहित्य को अलग-अलग देखना नहीं चाहते। किन्तु जब हम इस कृति को पढ़ते हैं तो लेखक के इस कथन की पुष्टि नहीं होती। हमें 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन' अत्यन्त क्षीण रूप में। मिलता है या फिर मिलता ही नहीं। वाल्मीकि, व्यास आदि से सम्बन्धित प्रारम्भिक लेखों में तो इस प्रकार का अध्ययन बिलकुल नहीं है—शायद यह सम्भव भी नहीं था। लेखक ने संस्कृत और प्राकृत-कवियों से सम्बन्धित लेखों को खोजपूर्ण बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उनमें 'फ़िफ़्थ-हैंड सोर्सेज' से ली गई सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों से सम्बन्धित लेखों में संस्मरण और कवियों की कुछ रचनाओं की समीक्षाएँ हैं या उनकी रचनाओं से सम्बन्धित कुछ पक्षों पर ही संक्षेप में विचार किया गया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के अन्तर्गत 'अन्तर-मानस का अध्ययन' हमें नहीं मिलता। लेखों में प्रायः विषयान्तर मिल जाता है। पाठक लेखक के विचारों से सहमत भले ही न हों, किन्तु उसके लेखों में रोचक सामग्री का अभाव नहीं है। लेखक की जर्नलिस्टिक शैली में पाठकों का मन रमता है, मनोरंजन होता है और अनेक दिलचस्प बातें पढ़ने को मिलती हैं; किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ लेने के बाद पाठकों का बौद्धिक Status quo बना रहेगा। वास्तव में माचवे जी के ये लेख उन चित्रों की भाँति हैं जिनमें विविध प्रकार के रंगों की कूचियाँ तो मारी गई हैं, किन्तु चित्र या तो अस्पष्ट हैं या केवल आंशिक रूप में ही उभर पाए हैं। कहीं-कहीं तो रंग फीके भी हैं।[1]

१. लेखक—प्रभाकर माचवे, प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

विभावरी

'विभावरी' श्री नीरज की ४० कविताओं का संग्रह है, जिसमें ३८ गीत हैं और २ गद्य-काव्य। कविताओं में कवि का सबसे प्रबल स्वर संसार की क्षण-भंगुरता से उत्पन्न निराशा का है। इसीलिए अधिकांश कविताओं में कवि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से यही बात कही है कि संसार में स्थायी और सुखद वस्तु कुछ नहीं है, धरती, आकाश और समुद्र सब नाश की गोद में विश्राम कर रहे हैं और जिन्दगी एक विवशता है। नीरज जी की कविता में बड़े वेग से जो यह नाश का चित्रण हुआ है यह क्यों ? नाश-भावना से प्रेरित काव्य-सौन्दर्य जहाँ उनके लिए गौरव की वस्तु है वहाँ हमारी समझ में युग के दायित्व से भागने की भी वस्तु है। हो सकता है कि नीरज जी युग की माँग को महत्त्व न देकर युग-युग की भावना को ही वाणी के माध्यम से प्रचारित करना चाहते हों, पर तब भी हमारा विनम्र निवेदन यह है कि 'मृत्युवाद' ही युग-युग की भावना नहीं है, 'जीवन' भी युग-युग की भावना है; और आज, जब कि राष्ट्र जीवन मरण के संकट में है, एक सशक्त स्वर के कवि से अधिकार पूर्वक यह माँग करना अनुचित नहीं है कि वह पिष्टपेषण के दोष को अपनाकर नाश का गीत न गाए।

यह हम इसलिए और भी कहते हैं कि नीरज जी की लेखनी में शक्ति है और वे प्रेरक और गतिवान कविताएँ भी लिख सकते हैं। हमें विश्वास है, नीरज जी अपने 'जनपद की धूल' गद्य-गीत की भावना को अपना लक्ष्य बनायँगे। **'स्वर्ग तो केवल कल्पना-लोक है, उसे यदि तू चाहे तो पृथ्वी पर ही बना सकता है, पर शासन यदि चाहता है तो जा, जनपद की धूल मस्तक पर धारण कर, तुझे त्रिलोक का राज्य प्राप्त हो जायगा।'** उन्हीं के शब्दों को लेकर हम उनसे यह सब इसलिए कहना चाहते हैं कि, **'करने को निर्माण मगर जग में वीरान अभी बाकी है।'**

नीरज जी की कविताओं में दृष्टिकोण की असामयिकता भले ही हो, पर उनकी अनुभूति की सचाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर सबसे बड़ी विशेषता भाषा-शैली की है। उर्दू-मिश्रित सरल भाषा में अपनी गहरी-से-गहरी बात को व्यक्त कर देने में सम्भवतः नीरज जी आधुनिक तरुण कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। ऐसा लगता है कि अनायास उनकी अनुभूति इस भाषा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर गई है।

उनके संग्रह पर आदर्श वाक्य की भाँति ये पंक्तियाँ अंकित हैं : **'आदमी हूँ आदमी को प्यार करता हूँ।'** हम उनके इस मनुष्य-प्रेम का आदर करते हैं, पर यह मनुष्य-प्रेम केवल नारी तक ही सीमित होकर न रह जाय, इस ओर कवि को सतर्क रहना है और पीड़ित मानवता का गीत भी गाना है। आशा है कवि इस ओर गहराई से सोचेगा।[1]

---

१. लेखक—नीरज, प्रकाशक—साधना प्रकाशन, कानपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्षयचन्द्र शर्मा

मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह

'मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह' निःसन्देह मीराँ के पदों का बृहत् संग्रह है; इसका सम्पादन श्रीमती पद्मावती 'शबनम' ने अत्यन्त श्रम पूर्वक किया है। यदि सम्पादिका में श्रम और लगन के समान भाव-विषयक तल-स्पर्शी अन्तर्दृष्टि और भाषा-विवेचिनी विद्वत्ता होती तो यह कार्य मीराँ-साहित्य-परम्परा में शीर्ष-स्थानीय होता। इस संग्रह का महत्त्व एक-मात्र संग्रह की दृष्टि से ज्यादा है और विवेचन की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम। सम्पादिका ने मीराँ-काव्य-जिज्ञासुओं के सम्मुख बहुत-सी कच्ची-पक्की सामग्री जुटा दी है, जिसको आधार बनाकर मीराँ के अध्ययन को आगे बढ़ाया जा सकता है।

सम्पादिका ने भाव को स्पष्ट करने के लिए फुटनोट में कुछ शब्दों का अर्थ दिया है। भूमिका-लेखक श्री श्रीकृष्णलाल के कथनानुसार इससे मीराँ के भाव स्पष्ट हो गए हैं। पर यह सही नहीं। सम्पादिका शब्दों का अर्थ स्वयं कम समझती हैं, इससे भावों की अस्पष्टता ही बढ़ी है। स्थान-स्थान पर जो शब्दार्थ दिये गए हैं, वे प्रायः अशुद्ध हैं।

'शबनम' ने पहला शब्दार्थ 'बिस्वा बीस' का लिखा है, पर बिस्मिल्लाह ही गलत। 'बिस्वा बीस' का अर्थ 'शुभ' कहाँ से आया; राजस्थानी भाषा में आज भी इसका अर्थ 'एकदम-सही' प्रचलित है: **'सुपण-बिस्वा बीस।'**

चोरी करूँ न मारगी (पृष्ठ ६) 'मारगी' का अर्थ कुमार्गी होना नहीं, बटमारी करना है।

'कांकड़ करहा झुकाय पिया म्हारो गिरधारी।' (पृष्ठ ७) इसके सीधे-से अर्थ में सम्पादिका उलझ गईं। करहा का अर्थ मालूम न होने से सारी गड़बड़ हुई। इस पंक्ति का अजीब अर्थ लिखा है: 'सरहद ने अपने शिखर झुका दिए।' लिखने को तो लिख गईं, पर भाव कुछ बैठा नहीं, तो फिर धींगा-धींगी से दूसरा अर्थ (?) निकाला गया: 'अर्थात् सरहद के लोगों ने बारात सजाकर आते हुए राणा का विशेष स्वागत किया।' उक्त पंक्ति का सीधा-सा अर्थ है—'हे सखी! राणा का ऊँट गाँव की सीमा पर आ पहुँचा, पर मेरे तो पति गिरिधर हैं।' यह पद विवाह-प्रसंग का है। सखी से मीराँ की बातचीत हो रही है। राजस्थान में दूल्हा ऊँट पर सवार होकर जाता है। बस, यही इसमें निर्देशित है। 'करहा' का अर्थ ऊँट होता है, यह शब्द आज भी राजस्थान में प्रचलित है। विवाह की शुभ वेला में 'करला' (ऊँट का गीत) गाया जाता है। संस्कृत के 'क्रमेलक' से बिगड़कर 'करला' या 'करहा' शब्द बना है, यही अंग्रेजी में 'कैमल' बन गया है। वीर-काव्यों व लोक-गीतों में यह शब्द भरा पड़ा है:

'एकर स्यां मारूजी करला पाछा जी मोड़
ओल्यूं घणीं आवै म्हारे बाबा सारी।'

[हे प्रिय! एक बार, केवल एक बार, ऊँट को वापस मोड़ लो। मुझे मेरे पिता की मधुर याद आ रही है।]

कामिण कलस सँवारि (पृष्ठ ८) में कामिण का अर्थ दिया है घर में काम करने वाले नौकर। यह अर्थ एकदम अशुद्ध है। सही अर्थ है—सुन्दरियाँ (मंगल) कलश सजा रही हैं। विवाह के समय सुन्दरियाँ मंगल-कलश सजाकर सूण (शकुन) दिया करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादिका ने 'ओलमा' का अर्थ जगह-जगह 'शिकायत' लिखा है, इसका अर्थ उपालम्भ या उलहना है। शिकायत और उलहना पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। 'आई मिल्यो मोहि सागी' (पृ० ५८) इसमें 'सागी' का अर्थ 'स्वयं' लिखा है, जबकि इसका अर्थ है, वही (सेम)। '... भांवे' (पृ० ६८) में 'भांवे' का अर्थ 'लगती है' किसी तरह नहीं लगता; 'मेरी बला से' इसका अर्थ है, जो आज भी इसी अर्थ में राजस्थानी में व्यवहृत होता है। 'पातलियो साँवरियो जोमी' (पृ० ६६) में 'पातलियो' का अर्थ सुगठित शरीर वाला नहीं, 'पतले शरीर वाला' है। गीतों में नायक के सुन्दर विशेषणों में यह भी एक विशेषण है।

सम्पादिका ने 'गिरधर म्हारो मोड़' (पृ० ६५) में मोड़ के तीन अर्थ लिखने का व्यर्थ कष्ट उठाया, मोड़ का असली अर्थ 'मौर' (सिरमौर) न जाने कैसे छूट गया। 'राणाजी ओठी भेज्या' (पृ० ६७) में 'ओटी' का अर्थ 'पत्र' लिखा है। ओठी का अर्थ है—ऊँट-सवार। यह शब्द लोक-गीतों में राशि-राशि भरा पड़ा है। 'पणिहारी ऐ जोय' गीत में भी यह शब्द आया है : 'होज्या ओठीड़ै रै लार।'

'ढोल्यो' शब्द मीराँ के पदों में बार-बार आया है :

'(१) जाजम दीनी बैसणो कोई ढोल्यो दीनो ढाल (पृ० १०१)

(२) आवण री बिरियाँ भई जी, अब महलां ढोल्यो ढाल' (पृ० १३७)

सम्पादिका ने 'ढोल्यो' का अर्थ किया है 'मूँज के बनाये हुए छोटे पलंग, मचिया' तथा दूसरे स्थान पर अर्थ दिया है 'अतिथि अभ्यागत के लिए बनाये गए छोटे पलंग।' ढोलिया मूँज का नहीं, सुरंगी नीवार से बनाया जाता है। यह अभ्यागत के लिए नहीं, प्रिय के लिए बनाया जाता है। महल में ढोलिया ढाला जाता है। यह छोटा नहीं, बड़ा होता है। ढोलिया तो केलि-पर्यंक है। ढोला (प्रिय) जिस पर पोढ़े—वह ढोलिया। लोक-गीतों में भी प्रोषित-पतिकाएँ इसी 'ढोलियो' को सजाकर प्रतीक्षा करने की बात कहती हैं :

'बादल वर्णी सेज बिछाय

चन्दा के च्यानणिये ढालूँ ढोलियो जी म्हारा राज।'

मीराँ के पदों में 'कालर' शब्द दो-तीन जगह आया है, पर इसका सही अर्थ कम ही समझा गया है :

'देखि बिराणो निवाण कूँ हे क्यूँ उपजावे खीज

कालर आपणो ही भलो हे जामे निपज्यै चीज' (पृ० २०६)

प्रसंग से स्पष्ट है कि 'कालर' शब्द नीवाण का विलोम शब्द है। नीवाणं का खेत सबसे ज्यादा उपजाऊ होता है। कालर ताल की चिकनी मिट्टी को कहते हैं, यह अनुर्वर-प्राय होती है। दूसरे का उपजाऊ खेत किस काम का, अपना कम उपजाने वाला खेत भी अच्छा। इसके द्वारा एकनिष्ठ प्रेम की दृढ़ता व्यंजित की गई है।

इस प्रकार और भी बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं, इनसे स्पष्ट है कि सम्पादिका राजस्थानी भाषा और जीवन से पूर्ण परिचित नहीं हैं, इसलिए यह सम्पादन-कार्य इतना सफल न बन पड़ा।

मीराँ के पदों को विभिन्न शीर्षकों में बाँटकर सम्पादिका ने अपनी सूझ-बूझ का पूरा परिचय दिया है। इस प्रकार के वर्गीकरण से मीराँ के भिन्न-भिन्न प्रभाव-स्रोतों का सम्यक् रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन किया जा सकता है। पदों के पाठान्तरों की विवेचना गहराई से करने का प्रयत्न है। पदों के भाव-वैषम्य व असंगतियों की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की गई है, जो इस बात की सूचना है कि सम्पादिका ने अपने बूते के अनुसार पूरा प्रयत्न किया है।

पर यह कार्य राजस्थानी इतिहास, जीवन व भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् की अपेक्षा रखता है—तभी मीराँ-विषयक अध्ययन आगे बढ़ाया जा सकेगा। **'म्हारो दरद न जाणै कोय'** को गीतों में गाने वाली मीराँ की चर्चा जितनी है, समझने का प्रयत्न उतना ही कम। मुंशी देवी-प्रसाद जी ने १८५५ में मीराँबाई की जीवनी प्रकाशित की थी, यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अनुसन्धान के साथ लिखी गई है। राजस्थानी भाषा के गम्भीर विवेचक श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'मीराँ-मन्दाकिनी' में मीराँ के पदों को अत्यन्त प्रामाणिक और शुद्ध रूप में उपस्थित किया था, यह लघु प्रयत्न-मात्र था। आशा थी कि पुरोहित हरनारायण जी इस कार्य को पूरा करेंगे, पर उनके स्वर्गवास से यह कार्य अधूरा रह गया। इस स्थिति में चिर-प्रतीक्षित कार्य को श्रीमती पद्मावती ने आगे बढ़ाने का जो शुभ संकल्प किया है, वह सब प्रकार से श्लाघ्य है। इससे विद्वान् प्रेरणा पा सकें तो उनका यह प्रयत्न अभिनन्दनीय ही रहेगा।[1]

डॉक्टर रघुवंश

प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर

इधर हिन्दी-साहित्य में लघु उपन्यासों का प्रचलन कुछ अधिक हो गया है। इसका एक कारण तो यह भी है कि आज हजार–बारह सौ पेज के उपन्यास पढ़ने का समय और धैर्य अधिक पाठकों में नहीं है। परन्तु एक बात यह भी है कि बड़े उपन्यास में जीवन का जितना बड़ा कैनवेस लेना होता है, उसका निभाना उतना ही कठिन है। उसके लिए जीवन का व्यापक अनुभव अपेक्षित है। इस दृष्टि से नवीन उपन्यासकारों ने लघु उपन्यासों से प्रारम्भ किया है, यह उनके विकास-क्रम की दृष्टि से अच्छा रहेगा। नवीन का अर्थ यह नहीं कि अभी इन लेखकों की प्रथम कृतियाँ ही हमारे सामने हैं, वरन् इस अर्थ में कि अभी इन्होंने प्रारम्भ किया है और इनसे हमारे साहित्य को बहुत अधिक आशा है। यहाँ मैं पिछले और नवीन लेखकों का तुलनात्मक लेखा-जोखा लेने नहीं बैठा हूँ, परन्तु इतना कह देना चाहता हूँ कि इन नवीन उपन्यासकारों में नवीन सम्भावनाएँ हैं। ये अपने दृष्टिकोण में कथा-शिल्प, सामाजिक आदर्श तथा भाषा, सभी प्रकार से पिछले लेखकों से भिन्न हैं और इनमें नई शक्ति है, जो अवसर पाकर साहित्य में नवीन स्तर स्थापित कर सकेगी।

यहाँ मैं तीन लघु उपन्यासों को ले रहा हूँ; जनार्दन मुक्तिदूत का **'अधूरा-उपन्यास'**, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का **'बहती गंगा'** और लक्ष्मीनारायण लाल का **'बया का घोंसला और साँप'**। तीनोंही लघु उपन्यास हैं, जिनमें उपन्यासों के नवीन युग का स्तर पहचाना जा सकता है।

1. **सम्पादिका—पद्मावती 'शबनम', प्रकाशक—लोक-सेवक प्रकाशन, काशी।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन तीनों उपन्यासों को यहाँ एक साथ समीक्षा के लिए लेने का अर्थ यह नहीं है कि इनमें अत्यधिक समानता है। लेकिन समानता न हो ऐसी बात भी नहीं है। इन तीनों में कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने में नवीन शिल्प-विधि अपनाने की कोशिश की गई है। मुक्तिदूत के उपन्यास में एक नया प्रयोग है। प्रमुख पात्र पद्मकान्त अपने जीवन के उपन्यास का स्वयं लेखक है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह उपन्यास आत्म-कथा के रूप में लिखा गया है। पद्मकान्त का चरित्र उपन्यासों की प्रेरणा से गठित है और वह अपने जीवन को उपन्यास के रूप में ग्रहण करता है। उसका जीवन अपनी कठोर—विषम परिस्थितियों में गुजर रहा है और वह उन्हीं में से अपने उपन्यास का कथानक चुनता है, घटना-क्रम उपस्थित करता है। उसका उपन्यास केवल समस्याएँ प्रस्तुत करता है—व्याख्या तथा समाधान उसके अपने जीवन में मिलता है। इस प्रकार लेखक के शब्दों में ही " **'अधूरा उपन्यास' नाम-भर है, वास्तव में है यह पूरा उपन्यास।**" पद्मकान्त की औपन्यासिक वृत्ति जहाँ उसे अधूरेपन में छोड़ देती है, वहीं मूल उपन्यासकार ने अनुराधा के माध्यम से अपने उपन्यास को पूरा किया है। इस उपन्यास में अनुराधा के चरित्र का उपयोग, क्या शिल्प की दृष्टि से और क्या कथानक की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

'रुद्र' जी का उपन्यास 'बहती गंगा' अपने ढंग का नवीन प्रयोग है। शायद बँधी-बँधाई परम्परा पर चलने वाले लोग इसे उपन्यास स्वीकार न भी करें। पर लेखक के ही शब्दों में "**प्रस्तुत 'बहती गंगा' की सत्रह तरंगें हैं—एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई हैं**" वैसे देखने पर सचमुच इसमें अलग-अलग कहानियों तथा रेखा-चित्रों का संग्रह जान पड़ता है। पर बात इतनी ही नहीं है। इन सभी कहानियों में आने वाले चरित्रों तथा घटनाओं में काल और घटना-क्रम का सम्बन्ध भले ही न हो, पर एक अद्भुत भाव-संयोग है। इस लघु उपन्यास में प्रधानता काशी नगरी की है—वही जैसे प्रधान पात्री है। भिन्न-भिन्न पात्र-पात्रियाँ और समय-समय पर होने वाली घटनाएँ तो उसीके जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ-भर हैं। विभिन्न अध्यायों का प्रभाव मन पर समवेत रूप से पड़ता जाता है, इस दृष्टि से उपन्यास में पूरा संगठन है। कहीं भी इस बात का आभास नहीं होता कि कोई अध्याय भिन्न कथा के रूप में है, यद्यपि दो भिन्न अध्यायों में चरित्रों की आवृत्ति कम ही हुई है और घटनाओं में शृङ्खला-क्रम भी नहीं है। पर जो कुछ प्रभाव एक अध्याय मन पर छोड़ता है, दूसरा अध्याय उसीकी भूमिका पर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरे अध्याय में लेखक ने काशी के दो शताब्दियों के जीवन को प्रत्यक्ष और सजीव किया है। इसमें क्या इतिहास, क्या जनश्रुति और क्या कल्पना, सभी ने एकरस सहयोग दिया है। कहानियों में इस प्रकार के प्रयोग पहले भी किये गए हैं, पर उपन्यास के रूप में यह पहला सफल प्रयास है।

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में यद्यपि कथा कहने की शैली सहज है, पर उसके क्रम को कुछ बदलकर शिल्प-विधान में अधिक उत्कर्ष उत्पन्न किया गया है। कहानी को अन्त से आरम्भ करना नया शिल्प नहीं है, पर इस लघु उपन्यास में इसका प्रयोग सफलता की दृष्टि से बहुत अच्छा बन पड़ा है। जिस तीव्र संवेदना को लेखक इस छोटे-से उपन्यास में उभारना चाहता था, वह इस प्रयोग में और भी सघन और तीखी हो गई है। कथानक को उत्तर भाग में संवेदनात्मक चरम तक ले जाकर छोड़ दिया गया है, और उसी तीव्र भावात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका पर सम्पूर्ण कहानी प्रतिघटित होकर फिर उसी चरम पर आ जाती है। उत्कर्ष भाग में तो कथानक का समाहार-भर है। कथानक में शिल्प-विधि-सम्बन्धी प्रयोग के लिए सम्भवतः लघु उपन्यास अधिक उपयुक्त हैं। प्रयोग और सफलता की दृष्टि से ये लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।

कथानक और चरित्रों की दृष्टि से इन उपन्यासों में स्वभावतः विस्तार नहीं है। 'बहती गंगा' के विषय में यह बात उचित नहीं जान पड़ेगी, क्योंकि इसमें घटनाओं की योजना लम्बे काल में फैली हुई है और उसी प्रकार पात्रों की संख्या भी कम नहीं है। परन्तु यदि इस उपन्यास पर उसी आधार पर विचार किया जाय, जिस पर इसे उपन्यास कहा जाता है, तो यह बात अधिक असंगत नहीं लगेगी। कहा गया है कि इस उपन्यास में काशी नगरी के चरित्र को भावात्मक प्रभाव की दृष्टि से चित्रित किया गया है। इस दृष्टि से जिस प्रकार काल का विस्तार नष्ट हो जाता है, घटनाओं का क्रम महत्त्वहीन हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न पात्र काशी के जीवन की अद्‌भुत मस्ती, साहसिकता, और स्वतन्त्रता-प्रियता को व्यक्त करने के माध्यम-मात्र रह जाते हैं। चाहे १८वीं शती के दाताराम नागर, भंगड़ भिक्षुक हों, या १९वीं शती के रामदयाल चित्रकार झालर ठाकुर और शिवनाथबहादुरसिंह हों और चाहे वर्तमान युग के टिन्नू, शहाबुद्दीन, बेनी या पद्मानन्द आदि हों, सभी में काशी के अनुरूप मस्ती, वीरता तथा प्रेम है। इसी प्रकार सभी-नारियाँ वीरता और प्रेम के लिए उत्सर्ग करने वाली हैं, चाहे रानी पन्ना, सुन्दर गौनहारी और गोरी हों, चाहे अमीरन, रखिया और गोदावरी हों, अथवा चाहे दुलारी, तारा या गंगा हों, सभी में एक तेज है, स्वाभिमान है और मर-मिटने की चाह है। कथानक में अनेक बार पात्रों से एक-सूत्रता भी कायम रखी गई है, पर विच्छिन्न होकर भी कथा अपने वेग में एकधार बहती गई है। काशी की उन्मुक्त मस्ती का वातावरण प्रस्तुत करने में लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है। स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना उत्पन्न करने में ही इस उपन्यास की सफलता रक्षित है।

व्यक्ति-प्रधान तथा मनोविश्लेषण-परक उपन्यासों में जिस प्रकार दो-तीन पात्रों को ही प्रधानता मिलती है और अन्य पात्र उपस्थित होकर भी तटस्थ रहते हैं, वह बात इन लघु-उपन्यासों में नहीं है। इनमें कम पात्र उपस्थित हुए हैं या कम घटनाएँ चुनी गई हैं, तो केवल इस दृष्टि से कि उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत नहीं था। वैसे ये सभी उपन्यास व्यक्ति-प्रधान नहीं कहे जा सकते, इनमें समाज की पूर्ण भूमिका है। यही कारण है कि इसमें छोटे और साधारण पात्र भी नगण्य नहीं जान पड़ते, वे कथानक में अपना महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करते हैं। 'अधूरा उपन्यास' में पद्मकान्त, राजो तथा अनुराधा प्रधान पात्र जान पड़ते हैं, क्योंकि कहानी का मूल ढाँचा इन्हीं को घेरे हुए है। पर कथानक के विस्तार में अनेक पात्र आये हैं और उनका भी समान महत्त्व है। इस दृष्टि से तो प्रधान पात्रों को कोई विशेष विस्तार भी नहीं मिला है। पद्मकान्त के मामा रमाचरण, उनके मित्र रामलाल तथा रामेश्वरी के पति ने कथानक के विकास में योग दिया है, साथ ही सामाजिक ढाँचा भी इनके माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मामी, छुटंकी की माँ, राजो की माँ तथा रामेश्वरी आदि नारी-पात्रों का सहयोग कथा में आवश्यक है और वे सामाजिक समस्याओं को स्पष्ट करने में भी सहायक हुई हैं। इन समस्त पात्रों से लेखक ने सफलता पूर्वक सामाजिक ढाँचे को चित्रित किया है, उसे कहीं अपनी ओर से व्याख्या करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ज़रूरत नहीं हुई। चरित्रों के माध्यम से कथानक सहज भाव से आगे बढ़ता गया है, लेखक ने घटनाओं को अपनी ओर से गढ़ने या उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया, यही उसकी सफलता है।

श्री लक्ष्मीनारायणलाल अपने उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में अधिक सामाजिक अन्तर्दृष्टि के साथ हमारे सामने आये हैं। उनके पिछले उपन्यास 'धरती की आँखें' में ग्रामीण जीवन का चित्र था, पर वह कल्पना के रंगों से अतिरंजित तथा भावुकता से उद्वेलित था। उसमें लेखक की शक्ति और प्रतिभा के अंकुर अवश्य थे, पर संयम तथा अन्तर्दृष्टि की कमी थी। इस उपन्यास में देहात और कस्बे के जीवन का सच्चा नक्शा है—बिना अतिरंजना और कल्पना के योग के। लेखक की भावुक प्रकृति इसमें भी परिलक्षित हुई है, पर वह कथा को संवेदक बनाने में सहयोगी हुई है। इस लघु उपन्यास की आधार-भूमि सामाजिक है, इसमें देहाती प्रकृति तथा समाज का बहुत ही सूक्ष्म वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें आनन्द, सुभागी, रामानन्द तथा कामताप्रसाद तहसीलदार प्रमुख पात्र अवश्य हैं, पर सामाजिक आधार-भूमि पर जमुना, वंती जीजी, रत्ती, पारो, बुआ, सरजू आदि का कम महत्त्व नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों को अधिक स्पष्ट करने तथा समस्याओं को उपस्थित करने की दृष्टि से पदारथ काका, जग्गी पण्डित से लेकर मुन्शी रामरखलाल तथा गिरजादयाल तक का महत्त्व है। इस उपन्यास में सिकन्दरपुर तथा पुरैना के माध्यम से उत्तर प्रदेश के गाँवों और रामनगर के माध्यम से यहाँ के कस्बों के विषाक्त जीवन को बहुत निकट से स्पर्श किया गया है। कथानक की गति जितनी तीव्र है, पात्रों का विश्लेषण भी उतना ही गहरा है, यद्यपि अनेक स्थलों पर ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने जल्दबाजी की है और चरित्र के विषय में उसकी दृष्टि तल तक नहीं पहुँच सकी है।

साहित्यिक के लिए सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न है ही, पर आज के युग में वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भुला नहीं सकता। इस दृष्टि से हमारे इन लेखकों ने प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर अंकित किये हैं। यह व्यक्ति-परक उपन्यासकारों की परम्परा से भिन्न है। जो केवल मतवादों की व्याख्या तथा स्थापना को ही सामाजिक तथा स्वस्थ परम्परा मानते हैं, संयोग से मेरा मत उनसे भिन्न है। मैं सब मिलाकर साहित्यिक कृति की अपील पर बल देने वालों के वर्ग का हूँ। और इस दृष्टि से ये तीनों लघु उपन्यास स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। 'बहती गंगा' का स्वर बहुत-कुछ ऐतिहासिक-सा जान पड़ता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग में जिन नये मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं की ओर इसमें संकेत किया गया है वे सामाजिक चेतना के परिणाम हैं। 'अधूरा उपन्यास' का नायक पद्मकान्त तथा 'बया का घोंसला और साँप' का नायक आनन्द बहुत-कुछ सामाजिक परिस्थितियों में निष्क्रिय-से हैं, वास्तव में आज के ये प्रतिनिधि पात्र हैं। अगर ऐसा न दिखाया जाता तो ये पात्र अस्वाभाविक ही अधिक बन पड़ते। पर 'अधूरा उपन्यास' में परिस्थितियाँ स्वयं पद्मकान्त के मन को बदल रही हैं, श्रीराम तथा अनुराधा का सहयोग भी एक सीमा तक माना जा सकता है। आनन्द के मन में तीव्र आघात से लेखक ने स्वतः विद्रोह उत्पन्न किया है। यह विद्रोही भावना सामाजिक सन्तुलन का संकेत भी छिपाये हुए है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। यह बात दूसरी है कि आनन्द ने अपने मानसिक संघर्ष के इस अवसर पर आघात-पर-आघात सहकर भी वर्ग-संघर्ष पर कोई भाषण नहीं दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

प्रेमचन्द की परम्परा का उल्लेख मैंने अभी किया है। भाषा की दृष्टि से भी ये लेखक इसी परम्परा में आते हैं। तीनों लेखकों ने अपने-अपने ढंग से भाषा का व्यावहारिक गतिशील रूप अपनाया है। इस भाषा में सहज अभिव्यक्ति की शक्ति है। हिन्दी का अपनापन इन रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कहीं कोई अनगढ़ रूप या प्रयोग भी मिल सकता है, पर यह जीवित भाषा का लक्षण है। इन रचनाओं को देखकर हिन्दी के लेखकों से आशा बँधती है कि वे आगे आने वाले अपने उत्तरदायित्व के योग्य अपने को सिद्ध करेंगे।[1]

●

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान

नये मोड़

'नये मोड़' उदयशंकर भट्ट का दूसरा उपन्यास है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, शैली, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से 'नये मोड़' एक सफल रचना है। भट्टजी ने वास्तव में अपने साहित्यिक जीवन में एक नया मोड़ लिया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे यदि इस नवीन पथ पर चलते रहे तो कहीं-न-कहीं अवश्य पहुँच जायँगे।

'नये मोड़' एक चरित्र-प्रधान उपन्यास है, जिसमें लेडी-डॉक्टर शेफाली के चरित्र को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। एक बार शेफाली का विवाह हो चुका है। पति से परित्यक्ता नारी रोगियों की सेवा में इतनी लीन हो जाती है कि वह यौवन को कुछ समय के लिए भूल-सी जाती है। परन्तु अपने हृदय के स्पन्दन को वह कब तक अनसुना कर सकती है! प्राणनाथ बैरिस्टर से प्रेम हो जाने पर भी शेफाली उससे प्रेम नहीं कर सकती। उसका पहला पति, जिसने दूसरा विवाह कर लिया है, कानून की शरण लेकर उसके विवाह को रोक सकता है। शेफाली सब-कुछ जानती थी, फिर भी उसने प्राणनाथ से विवाह करना स्वीकार कर लिया। समाज में एक भूचाल आने वाला था। **'क्या कभी ऐसा हुआ है कि एक विवाहिता नारी पति के रहते दूसरे को पति-रूप में वरण करे।'** इस समस्या को लेखक ने पाठकों के सामने रखा है। यह समस्या शेफाली के समूचे चरित्र को समेट लेती है। इसी उधेड़-बुन में उसका समस्त जीवन बीत जाता है। डॉक्टरी का काम जीवन के विषाद को क्षण-भर के लिए भुलाने का उपाय है। उपन्यास में अन्य पात्र शेफाली के चारों ओर घूमते रहते हैं और उसके चरित्र के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। साधना अपने नाम को सार्थक करने वाली जीवन को साधना के रूप में अपनाती है। शुभदा में यौवन की चंचलता, मादकता और भावुकता है। हीरादेई पीड़ित और सिसकती हुई भारतीय नारी का प्रतीक है। वह जीवन-पथ पर चलते-चलते थक जाती है।

---

१. अधूरा उपन्यास : लेखक—जनार्दन मुक्तिदूत, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई। बहती गंगा : लेखक—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। बया का घोंसला और साँप : लेखक—डॉक्टर लक्ष्मीनारायणलाल, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राममोहन और प्राणनाथ के चरित्र सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता को लिये हुए हैं। चरित्र-चित्रण में प्रायः दो शैलियों का अवलम्बन लिया जाता है—विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक। लेखक शेफाली, शुभदा, हीरादेई, प्राणनाथ, राममोहन आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक शैली को अपनाकर स्वयं अपने शब्दों में करते हैं। वे कवि हैं, नाटककार होते हुए भी पहले कवि हैं, इसलिए उनके लिए तटस्थ रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

उपन्यास का कथानक कटा-छटा और सम्बद्ध है। कहीं-कहीं विस्तृत वाद-विवाद उसे क्षीण बना देते हैं, परन्तु उसमें अव्यवस्था नहीं आने देते। लेखक ने आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक समस्याओं पर पात्रों के द्वारा लम्बे-लम्बे परिसंवाद करवाए हैं, जिनसे घटना-क्रम की गति में बाधा पड़ जाती है। मनोविश्लेषण भी जहाँ जीवन की छाप को गहरा बनाता है वहाँ कथानक के वेग को रोकता है। शेफाली प्राणनाथ के चले जाने पर सोचती है: **"क्या यह सेक्स नहीं है जो मुझे उत्साहित करता है, फिर क्या मेरे हृदय में ऐसी भावना नहीं उठती, क्या उसे छिपाकर एक प्रकार का आडम्बर मैं नहीं करती, फिर यही मैं क्यों भूलती हूँ कि मैं स्त्री हूँ……सेक्स-वृत्ति स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रहते जा ही नहीं सकती। जिन महापुरुषों, साधु-सन्तों को हम इस भाव से ऊपर पाते हैं वे निस्पृह वीतराग होते हैं, वे समाज में नहीं रहते, किन्तु कौन कह सकता है कि उन्हें सेक्स कभी सताता ही नहीं है।"** इस तरह की उधेड़-बुन शेफाली के चरित्र को तो गम्भीर बना देती है, परन्तु साथ ही कथानक का ह्रास भी करती है। 'नये मोड़' में लेखक मनोविज्ञान और दर्शन का सहारा लेता है। शिक्षित पात्र जीवन की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते हैं। यह इस युग की देन और पुकार है। उपन्यास में बौद्धिक दृष्टिकोण और विचारों का प्राधान्य कथानक को दबोच लेते हैं और उसे दबाकर रखते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास चरित्र-प्रधान होते हुए भी समस्या-मूलक है। वैसे तो सभी उपन्यासों में कुछ विशेष विचार और सिद्धान्त आप-से-आप आ जाते हैं, परन्तु 'नये मोड़' में एक निश्चित उद्देश्य है। क्या एक विवाहिता नारी, जिसका पति जीवित है और जिसने उसका परित्याग कर दूसरा विवाह कर लिया है, दूसरी शादी कर सकती है। भारतीय समाज में कानून इसकी आज्ञा नहीं देता। सामाजिक बन्धन बड़े कड़े और कठोर हैं। उपन्यास के अन्त तक पहुँचकर यह भास लगने लगता है कि लेखक शेफाली का विवाह करवा देगा, शहनाई बजकर रहेगी; परन्तु कठोर यथार्थ लेखक के हाथ पकड़ लेता है और इस सुखद परिणाम से रोक लेता है। दुःखान्त नाटकों का रचयिता इस उपन्यास को कैसे सुखान्त बना सकता था? शेफाली और शुभदा अँधेरी रात को अस्पताल से निकल पड़ीं: **'लैम्प की रोशनी में, बीच-बीच में कहीं अंधकार और कहीं प्रकाश में, वे दोनों आशा-निराशा के दोनों कदमों से डामर की सड़क पार करती जा रही थीं—दूर, बहुत दूर, किसी नये लक्ष्य को पाने के लिए, किसी 'नये मोड़' की तलाश में, जहाँ यह सब कुछ न हो। समय के पंखों पर जहाँ विवेक नई ज़िन्दगी लिये उड़ रहा हो। वे जा रही थीं अपने चारों कदमों से रूढ़ियों को कुचलती, पुराना छोड़ती, नया नापती—हर 'नये मोड़' पर।'** यह आशावाद की दृष्टि से तो सराहनीय है, पर लेखक इस पलायनवाद की धारा में बहकर यह नहीं सोचते कि केवल चार कदम किस तरह परम्परागत रूढ़ियों को कुचल सकते हैं, चार कदम, जब वे चारों ही कोमल और सुकुमार हों? फिर भी उपन्यासकार ने समस्या को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान न करके अपनी रचना के स्तर को कलात्मक दृष्टि से ऊपर उठा दिया है और जीवन के समीप ला दिया है। यह इसकी विशेषता है। उपन्यास की भाषा-शैली सरस और सरल है। अंग्रेजी शब्दों की भरमार होते हुए भी भाषा का प्रयोग शिक्षित समाज के अनुकूल है। अन्त में प्रेमचन्द के शब्दों में मैं इस उपन्यास को मानव-जीवन का एक सफल चित्र समझता हूँ। मानव-चित्र पर भट्ट जी ने पूरा प्रकाश डाला है और उसके रहस्यों को खोलने का पर्याप्त प्रयत्न किया है।[1]

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार ?

कला का वास्तविक उद्देश्य स्वानुभूत सत्य की अभिव्यंजना है और यह अभिव्यंजना कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी धारणा-शक्ति तथा व्यापक दृष्टि से समादृत होकर उसकी कृति में अवतरित होती है। व्यक्तित्व—उसकी सामाजिक चेतना, मानसिक स्थितियों और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से सम्बद्ध रहता है, इसीके अनुसार उसकी रुचि तथा अरुचि का भी पता चलता है, इसीमें उसकी धारणा-शक्ति और व्यापक दृष्टि का लक्ष्य और साधन भी निहित रहता है। कोई घोर व्यक्तिवादी जीवन-व्यवस्था अपनाकर भी समाज को व्यापक दृष्टि से देखने की क्षमता रख सकता है और कोई समाज का सेवक होकर भी विकृत कुण्ठाओं का ग्रास बन सकता है। इसीलिए कला के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में अक्सर बहुत से नारे अथवा बहुत से 'वाद' अपना सफल प्रचारात्मक महत्त्व रखते हुए भी उन सभी विकृतियों के ग्रास हो जाते हैं।[2]

कृष्णचन्द्र प्रगतिवादी विचार-धारा के प्रमुख समर्थकों में से हैं और उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वह फ्रायड की उन बहुत-सी सेक्स-सम्बन्धी धारणाओं के कट्टर विरोधी होंगे जो तथाकथित प्रगतिशील तथ्यों को तिरस्कृत करके जीवन का सर्वथा भिन्न अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। शायद वह यह भी जानते होंगे कि 'डिकेडेण्ट' बूर्जुआ सोसाइटी के विरोध में कुछ-न-कुछ शक्तियाँ ऐसी होंगी जो सर्वदा जीवन के स्वस्थ तत्त्वों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होंगी। किन्तु जहाँ तक उनकी कृतियों का सम्बन्ध है खासकर—**'तूफान की कलियाँ', 'सराय के बाहर'** और **'पाँच रुपये की आज़ादी'**—इन तीनों में उनकी अन्तर्मुखी चेतना सेक्स की ऐसी विषम ग्रन्थियों में उलझी हुई है कि इनको न तो वस्तु-सत्य-चित्रण के आधार पर उचित कहा जा सकता है, न ही उनकी व्याख्या को किसी वैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्थान-विशेष की परम्परा कहकर

1. **लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली।**
2. "Whatever feelings, art proposes to excite in us, they ought always to be restrained and governed by the feeling of beauty. If it produces only pity or terror, beyond a certain limit, above all physical pity or terror, it revolts, it ceases to charm, it nurses its proper effect, for an effect which is foreign to it and vulgar."

—Victor Cousin.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टाला जा सकता है। निश्चय ही इन कृतियों में एक विशेष प्रकार की विकृति है जो स्वस्थ साहित्यिक परम्परा के विरुद्ध है। वे जीवन-तत्त्व, जो एक उच्च कलाकृति[1] से अपेक्षित हैं, उनमें से एक भी उचित रूप में नहीं हैं और अगर हैं भी तो इतने कमज़ोर कि वासना की भूख में वे सभी पथ-भ्रष्ट, लक्ष्य-भ्रष्ट और अन्धे हैं।

इस प्रकार कृष्णचन्द्र की तीन पुस्तकें—'तूफान की कलियाँ' (उपन्यास), 'सराय के बाहर' (एकांकी रेडियो नाटक) और 'पाँच रुपये की आज़ादी' (कहानी-संग्रह)) उर्दू-लेखकों और कथाकारों के उस प्रयास की प्रतीक हैं जो मुन्शी प्रेमचन्द की सफल और सजीव परम्परा का विकृत और असफल अनुकरण-मात्र बनकर रह गया है। पिछले कुछ दिनों से उर्दू के लेखकों द्वारा यह परम्परा बड़ी तेज़ी से अपनाई जा रही है और काफी उर्दू का साहित्य नागरी लिपि में मौलिक हिन्दी-कृति के नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रयास में इस बात की चेष्टा की जा रही है कि उर्दू-कथा-साहित्य को नागरी लिपि और यहाँ-वहाँ हिन्दी के वातावरण में ढालकर प्रस्तुत किया जाय और उस सफल प्रवृत्ति को फिर से प्रचलित किया जाय, जो प्रेमचन्द जी की स्वानुभूति और आत्म-प्रेरणा के फलस्वरूप जागरूक हुई थी। कृष्णचन्द्र उर्दू के सफल कथाकारों में से माने जाते हैं और कुछ आलोचक तो उन्हें प्रेमचन्द जी के बराबर भी कहने लगे हैं, किन्तु अनुकरण और स्वानुभूति में मौलिक अन्तर होना स्वाभाविक है। कृष्णचन्द्र और प्रेमचन्द की शैली, शिल्प-विधान, कथावस्तु, दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन में वही अन्तर है जो एक आत्म-प्रेरित और स्व-स्थापित कलाकार में होता है। यही कारण है कि उर्दू की बहुत-सी सफल कहानियाँ हिन्दी में अनूदित होने पर वातावरण की भिन्नता के कारण और भाषा तथा भाव-शिल्प में पृथक् होने के कारण उतनी सफल नहीं होतीं। क्योंकि :

- प्रेमचन्द भारतीय जीवन और संस्कार के मर्मज्ञ थे। उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भारतीय और व्यापक मानववादी था। वह एक साधारण भारतीय जीवन और उसके विभिन्न अंगों को गहराई की दृष्टि से देखते थे, मानवीय संवेदनाओं के प्रति ईमानदार थे। कृष्णचन्द्र के दृष्टिकोण में उस व्यापक मानववाद का अभाव है। 'अन्नदाता' के बाद का युग उनकी कला की उस कठोर प्रतिक्रिया का परिचायक है जिसमें कृष्णचन्द्र कथा-साहित्य की अपेक्षा 'वाद' विशेष को महत्त्व देने लगे। फलस्वरूप उनकी तीखी शैली वास्तविक जिज्ञासु और स्वानुभूत शैली से पृथक् अतिवादी संकीर्णता की दलदल में फँसकर लचर और पोली हो गई। दृष्टिकोण में परिवर्तन आने से 'वस्तु-सत्य' की उपेक्षा और असन्तुलित भावनाओं का प्रतिपादन भी स्वाभाविक हो गया। आज का उनका साहित्य कुछ बेढंगे चित्रों, खुरदरे, अनगढ़, अव्यवस्थित और असंयमित पात्रों; भूख, रोटी, सेक्स, घृणा और वासना की रुग्ण ग्रन्थियों में डूबता-उतराता-सा प्रतीत होता है और उनकी कला एक प्रेत-काया की-सी आत्मा की खोज में भटकती-सी मालूम होती है।
- प्रेमचन्द की समस्याएँ वास्तविक जीवन की समस्याएँ थीं। न तो वह उन

1. "For a work which has no correspondence with the facts of life or which violates any of the universal or fundamental beliefs of mankind is useless, however graet its purely artistic qualites may be."
—Worsfold.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन से हटकर केवल कल्पना-लोक में भटकते थे और न वह उस समस्या को खींचकर इतना बढ़ाते थे कि वह बीच ही से टूटकर खण्ड-खण्ड हो जाय। अपनी कृतियों में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों को इतनी सजगता और कर्मठता दी है कि वह लेखक का केवल सहारा-मात्र लेते हैं, उसकी उँगली पकड़कर या स्वयं उसके कन्धों पर निर्जीव शव के समान नहीं चलते। यही कारण है कि कट्टर आर्यसमाजी और गांधीवादी होते हुए भी प्रेमचन्द ने अपनी कला-कृतियों में अपना व्यक्ति उसी अंश तक आने दिया है जिस अंश तक वह अनिवार्य था। इसके विपरीत कृष्णचन्द्र, चाहे वह काश्मीर की कहानी का वर्णन अखरोट या चनार के वृक्षों तले करें, चाहे बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में प्रवेश करके उसका रहस्योद्घाटन करें, उनकी व्यक्तिगत ग्रन्थियाँ प्रत्येक जगह स्पष्ट उभर आती हैं। कृष्णचन्द्र के पात्रों को देखकर ऐसा लगता है जैसे उनका स्वाभाविक रूप कुछ और है और जैसे वह स्वयं पाठकों से चीख-चीखकर यह कह रहे हों कि उनका वास्तविक रूप कृष्णचन्द्र ने कुत्सित कर दिया है। वैसे उस कुरूपता से यदि कुछ भी झलक मिल सके तो वही उनका वास्तविक रूप है।

प्रेमचन्द जी जीवन-सत्य के पोषक थे, इसलिए वह वस्तु-सत्य का निर्वाह भी बड़े सरल स्वाभाविक ढंग से करते थे। कृष्णचन्द्र वस्तु-सत्य के दृग्-भ्रम में जीवन-सत्य की अनुभूति से शून्य हो जाते हैं। वह हर चेहरे पर अपना रोगन लगाना चाहते हैं, अपने नियन्त्रण में रखकर उसे अपाहिज और लँगड़ा बना देते हैं। उनके प्रत्येक पात्र में सस्ते और भद्दे 'सेक्स आबसेशन्स' हैं। यों तो प्रेमचन्द भी विद्रोही थे। कृष्णचन्द्र के विद्रोहियों की भाँति वह 'लाइसेन्स' नहीं लेते थे और न ही वह कायर या भीरु थे, इसीलिए प्रेमचन्द और कृष्णचन्द्र को एक साथ बैठाकर समान तुलना करने वाले यह भूल जाते हैं कि प्रेमचन्द की आँखों पर न तो कोई चश्मा था, न हृदय में कोई कुण्ठा ही थी। उनके अन्दर एक पैनी दृष्टि थी, जो जीवन के विशाल फलक से प्रेरणा ग्रहण करती थी और यह अन्तर एक उच्च कोटि के कलाकार और एक मध्यम श्रेणी के कलाकार में सदैव रहा है।

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस समय स्वयं उर्दू के कथा-साहित्य में बड़े नये परिवर्तन आ चुके हैं और उर्दू कथा-साहित्य में कुछ ऐसे कथाकार भी हैं जो किसी भी भाषा के उच्च कथाकारों के समक्ष बैठाये जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से अहमद नदीम कासमी, सआदत हसन मण्टो, कन्हैयालाल कपूर, राजेन्द्रसिंह बेदी, इस्मत चुगताई तथा बलवन्तसिंह उल्लेखनीय हैं। ऐसा लगता है कि कृष्णचन्द्र जी पिछले दस सालों में केवल एक ही धुरी पर बैठकर एक ही दिशा में देखते रहे हैं। उनकी दृष्टि सर्वग्राही न होकर एकांगी और कुछ अंशों में Colour Blind सी हो गई है।

पुस्तकों के शिल्प और रचना-विधान पर विचार करने के पूर्व दो-तीन बातें विशेष रूप से कहना आवश्यक है—पहली तो यह कि जिस प्रकार की भाषा इन पुस्तकों में प्रयोग की गई है उसमें और मौलिक हिन्दी-शैली में बड़ा अन्तर है। किसी भी लेखक का यह दावा सदैव ग़लत सिद्ध होगा यदि वह इस बात की सजग चेष्टा (Conscious Effort) करेगा कि वह हिन्दी भाषा-भाषी साहित्यिकों को एक नई भाषा देने के लक्ष्य से कुछ कर रहा है। 'पाँच रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आज़ादी' नामक पुस्तक की भूमिका में प्रस्तावित वाक्य "यदि संस्कृत के विकृत रूप को **हिन्दी मानकर चलेंगे तो वह चलाये तो चल लेगी पर स्वयम् चलकर बढ़ेगी नहीं"** इस बात को प्रमाणित करता है कि कृष्णचन्द्र जी ने जान-बूझकर कुछ नया भाषा-प्रयोग करना चाहा है और निश्चय ही वह इस प्रयास में भी सफल नहीं हुए हैं।

हिन्दी-कथा-शैली-के जो सशक्त प्रयोग 'शेखर : एक जीवनी', 'त्याग-पत्र', 'मुर्दों का टीला', 'संन्यासी', 'बहती गंगा', 'बया का घोंसला और साँप', गिरती दीवारें' आदि में हो चुके हैं, उनको पढ़ना तो दूर शायद उन्होंने उसके विषय में सुना भी नहीं है। इसके बावजूद अपनी २० साल पिछड़ी हुई शैली लेकर जब वे हिन्दी को शिक्षा देने चलते हैं तो निःसन्देह इस सादगी पर मर जाने की तबियत होती है। हिन्दी-उपन्यास अकृतज्ञ नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं से उसने बहुत-कुछ लिया है। शरत् और मुन्शी का उसने मुक्त हृदय से स्वागत किया है। आज भी मण्टो और बलवन्तसिंह, अमृता प्रीतम, ताराशंकर और बनफूल की गति-विधि को उत्सुकता से देखा जा रहा है। लेकिन कृष्णचन्द्र ?

एक तीसरी बात भी है; क्योंकि कृष्णचन्द्र प्रगतिशील लेखक हैं इसलिए प्रगतिशील भाव-धारा से भी उनकी कृतियों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि रूप-विधान का कायल होना गुनाह है तो निश्चय ही विषय-वस्तु का विश्लेषण करके स्वस्थ, प्रगतिशील तत्त्वों की परख लेखक द्वारा अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में एक बहुत ही मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है और वह यह कि क्या 'रोटी-रोटी' चिल्लाना ही प्रगतिशीलता है, या रोटी के लिए संघर्षयुक्त प्रयत्न करना ? जहाँ तक तथाकथित प्रगतिशील भाव-धारा के माध्यम से देखने का प्रश्न है निश्चय ही ये पुस्तकें उस परम्परा को भी आगे नहीं बढ़ातीं, न तो इनमें वर्ग-संघर्ष का वैज्ञानिक विश्लेषण है और न ही सामन्तवादी, बूर्जुआ, फासिस्ट शक्तियों के विरोध में उठता हुआ एक भी सशक्त स्वर। न तो इसमें किसी ऐसे समाज की चीर-फाड़ ही है जो सड़-गल रहा है और न ही उसमें एक नये निर्माण की कल्पना।

जहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है उसका घटना-काल "नाईलान और प्लास्टिक का जमाना है", फिर भी उस उपन्यास को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि कोई बीसवीं शताब्दी के युग की कहानी पढ़ रहा है। यद्यपि कहानी काश्मीर की घाटियों में अंकुरित, विकसित और समाप्त होती है फिर भी काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों और वातावरण को छोड़कर उसमें कितना अंश वहाँ के वास्तविक जीवन का है तथा वहाँ की जनता का है यह विवादास्पद हो सकता है। सारे उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सारा काश्मीर एक 'कामरू-कमच्छा' का देश है, जहाँ केवल वासना की भूख, देह की भूख और 'पेरिडमोनियम' के सिवा और कुछ नहीं है। न तो काश्मीरियों में कोई आस्था है न विश्वास, न तो कोई सामाजिक व्यवस्था है न शासन, न वहाँ मनुष्यत्व है न ईमान। जैसे सारे-का-सारा काश्मीर अनास्थावान, निराश, दुर्बल और बिना कर्म के मनुष्यों का देश है जहाँ कोई भी व्यक्ति कभी भी अपने आदर्शों से फिसल सकता है। इस प्रसंग में मैं केवल 'जहाँ फरिश्ते अण्डे बेचते हैं' शीर्षक एक छोटी-सी मराठी कहानी का संकेत करना चाहता हूँ, जो 'नेहरू अभिनन्दन-ग्रन्थ' में छपी है। इस छोटी-सी कथा में एक छोटे काश्मीरी बच्चे के अदम्य साहस का चित्रण है, जो भारतीय फौजों को अण्डे बेचता था। कथा अत्यन्त मर्मस्पर्शी है और काश्मीर ने जिस अदम्य साहस से विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़ाई की थी इसका एक अद्भुत उदाहरण है। मैं सोचता हूँ यदि कृष्णचन्द्र उस कथा को फिर से लिखें तो वे अवश्यमेव उस बच्चे की कोई बहन ढूँढ़ निकालेंगे और फिर उसके गोरे जिस्म को उनकी क़लम उघाड़ना शुरू कर देगी। इस तरह प्रेमचन्द्र की परम्परा का उद्धार हो जायगा।

संक्षेप में, इस उपन्यास में यही है। शहर से गाँव जाते हुए एक नवयुवक एक पहाड़ी नवयुवती से मिलता है लेकिन बिना कुछ जाने-बूझे दोनों की 'मूक संवेदनाएँ' टकराती हैं और यंत्रवत् दोनों ही अप्रस्तावित रूप से इस स्थिति में पाये जाते हैं :

"···इस चाँदी के गुबार के हलके-हलके प्रकाश में अब्दुल धीरे से उठा और उसने झोंपड़ी के सामने लेटी हुई बानो की धड़कती हुई छाती पर अपने हाथ रख दिए···बानो ने कुछ नहीं कहा—उसने उस समय भी कुछ नहीं कहा जब अब्दुल ने उसे अपनी मजबूत बाँहों में उठाकर अपनी काँपती हुई छाती से लगा लिया। बानो उस समय भी चुप रही जब अब्दुल ने उसे यों उठाकर लकड़ी के बुरादे के ढेर पर पटक दिया, बानो उस समय भी चुप रही जब वह भी उसके निकट ही बुरादे पर लेट गया। अब्दुल ने हौले-हौले अपनी उँगलियों से बानो के चेहरे को अपनी ओर फेर लिया, अब्दुल ने अपने होठ बानो के होठों पर रख दिए····"

यही अब्दुल एक तरह से उपन्यास का नायक है जो एक दूसरी स्थिति में गाँव के बनिये की बीवी को अपने निकट पाकर :

"····उठकर बैठ गया। बैठकर खड़ा हो गया। खड़ा होकर उस मूरत की तरफ बढ़ने लगा। और हलके उजाले में उसे गोमती के रहस्यपूर्ण होंठ और जादू-भरी आँखों की वहशी चमक एक अजीब-सा पैग़ाम देती हुई मालूम हुई। अब्दुल का दिल काँपने लगा—और नूराँ (बानो) बहुत दूर थी और गोमती के शरीर की पुकार बहुत निकट थी और स्वयं उसका दिल बहुत जोर-जोर से धक्-धक् कर रहा था—उसे इस जवानी में भी भय आने लगा—वह सरकते हुए सूखी घास पर बैठ गया एक दूसरे के पास-पास उसने दोनों हाथों में अपना मुँह छिपा लिया—अब्दुल ने उसे अपनी छाती से लगा लिया—'मुझे मत छुओ' गोमती ने उसे धक्का देकर कहा। अब्दुल हैरान रह गया।"

एक तीसरी स्थिति में वही अब्दुल, जो विद्रोही है, जनता का नेता बनता है, किसानों का नेता बनता है, अपनी बहन और प्रेमिका का बदला लेना चाहता है, एक अपरिचित लड़की के केवल इतना पूछने पर कि—"पहले तुम बताओ, तुमने हमारे फूलों को क्यों चूमा?" उत्तर देता है कि—"मैं तुम्हें भी चूमने को तैयार हूँ"—और इन सबकी पराकाष्ठा तो तब पहुँचती है जब वह अपना सारा जनवादी नारा छोड़कर रज़ाकार-पार्टी में शामिल हो जाता है और हिन्दुओं के बारे में कहता है : "तो क्या तुम हिन्दुओं को मुसलमान देखकर खुश नहीं होते······अगर-मगर कुछ नहीं, मैं साफ़-साफ़ पूछना चाहता हूँ·······क्या तुम इस हालत में शकुन्तला की अगवानी करते······"

उपन्यास में केवल अब्दुल ही इन भावनाओं से पीड़ित नहीं है, उसके सभी पात्र चाहे वे ऊँचा-से-ऊँचा दर्शन ही क्यों न सोचते हों सब अब्दुल की भाँति वासना-प्रिय, बलात्कार तथा अपहरण के पक्ष में और लूट-खसोट के समर्थन में चित्रित किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि सभी पात्रों का अध्ययन निम्न लिखित रूप से किया जाय तो पता चलेगा कि उपन्यास की एकरूपता केवल विकृत सेक्स के प्रदर्शन में ही है। जैसे :

इसी उपन्यास का एक दूसरा पात्र नौनिहालसिंह कहता है : "शादी में क्या धरा है? जब तक औरत से ज़बरदस्ती न की जाय ज़िन्दगी में धरा क्या है···"[1]

राजकुमार संग्रामसिंह अंग्रेज रेजिडेंएट की लड़की मौली के बारे में सोचता है : "इस मख़मली आरामकुरसी के सीने में अगर कोई कमी थी तो बस मौली की नाज़ुक बाँहों की। उसकी छाती का वह भाग, जो नंगा था···वहाँ कितनी उज्ज्वल सफ़ेदी थी···जैसे उस सफ़ेदी के नीचे से प्रभात झाँक रहा हो।"[2]

फ़ज़लू ने, जो साम्प्रदायिक विद्रोह में अञ्जुमने-मुसलमीन का नेता है, एक हिन्दू लड़की भाँगा को पकड़कर···"खींच-खींचकर अपनी गोद में लिया। और उसने पहले तो उसकी भीगी-भीगी पलकें चूम लीं, फिर उसने अपने होंठ उसके होंठों से मिला दिए। भाँगा के होंठ शहद की तरह उसके होंठों में घुल गए और यह मधु चुम्बन उसके होंठों में ऐसा रचता गया जैसे समुद्र की लहर प्यासे रेत के अन्दर धँसती चली जाती है।"[3]

मीराँ शाह, जो काश्मीर के सारे अफ़सरों की मेहमानदारी अपनी पत्नी गोमती के शरीर के माध्यम से करता है, स्वयं एक नौजवान लड़की 'गुल' के बारे में सोचते-सोचते : "गुल इन्कार करती गई। ज्यों-ज्यों कोठरी नज़दीक आती गई लाला (मीराँ शाह) का आग्रह बढ़ता गया और गुल का प्रतिरोध बढ़ता गया···अब लाला बिलकुल अपने-आपे में न रहा था। अब उसका दम फूल रहा था और चेहरा क्रोध से काला पड़ रहा था····"[4]

और उसी उपन्यास के एक अन्य पात्र डोगरा-राज्य के बड़े अफ़सर कहानसिंह का यह हाल है कि :

"और यह तो सचमुच बड़ी जवान है"—कहानसिंह ने गुल को देखकर कहा।

"मुझे जाने दो।"—गुल चिल्लाई।

"भादों तो बहुत दूर है और रात आज जवान है और मेरे हाथ बहुत मज़बूत हैं।"[5]

उपन्यास के दो पात्र राजा करमअली और जहमतअली दो विस्थापित हिन्दुओं की लड़कियों के साथ व्यभिचार करने के लिए कहते हैं :

"नहीं, बड़ी तुम ले लो, छोटी मुझे दे दो, मंजूर···" "अरे बड़ी लड़की उससे कहीं ज्यादा खूबसूरत है"····"खूबसूरत है तो उसे तुम ले लो"····"मैं एक तरकीब बताता हूँ"····"क्या"····"लाटरी डाल लो।"[6]

और उपन्यास का कथानक उतना ही विशृङ्खल, टूटा हुआ, अव्यवस्थित और असन्तुलित कूड़ा-कर्कट (Trash) है, जितनी कि सेक्स-प्रधान विकृतियाँ! जिस प्रकार के रोमांस, प्रणय अथवा प्रेम की स्थापना इसमें की गई है शायद उतना कुत्सित और वीभत्स रूप हिन्दी के किसी भी और उपन्यास में नहीं मिलेगा। सारे उपन्यास में यह भी पता नहीं चलता कि नायक कौन है, नायिका कौन है, कथा-सूत्र का केन्द्र-विन्दु कहाँ है, लेखक का लक्ष्य क्या है। अब्दुल्ला, बानो, फ़ज़ल, रज्जी, गंगा, सरस्वती, हशमत, शौकत, संग्रामसिंह, मौली, मीराँ शाह और गोमती

१. पृष्ठ २४७, २. पृष्ठ २४८, ३. पृष्ठ ३०५, ४. पृष्ठ १२१, ५. पृष्ठ १२२, ६. पृष्ठ ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रचना किसलिए की गई है ? लगता है लेखक को कुछ गालियाँ डोगरा-सरकार को देनी थीं, कुछ काश्मीर के हिन्दुओं को, कुछ मुसलमानों को और कुछ अंग्रेजों को। इन सबके अतिरिक्त उसकी मन्शा कुछ घुटती हुई सेक्स-भावनाओं को लिखना था, तन की गर्म आँच में वासना की उद्दीप्त भावनाओं को जगाकर एक सनसनी पैदा करना था और इन सबको एक डोरी में बाँधकर उपन्यास का नाम देना था और इन सबको मिलाकर एक उपन्यास का नाम दे भी दिया गया है। वैसे यह उपन्यास विशुद्ध साहित्यिक उपन्यास न होकर एक अच्छा जासूसी उपन्यास हो सकता था, किन्तु साहित्यिक उपन्यास बनाने के मोह में इसका वह गुण समाप्त हो गया है।

यद्यपि कृष्णचन्द्र की दूसरी पुस्तक 'पाँच रुपये की आजादी' में भी वही विकृत सेक्स-प्रधान तत्त्व मौजूद हैं, लेकिन फिर भी उसमें कहानी-कला के कुछ तत्त्वों को उपन्यास की अपेक्षा अधिक सफलता से निभाया गया है। इस दृष्टिकोण से संग्रह की प्रथम कहानी 'गीत और पत्थर' उल्लेखनीय है। इसमें सेक्स-कुण्ठा की प्रतिक्रिया-स्वरूप जैदी-जैसे पात्र की रचना और उसका निर्वाह कुशलता से किया गया है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'सौ रुपये' भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और कहानियों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुई है। श्रमजीवी मोहम्मद शफ़ी अपने वर्ग के उन सैकड़ों-हज़ारों व्यक्तियों की भाँति यथार्थ और जीवन के स्वप्नों से टकराता हुआ संसार में सभी वस्तुओं के होते हुए भी सबसे वंचित रह जाता है। उसके पास पैसा भी है, इच्छा भी है लेकिन जीवन का यथार्थ सत्य, अनिश्चित भविष्य और भूखे परिवार के कारण सारे बाजार का मोल-भाव करके लौट आता है। कहानी का कथानक, घटनाओं का क्रम और समस्याओं को प्रस्तुत करने का ढंग भी अच्छा है। इस प्रकार वह अनुभव करता है कि सारी दुनिया बहुत बूढ़ी हो चली है और उसको बच्चों-जैसी मुस्कराती हुई दुनिया चाहिए जिसमें स्वप्नों के टूटने की आशंका न हो।

'पानी का पेड़' शीर्षक कहानी का कथानक सुन्दर होते हुए भी उसमें बड़े विचित्र ढंग से कुछ अतिवादी राजनीतिक विचारों की ओर संकेत किया गया है, जिसके कारण कहानी का वास्तविक महत्त्व कम हो जाता है। कहानी का प्रारम्भ बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है, लेकिन उसका अन्त अनावश्यक अतिवादी राजनीति में फँसकर उलझ गया है। 'पानी का पेड़' प्रेम और मानवीय संवेदनाओं का प्रतीक बनते-बनते एक सरल 'लाल सपना' बनकर रह गया है, जिसकी चर्चा करने पर 'पुलिस का भय' आतंकित कर देता है। वैसे कहानी कई दृष्टियों से अच्छी है। कहानी-कला की दृष्टि से भी कुछ कहानियों में शिल्पगत मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है और कुछ में तो कृष्णचन्द्र की प्रौढ़ शैली का परिचय भी मिलता है।

अन्त में फिर भी यही कहना पड़ता है कि लेखक की जड़वादी सेक्स-भावनाएँ ही हैं, जो कुछ कहानियों को छोड़कर बाकी सबको एक स्थिति पर लाकर खड़ा कर देती हैं। 'अंजीर' और 'खलल है दिमाग़ का' कहानियाँ इतनी अस्वाभाविक और असंगत परिस्थितियों पर आधारित हैं कि सिवाय एक असफल फार्स के उनका महत्त्व कुछ नहीं है। 'लाला घसीटाराम' शीर्षक कहानी और 'पाँच रुपये की आजादी' शीर्षक कहानी एक अच्छे कथानक की टूटी-फूटी, अव्यवस्थित प्रतिलिपि हैं। संग्रह में कुछ प्रचारात्मक कहानियाँ भी हैं, जैसे 'अमरीका से आने वाला हिन्दुस्तानी'। 'गोपाल कृष्ण गोखले' शीर्षक कहानी विकृत शैली और निम्न स्तर की सेक्स-भावना की परिचायक है। फिर भी यह कहानी-संग्रह उनके उपन्यास से कहीं अधिक सफल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सराय के बाहर' रेडियो-नाटकों का संग्रह है, जिसमें एक कथाकार नाटककार की वह सभी असफलताएँ पर्याप्त मात्रा में हैं जो समस्त संग्रह की कथावस्तु, शिल्प और शैली के अतिरिक्त कथोपकथन, हास्य-व्यंग तथा स्वाभाविकता की हत्या करके उनकी साहित्यिक विशेषता को नष्ट कर देती हैं। संग्रह को पढ़ने से वह सभी विकृतियाँ और अधिक उभरकर सामने आती हैं, जो उपन्यास और कहानी-संग्रह में दबी हुई थीं। 'सराय के बाहर' नाटक में न जाने कैसे-कैसे पात्रों को चुन-चुनकर रखा गया है कि सारा नाटक एक विभिन्न सेक्स-ग्रन्थि बनकर रह जाता है। 'काहिरा की शाम' में भी वही औरतों के शरीर से खेलने की भूख, वही मार-पीट झगड़ा-टंटा—जैसे लेखक को जीवन में और कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता। जीवन के अनेक पक्ष हैं, अनेक स्थितियाँ हैं, अनेक भावनाएँ हैं और इनकी अनेकता ही में कला का सौन्दर्य है। रोमांस, सेक्स और अन्य प्रणय-सम्बन्धी भावनाओं पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है लेकिन जिस कथा-वस्तु और कथानक को लेकर कृष्णचन्द्र चलते हैं उससे तो यह पता चलता है कि संसार में कहीं भी सत्य रक्षित नहीं है, किसी भी व्यक्ति अथवा पात्र में सत्य की रक्षा के लिए विरोधी तत्वों से लड़ने की क्षमता नहीं। सारी दुनिया केवल दो बातें सोचती है—पहली है उसकी सेक्स-भूख और दूसरी है पैसे की भूख। लेकिन इन दोनों भूखों के अतिरिक्त भी मनुष्य सोचता है, विचारता है, कला का सृजन करता है, चिन्तन के सूत्र देता है, मानवता की भावना को रक्षित रखता है। आँख में बँधी हुई पट्टी वाले बैल की भाँति मनुष्य केवल एक दायरे में ही नहीं घूम रहा है—वह लड़ाई भी लड़ता है, सन्धि भी करता है, अपने से भी लड़ता है और परिस्थितियों से समझौता भी करता है; लेकिन वह उस तरह की निर्जीव कठपुतली की भाँति नहीं है जैसा कि कृष्णचन्द्र समझते हैं। समस्त नाटकों को पढ़ने के बाद केवल यही पता लगता है कि लेखक की अर्द्ध-विक्षिप्त भावना एक ऐसे वृत्त में बँधी हुई है कि उसमें न तो कल्पना है, न आशा; उसका न तो कोई भविष्य के प्रति आग्रह है, न किसी भी मनुष्य के प्रति विश्वास है—वह किसी भी व्यक्ति को अपने ढंग से अनाचारी (Hardened Criminal) के रूप में चित्रित कर सकता है।

नाटकीय शिल्प के दृष्टिकोण से प्रस्तुत नाटक न तो रंगमंच के योग्य हैं और न ही इनमें कोई रेडियो-टेकनीक ही असाधारण रूप में है; न तो कथावस्तु में प्रौढ़ता है न शिल्पगत निपुणता, और न परम्परागत सांस्कृतिक चेतना। पार्वती और शंकर उर्दू की गज़ल भी गा सकते हैं और ओछे और छिछले ढंग से प्रेम-प्रलाप भी कर सकते हैं। कहीं-कहीं स्वगत-भाषण सोलोलोकी है तो कहानी-की-कहानी पृष्ठों में वर्णित है (जैसे 'बेकारी नाटक') जहाँ कहीं नाटकीय औत्सुक्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की है (जैसे 'हजामत') तो उसमें भी लचर और दुर्बल शिल्प-ज्ञान का परिचय मिलता है। देश-काल तथा वातावरण के परे कृष्णचन्द्र की सृजन-शक्ति ने अपने चारों ओर मकड़ी का जाला बुन लिया है जिसमें प्रत्येक पात्र उलझकर एक ही भाँति मरता है, एक ही भाँति प्रस्तुत होता है और लेखक भी उसी सीमा में बँधकर अपनी स्वतंत्रता और व्यापक दृष्टि को खो चुका है। यह और कुछ भी हो, किन्तु प्रेमचन्द्र की परम्परा तो नहीं ही है।[1]

---

१. लेखक—कृष्णचन्द्र, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रादेशिक साहित्य

हेमलता जनस्वामी

तैलुगु-प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ

वर्षों के अथक परिश्रम और प्रयत्नों के बाद तथा पिछले वर्ष पोट्टि श्रीरामुलुजी के अनशन के बाद अब यह निश्चय हो गया है कि आन्ध्र देश एक स्वतन्त्र राज्य बनेगा। इस राज्य की सीमा में उत्तर-दक्षिण वैजाग़, पूर्व-पश्चिम गोदावरी, कृष्णा, नेल्लूरु, गुण्टूर, बेल्लारी (सिर्फ तीन जिले), अनन्तपुरम्, कडप और करनूलु जिले समाविष्ट होंगे। यहाँ के क़रीब १ करोड़ ८० लाख निवासियों की बोली तैलुगु ही है। हैदराबाद और मद्रास में भी तैलुगु-भाषी हैं, पर वे इस नये राज्य की सीमा में नहीं हैं। आज इस नये प्रदेश की जो भी समस्याएँ और प्रवृत्तियाँ हैं, वही कल के नवनिर्माण की पृष्ठभूमि और आधार बनेंगी।

तीन ओर से यह प्रदेश उड़िया, हिन्दी, मराठी, कन्नड और तमिल-भाषी क्षेत्रों से घिरा है। फलतः सीमा के प्रदेशों में इन भाषाओं की झलक हमें मिलती है। जिस प्रकार दिल्ली, आगरा, झाँसी, जबलपुर, नागपुर, बिलासपुर, पटना, छपरा आदि स्थानों की हिन्दी में हम अन्तर पाते हैं, उसी प्रकार विशाखपट्टनम्, करनूलु, रायलसीमा, तिरुपति, नेल्लूरु आदि क्षेत्रों की तैलुगु में हमें अन्तर मिलता है। हिन्दी में यह अन्तर कुछ अधिक मात्रा में है। तैलुगु की प्राचीन और आधुनिक भाषा-शैली में अन्तर पड़ गया है। मुसलमानी, मुगल और अँग्रेज़ी सल्तनत के प्रभाव से भाषा में कई उर्दू, अरबी, फ़ारसी और अँग्रेज़ी के शब्द आ गए हैं। अँग्रेज़ी के शब्दों को तो प्रायः उसी रूप में ले लिया गया है। उर्दू, फ़ारसी, अरबी के शब्दों को हम निज़ाम हैदराबाद के तैलुगु-भाषा-भाषियों में काफी पाते हैं। ऐसे ही कुछ शब्द भद्राद्रि रामदास की रचनाओं में हमें मिलते हैं। फिर भी तैलुगु भाषा की अपनी एक स्वतन्त्र विशेषता है। उसका प्रत्येक शब्द स्वरान्त है। संस्कृत समासयुक्त पदावली से प्रभावित होने के कारण तैलुगु में पद-लालित्य और स्वरान्त होने तथा न, ल, म, मु, वु, डु-सरीखे शब्दों के अधिक प्रयुक्त होने से भाषा में संगीतात्मकता आ गई है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-क्षेत्रों में तैलुगु को Italian of the East कहा जाता है।

तैलुगु-साहित्य का प्रारम्भ और विकास देश की ऐतिहासिक घटनाओं से अत्यधिक सम्बद्ध रहा है। अब तक के प्राप्त सूत्रों से यही ज्ञात होता है कि ई० स० १०१८ में महाराज विक्रमादित्य के पुत्र ने गद्दी ग्रहण की। इन्हींके समय से वाङ्मय का विकास हुआ। तैलुगु के प्रथम कवि नन्नय्या थे। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद समुद्र की लहरों के घात-प्रतिघात के समान राज्यों का उत्थान-पतन हुआ और इन्हीं के थपेड़े झेलती साहित्य की नौका आगे बढ़ी। १५०६ (ई० स०) में विजयनगर की गद्दी पर कृष्णदेव राय आये। इनके राज्य-काल में साहित्य, वाङ्मय, कला, विज्ञान, धर्म—सभी की अभिवृद्धि हुई। १६वीं शताब्दी हिन्दी या तैलुगु की ही नहीं वरन् समस्त विश्व-मानवता की चरम उत्कर्ष की वेला तो थी ही। इन दिनों तैलुगु में धार्मिक साहित्य, संकीर्तन-साहित्य, नीति और लक्षण-ग्रन्थ, प्रशस्ति-ग्रन्थ, शतक-काव्य तथा यक्षमानों का सृजन हुआ।

ई० स० १८०१ से तैलुगु का नवयुग प्रारम्भ होता है। पद्य और गद्य दोनों में ही रचनाएँ होने लगीं। नाटक, एकांकी, कहानी, उपन्यास, प्रहसन, व्यंग्य-साहित्य, बाल-साहित्य, चलचित्र-साहित्य, रेडियो-रूपक और पत्रिकाओं के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। बालकों के लिए 'बाल'-सरीखी पत्रिकाओं, 'आन्ध्र-पत्रिका' आदि में आधे से अधिक स्थान में बालोपयोगी साहित्य, गत वर्ष के 'आन्ध्र-पत्रिका' के दशहरे के विशेषांक को तथा अन्य प्रकाशित पत्रिकाओं को देखने पर पता चलता है कि बाल-साहित्य का तैलुगु में विकास हुआ है।

प्रथम महायुद्ध के बाद तैलुग-साहित्य में काफी परिवर्तन हमें दृष्टिगत होता है। छायावाद और रहस्यवाद तथा अब प्रगतिवाद ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। छायावाद और रहस्यवाद के साहित्य में आने पर कई कवि इस ओर स्वागतार्थ बढ़े। गीति-काव्यों का निर्माण हुआ। सबसे प्रमुख गीतिकार इस समय कृष्णशास्त्री हैं। प्रगतिवादी भावना के साथ ही हिन्दी-कविता की तरह तैलुगु-कविता में भाव, भाषा और छन्दों में अन्तर आ गया। आजकल तैलुगु की साहित्यिक भाषा को व्यावहारिक रूप देने का काफी प्रयत्न हो रहा है। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु जी से हुआ। गुरजाड अप्पाराव और रायप्रोलु सुब्बाराव जी ने कविता के लिए व्यावहारिक भाषा को अधिक उपयुक्त सिद्ध किया। श्रीरंगम श्रीनिवासराव (श्री० श्री०) जी ने कविता में भाषा, भाव, अलंकार आदि के बन्धनों को तोड़ दिया। अब तो रचनाएँ मुक्त छन्द में भी होती हैं। श्री० श्री० ने विश्व-मानवता के दुःख को अपनी पीड़ा माना, पर कृष्ण शास्त्री के गीतों में हम कवि की अपनी पीड़ा को विश्व-पीड़ा में विस्तृत पाते हैं। प्रगतिशील लेखकों में आरुद्र, अन्नसेट्टि सुब्बाराव, रमणारेड्डि और नारायण बाबू के नाम उल्लेखनीय हैं। बरमपुरम्, काकिनाडा, विशाखपट्टनम् और मद्रास इनके प्रमुख कार्य-क्षेत्र हैं। काकिनाडा में 'नव्य साहित्य-परिषद्' की स्थापना की गई और 'उदयिनि' मासिक पत्रिका का सम्पादन करके नये साहित्य का प्रसार यह कर रहे हैं।

कहानी, नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में भी हिन्दी के समान चरित्र-प्रधान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रधान कथानकों की ही रचना हो रही है। पर तैलुगु के कथा-साहित्य में हम perverted psychology वाले पात्र, डाइवोर्स और तत्पश्चात् जीवन की विषाक्त अनुभूतियों का चित्रण, सेक्स आदि का वर्णन हिन्दी के नवीन कथानकों की तुलना में उतना नहीं पाते। वहाँ के कथानकों में आज के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण—जैसे दुर्भिक्ष, बेकारी, आन्ध्र-तमिल भाषावार विभिन्नताएँ, विवाह-पक्ष और दहेज की विभीषिका आदि वर्णित हैं। यह अन्तर इसलिए कि वहाँ के लोगों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में ही फर्क है। अभी भी वहाँ परम्परागत भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन और सीधे-सादे जीविका के ढंग पर जीवन की विचार-धारा बह रही है। आधुनिक जीवन की उच्छृङ्खलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी हम देख नहीं पाते। दो वर्ष पूर्व अन्त-र्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में पद्मराजु की कहानी 'गालि वान' (तूफ़ान) को तृतीय पुरस्कार मिला है। मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव का स्थान कथा-साहित्य में उल्लेखनीय है।

इधर प्रकाशन और पत्रकारिता का कार्य भी जोरों पर है। वाविल्ला प्रेस ने तैलुगु के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का सम्पादन करके सस्ते दामों में अच्छे संस्करण निकालकर साहित्य को जनता के समीप पहुँचाने का प्रयत्न किया है। स्व० काशीनाथ नागेश्वरराव ने पं० महावीर-प्रसाद द्विवेदी की भाँति 'आन्ध्र-पत्रिका' का सम्पादन करके साहित्य के विभिन्न अंगों को परिमार्जित कर पत्रकारिता को उच्च स्थान दिलवाया। साहित्य को इनकी बड़ी देन है।

आजकल अन्ध्र-विश्वविद्यालय में तो शोध-कार्य हो ही रहा है, पर तिरुपति तिरुमलइ देवस्थानम् और ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, तिरुपति में वेंकटेश्वर साहित्य का प्रकाशन तथा प्राचीन तालपत्र और ताँबे के पत्रों पर लिखी गई हस्तलिपियों का सम्पादन करके उनका प्रकाशन हो रहा है। आन्ध्र-विश्वविद्यालय ने हस्तलिपि-संकलन और उनकी प्रतिलिपियों को मँगवाने का कार्य प्रारम्भ किया है। यहाँ सरस्वती महल हस्तलिपि लाइब्रेरी तंजौर की काफी हस्तलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं तथा कई मूल प्रतिलिपियाँ भी हैं।

साहित्य और भाषा के इस पहलू के साथ-ही-साथ तैलुगु का संगीत-पक्ष भी उन्नति करता रहा। समस्त दक्षिण का संगीत १७वीं शताब्दी के भक्तशिरोमणि त्यागराजु की रचनाओं में एक प्रकार से निहित है, जो प्रत्येक घर में तुलसी, सूर और मीरा के गीतों के समान जन-मन का कण्ठ-हार बन गया है। इनकी स्वर-लिपि रवीन्द्र-संगीत के समान निश्चित है। अब विशाखपट्टनम् के श्री विस्सा अप्पाराव जी के सम्पादन में एक ही पुस्तक में इन गीतों की स्वर-लिपि तथा तैलुगु, तमिल और कन्नड़ लिपि में गीतों के बीच देकर त्यागराजु की समस्त रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। (तमिल संगीत में दीक्षितार और श्याम शास्त्री की रचनाएँ भी प्रचलित हैं।) अप्पाराव जी ने क्षेत्रय के गीतों का भी संकलन किया है। इसमें सिर्फ राग-संकेत हैं। ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में १५वीं शताब्दी के गायक भक्त-शिरोमणि अन्नमाचार्य की हस्तलिखित रचनाओं का सम्पादन करके स्वरबद्ध करने का कार्य श्री राल्ल-पल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा कर रहे हैं। वैसे संगीत का प्रसार, गायन, वीणा और वायलिन-वादन प्रायः घर-घर में होता है।

स्थापत्य और चित्र-कला में यहाँ के जीवन का अपना स्वतन्त्र प्रतिरूप है। अमरावती में प्राप्त शिला-लेखों और स्थापत्य की अन्य वस्तुओं से बौद्ध प्रभाव झलकता है। कृष्णदेव राय के ज़माने में इस ओर भी श्री-वृद्धि हुई। इसके प्रमाण हमें तिरुपति के वेंकटेश्वर देवालय, सिंहा-चलम् के सिंहाद्रि नरसिंह राय के मन्दिर तथा कई मन्दिरों के गोपुरम्, प्राकार और मंटपों में मिलते हैं। गोपुरम्, मंटप, प्राकार यहाँ की स्थापत्य-कला के अनुपम प्रतीक हैं। इस दृष्टि से दर्शनीय स्थल हैं अमरावती का बौद्ध-स्तूप, कोंडवीडु का किला, धान्यकटक और विजय-वाडा में कनकदुर्गा का मंदिर। वैसे विशाख-पट्टनम् का हारबर अपने नैसर्गिक सौंदर्य के लिए अनुपम है।

तैलुगु-भाषी क्षेत्रों में बौद्ध, जैन, अद्वैतवाद, शैव, वीर शैव और वैष्णव धर्मों ने अपनी-अपनी बारी में अपना-अपना प्रभाव दिखाया, पर आज धार्मिक कट्टरता नहीं रही। शिक्षा ने इस ओर काफी हाथ बटाया। पर आज भी उत्सवों पर देवालयों के उपदेवताओं को खूब अलंकृत करके बाजे-गाजे के साथ उनकी नगर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिक्रमा कराई जाती है।

इतने धर्मों का प्रभाव पड़ने पर भी यहाँ का सामाजिक जीवन बहुत अधिक प्रभावित न हो सका और न उच्छृङ्खलता ही आ सकी। आज की अधिक-से-अधिक शिक्षित और संस्कृत आन्ध्र-परिवार के आँगन में मुग्गु (अल्पना-बंगाला से भिन्न), हल्दी और कुङ्कुम से सजाई चौखट आम्र तोरण (विशेष अवसरों पर) अवश्य ही हम पायँगे। लहंगा-ओढ़नी पहने किशोरियाँ, जन-गीत गातीं श्रमिक-वधुएँ, लम्बी चोटी डाले बालों में फूलों की माला खोंसे गृह-कार्य में लगी आन्ध्र नारियाँ यहाँ का गौरव हैं। त्रावनकोर, कुर्ग और मैसूर की स्त्रियों के अनुपात में स्त्री-शिक्षा यहाँ काफी कम है। पर अब इस ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पिछले २०-२५ वर्षों में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है।

ऐसी पृष्ठभूमि लेकर तैलुगु-प्रदेश आज कुछ अवधि के लिए करनूलु में राजधानी बनाने, रायल सीमा की समस्या को सुलझाने और भाषा-भिवृद्धि के लिए अधिकारी ढंग से साहित्य के इतिहास लिखवाने आदि अनेकों प्रश्नों में उलझा है। उसके सामने राष्ट्रभाषा का भी एक बड़ा प्रश्न है। लोगों में उत्साह है, राष्ट्रभाषा के प्रति गौरव है; आवश्यकता है योग्य शिक्षकों और प्रचारकों की। यह इसलिए कि उनकी नई भाषा के अंकुर लगेंगे। ठीक-ठीक उच्चारण और सही दृष्टिकोण बन जाने से आगे कठिनाई न होगी। आज तैलुगु-साहित्य में भारतीय और पश्चिमी साहित्य-ग्रन्थों का अनुवाद हो रहा है। पाश्चात्य आलोचना पद्धति के अनुरूप आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रमुख हैं—भारती, शारदा, वीणा, कुछ समय पूर्व तक प्रकाशित 'कृष्णपत्रिका' और 'आन्ध्र पत्रिका' के विशेषांक और वार्षिक अंक। यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए लोगों में उत्साह है।

तैलुगु-प्रदेश के नवयुवक और नवयुवतियों के सामने प्रदेश की समस्याएँ हैं, जिन्हें सुलझाना और सुलझाकर आगे बढ़ना उनका कर्तव्य है। उन्हें यहाँ के जन-गीतों ने लोरियाँ सुनाई हैं, राजनीतिक और सांस्कृतिक हलचल ने दृष्टि दी है और पोट्टि श्रीरामुलु-सरीखे देश-सेवी ने लगन दी है तथा सागर की उठ-उठ गिर-गिर पड़ने वाली लहरों ने प्रगति का सन्देश दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवलोकन

आई० ए० एक्स्ट्रॅस

समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि

: १ :

विगत वर्षों में पश्चिम के मानववादी साहित्य की प्रवृत्तियों में एक भारी परिवर्तन के दर्शन हमें हुए हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए हैं, वह आशा और विश्वास, जो कभी वेल्स के साहित्य में परिव्याप्त थे, नैराश्य और पराजय को अपना स्थान देते गए हैं।

बीसवीं शती के आरम्भ में वेल्स-जैसे लेखकों में अद्भुत उमंग और उत्साहपूर्ण विश्वास था कि मनुष्य में पूर्णता प्राप्त करने तथा बिना किसी की सहायता लिये जीवन को सुन्दर बनाने की अपार क्षमता निहित है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हैम्लेट के उन उद्गारों को अपनी मूल आस्था बनाकर साहित्य-निर्माण किया, जो उसने एक बार मानव की स्तुति और प्रशंसा के रूप में प्रकट किये थे :—

"कितनी अपूर्व कलाकृति है मानव !
विवेक और बुद्धि में महान् , शक्ति और सामर्थ्य में अनन्त……
सृष्टि में सुन्दरतम ! प्राणि-मात्र में सर्वोत्तम !"

मनुष्य के भयमूलक स्वभाव ने निष्प्रयोजन और निरर्थक ही ईश्वर की सृष्टि की थी, अतः ईश्वर तथा धर्म दोनों का बहिष्कार हुआ। मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य से संघर्ष करके अपने स्वर्ग की रचना करनी चाहिए और अपना भगवान् स्वयं होना चाहिए; उसे संसार की सीमाओं से परे, कहीं उस पार न देखकर अपने रचना-विधान से इस संसार को ही स्वर्ग बनाना चाहिए। वर्तमान शताब्दी के मानववादियों की यही मूलभूत धारणा रही है, जिसे वास्तव में 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' कह सकते हैं।

इस शताब्दी के मध्य में, जहाँ मानव-जाति की वर्तमान प्रगति और उन्नति के सम्बन्ध में हमारा स्वप्न भंग हुआ है, वहाँ से पीछे मुड़कर देखने पर हमें आश्चर्य होता है कि कैसे आज से पचास वर्ष पूर्व मनुष्य के इस भाग्य-विषयक दृष्टिकोण ने उसे आशावाद, उन्मुक्त उत्साह एवं साहस का प्रकाश दिया था। आज हम उस हेतुवादी किन्तु वास्तव में विवेचना-हीन युग के मतों और सिद्धान्तों पर पूर्णतया सन्देह करने लगे हैं। उस समय 'प्रगति' के एक भाग्यवादी सिद्धान्त में एक व्यापक विश्वास था, जिसे हम आज अवैज्ञानिक कल्पना कहते हैं; अन्य कितनी ही सामाजिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक मान्यताओं में उलट-पलट हो चुकी है। किन्तु सबसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर हमने यह समझा है कि ऐसे 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' का अर्थ है—व्यावहारिक जीवन में उपद्रव तथा विपर्यय; और हम यह भी समझने लगे हैं कि मानवीय कार्यों की महत्ता की दृष्टि से आस्था से अनिवार्य विद्रोह निरर्थक है। आल्डुअस हक्सले के 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड', रसैल के 'डिफ़ाएण्ट पेसिमिज़्म' और सार्त्र के अस्तित्व के लिए 'अरुचि और अनाशा' का यही अभिप्राय है। नास्तिकों का नाटक, जो गौरवमय साहसिक कार्यों तथा वीरत्वपूर्ण विजयों का इतिहास बन जाने का दम भरता था, **"किसी मूर्ख द्वारा गढ़ी हुई कहानी-मात्र रह गया है, जिसमें केवल चिल्लाहट और आक्रोश है और जिसका कोई अभिप्राय नहीं है।"** दास्ताव्स्की की अन्तर्भेदिनी दृष्टि ने सौ वर्ष पहले ही यह बता दिया था कि 'नास्तिक मानववाद' मनुष्य को पतन और पराधीनता की ओर ले जायगा। 'नास्तिक मानववाद' के आधुनिक महारथी भी अपने कड़वे अनुभवों से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दास्ताव्स्की ठीक कहता था।

: २ :

'नास्तिक मानववाद' के दिवालिएपन से दो प्रकार की मनोरञ्जक और अवश्यम्भावी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। पहले प्रकार की प्रतिक्रिया की भूमि पर वे लोग हैं जो अब भी मूल रूप से नास्तिकवाद से चिपके रहना चाहते हैं, किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व एवं उसके अपने भाग्य का कोई अर्थ न खोज पाने से निराश होकर, समूह अथवा वर्ग के अनुशासन पर व्यक्ति की बलि चढ़ाकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का मूल्य उसके व्यक्तित्व को न लेकर, उसके राजनीतिक कार्यों को लेकर है; उनके अनुसार आज के मनुष्य को भावी पीढ़ियों के वर्ग-हितों अथवा वर्तमान सरकार के राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करने में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। भविष्य से सम्बद्ध होने पर भी वर्तमान का अर्थ है। यह निर्विवाद है कि मार्क्सवाद एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो आधुनिक युग के दिवालिएपन के लिए आकर्षण की वस्तु है—ऐसा युग, जिसकी न कोई विशिष्टता है, न जो सुरक्षित है और न जिसका कोई निश्चित उद्देश्य है। किन्तु फिर भी यान्त्रिक मार्क्सवाद से किसी भी ईमानदार मानववादी को सन्तोष नहीं हो सकता। केस्लर, सायलोने तथा जीद-जैसे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यान्त्रिक मार्क्सवाद उतना ही अमानवीय है जितना कि नग्न शून्यवाद, जो मानव के व्यक्ति को उसके आत्माभिमान, उसके मूल्य तथा उसके स्वातन्त्र्य से वंचित रखता है।

दूसरी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप वे लोग हैं जो मानव-स्वातन्त्र्य की धारणा को असत्य और निरर्थक कहकर अस्वीकृत करते हैं तथा मानवीय कार्य-व्यापारों की धार्मिक- रहस्यवादी व्याख्या स्वीकृत करते हैं। अपनी नई कृतियों के साथ आल्डुअस हक्सले, टी० एस० इलियट तथा सी० ई० एम० जोड इसी श्रेणी में आते हैं। भारतवर्ष में मानव-जीवन के प्रति अधिकतर धार्मिक अथवा रहस्यवादी दृष्टि रखने की ही प्रवृत्ति व्यापक रूप से वर्तमान है। दुर्भाग्य से भारत के चिन्तकों द्वारा यह दृष्टि उस शैली में प्रस्तुत नहीं का जाती जो सबको सन्तुष्ट और सहमत करके इसे स्वीकृत करा सके। नया मनुष्य उस अध्यात्म को ग्रहण नहीं कर सकता जो उसकी सम्पूर्ण मानवता को मान्यता न दे सके। मनुष्य का रूप सूक्ष्म ही नहीं है, वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों है—उसे आत्मा और शरीर दोनों मिले हैं, अतः मानव-जीवन-सम्बन्धी किसी भी विचार-विमर्श के समय इन दोनों के औचित्य और अधिकार को स्वीकार करना होगा। आत्मिक एवं शारीरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओं के सम्यक् समन्वय का ही आदर्श अपनाना होगा, यद्यपि यह सही है कि प्रत्येक मानव-प्राणी अपने को एक प्रकार के असन्तुलन, द्वन्द्व तथा संघर्ष की स्थिति में पाता है।

आधुनिक युग में भारत तथा विदेशों की अतिरहस्यवादी विचार-धाराएँ शरीर तथा उससे सम्बन्धित सारी वस्तुओं के यथार्थ उत्सर्ग पर जोर देती हैं। उनके अनुसार मनुष्य केवल आत्मा है—वह है तो सब-कुछ है और नहीं है तो कुछ भी नहीं! शरीर और उसकी माँगों को वह निरर्थक तथा आत्मा की दिव्यत्व-प्राप्ति के मार्ग में बाधा-स्वरूप समझती हैं, अतः शरीर एवं उससे सम्बन्धित प्रायः सभी प्रवृत्तियों को भ्रम समझकर उनका त्याग कर देना चाहिए। इन अति-रंजनापूर्ण रहस्यवादी विचार-धाराओं के अनुसार मानव को पूर्णता और मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए—सांसारिक उन्नति द्वारा नहीं, बल्कि इसकी उपेक्षा करके, इससे पलायन करके। यह भी एक अतिवादी, प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है।

: ३ :

इस प्रकार का धार्मिक समाधान आज के मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि वह ऐसे अध्यात्म को जीवन की वास्तविकताओं से मूर्खतापूर्ण एवं अशोभनीय पलायन समझता है। इस प्रकार का अध्यात्म मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं और उनके साथ-साथ चलने वाले विज्ञान, कला एवं शिल्प के मिश्रित विकास और प्रगति को असंगत बताकर हवा में उड़ा देता है। इसके अतिरिक्त ऐसा अध्यात्म मानवीय सम्बन्धों एवं सफलताओं पर भी वास्तविक और महत्त्वपूर्ण प्रकाश नहीं डालता।

परिणामतः आज का मानव ऐसे धर्म के प्रति अवहेलना की भावना रखता है, उसे अपनी प्रकृति के विरुद्ध समझता है तथा अपनी चेतना के जागरूक स्फुरण को सुला देने वाला समझकर उसे अस्वीकृत करता है। कुछ हद तक वह उचित ही करता है। वास्तव में यह कह देने से कि आर्थिक समस्या का अस्तित्व ही नहीं है और यदि है भी तो उससे माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं, इस समस्या का कोई हल नहीं प्रस्तुत होता।

: ४ :

यदि धर्म आज के मानव-प्राणी को प्रेरित करना चाहता है तो उसे मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक, व्यक्तिगत और सामाजिक सभी प्रकार की प्रगति को अंगीकृत करना होगा। आज मनुष्य अपनी प्रकृति के किसी भी अंग को असम्बद्ध और अनावश्यक समझकर उसका दमन करने से इन्कार करता है। उसकी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी क्षेत्रों की अपनी वास्तविक समस्याएँ हैं और कठोर सत्य के रूप में उसके सामने हैं; यदि धर्म इन समस्याओं को हल करने में उसकी सहायता नहीं करता तो वह धर्म की एक न सुनेगा। वह एक ऐसा धर्म चाहता है जो आत्मा और शरीर के द्वन्द्व को हल कर सके, उसकी आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर सके और संयुक्त इकाई के रूप में उसे पूर्णत्व प्रदान कर सके। केस्लर ने कुछ ऐसी ही बातें ध्यान में रखकर अपने 'योगी एण्ड कमिसार' में योगी के आध्यात्मिक आदर्शवाद तथा कमिसार के भौतिक सामर्थ्य और वैभव के परिणाम पर बल दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ यह है कि धार्मिक सत्यों के चिन्तन द्वारा विकसित आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं नैतिक मूल्यों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मानव-व्यापारों के प्रत्येक क्षेत्र में होनी चाहिए। चिन्तन को कार्य-रूप में अवश्य ही परिणत होना चाहिए, तभी ऐसे कार्यों का महत्त्व, उपयोग, औचित्य और गौरव है।

इतना ही नहीं, आज का मनुष्य एक ऐसा धर्म चाहता है जो उसे समाज से दूर व्यक्तित्व के रूप में पूर्णता न देकर समाज के ऐसे सदस्य के रूप में पूर्णता प्रदान करे, जो साधारण सामाजिक हितों की अभिवृद्धि में योग दे सके। मानव की मुक्ति का रूप सामाजिक होना चाहिए, केवल वैयक्तिक नहीं।

अन्ततः आज के मनुष्य के लिए वही अध्यात्म आवश्यक है जो इने-गिने बौद्धिकों अथवा अवकाश-प्राप्त व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित सार-तत्त्व के रूप में न होकर, जन-साधारण के लिए भी प्राप्य तथा स्वीकार्य हो और उसके पालन में व्यक्ति की जाति, संस्कृति तथा जीविकोपार्जन के साधनों के आधार पर कोई भेद-भाव न रखा जाय।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का अध्यात्म तथा उससे प्रेरित नव-मानववादी साहित्य हृदय की वेदनाओं तथा स्वाभाविक रूप से सताने वाली सहस्रों व्याधियों को एकदम दूर नहीं कर पायगा, किन्तु वह निरर्थक नैराश्य को छिन्न-भिन्न और मानव की कार्य-शक्ति को महान्, दिव्य एवं सुन्दर की ओर प्रवृत्त करेगा।

ग्रीन, मारियाक, क्लाडेल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, टी० एस० इलियट, बर्नैनो और दास्तावस्की जैसे लेखकों की जड़ें ऐसी ही आस्तिकता की गहराई तक पहुँची हैं। वे प्रचारक नहीं, कलाकार हैं। उनके नायक तथा नायिकाएँ जन-साधारण में से लिये गए हैं और उनकी जीवन-लीला भी सर्वसाधारण के बीच चित्रित की गई है, जिसका आधार सर्वोत्तम और पूर्णतम अर्थों में वही मानववादी नई आस्तिकता है, जिसका केन्द्र-विन्दु विश्वात्म से संयुक्त सम्पूर्ण मानव है।

—प्रस्तुतकर्ता : श्रीहरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

हिमालय-परिचय(१) गढ़वाल

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, राहुल जी की इस पुस्तक में हिमालय के गढ़वाल-प्रदेश का विस्तृत तथा सर्वांगीण परिचय है। यह पुस्तक इस प्रदेश के लिए विश्व-कोष के समान है। कोई भी सम्भव बात इस प्रदेश के विषय में इस पुस्तक में छूटने नहीं पाई है। विभिन्न अध्यायों में इस प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति, इसके इतिहास, निवासी तथा समाज, आजीविका, यातायात और संचार, स्वास्थ्य और शिक्षा, यात्राओं की तैयारी, यात्राओं तथा यहाँ के जन-साहित्य पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। चित्रों तथा नक्शों की सहायता से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। विवरणात्मक होने के कारण इसमें वह रोचक शैली नहीं मिलती जो लेखक की अन्य यात्रा-पुस्तकों में है। भूमिका में लेखक ने हिमालय के अन्य प्रदेशों के विषय में पुस्तक के अन्य भागों के तैयार होने की सूचना दी है। इस समस्त योजना के लिए लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

शिशुपाल-वध

श्री माघ के महाकाव्य का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवाद के साथ मूल भी दिया गया है। इस काव्य का एक अनुवाद साहित्य-सम्मेलन से पहले भी निकल चुका है। प्रकाशन की ओर से कहा गया है, पहले अनुवाद को संस्कृत के विद्वानों ने विशेष पसन्द नहीं किया। प्रस्तुत अनुवाद तथा पहले अनुवाद में दृष्टिकोण का अन्तर है, अन्यथा पहला अनुवाद भी अच्छा था। इसमें भाषा पर अधिक ध्यान दिया गया है, उसमें अर्थ का। प्रस्तुत अनुवाद की भाषा अधिक गठी हुई तथा हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल है। प्रारम्भ की भूमिका भी उपयोगी है।

पर विचारणीय प्रश्न यह है कि जब हिन्दी के सामने ज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति का जबरदस्त उत्तरदायित्व है, उस समय इस प्रकार एक ही कृति का दूसरा अनुवाद प्रस्तुत करना एक संस्था के लिए कहाँ तक उचित हो सकता है। हमारी समझ में हिन्दी-साहित्य-सम्मे-

१. लेखक—श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लन को इस समय 'मत्स्यमहापुराण' तथा 'वायु-पुराण' के अनुवादों से कुछ समय के लिए विरत होकर ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न पाश्चात्य पुस्तकों के अनुवाद की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। यही समय की माँग है।[1]

पहेली

'पहेली' श्री राजेन्द्र रघुवंशी द्वारा लिखित वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की विकृतियों को चित्रित करने वाला व्यंग्य-प्रधान एकांकी है। इस एकांकी के प्रायः सभी पात्र निम्न-मध्यवर्ग के प्रतिनिधि हैं और सब-के-सब यथार्थ के कटु सत्यों से पलायन करने में जीवन का सन्तुलन खो चुके हैं।

नाटकीय तत्त्व नाटक में काफी हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से उनका विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। पहली बात तो यह है कि एकांकी नाटक में समय, देश और काल का ऐक्य सुगठित रूप में होना चाहिए। प्रथम दृश्य और दूसरे दृश्य के कालान्तर में दो साल का समय खटकता है। यदि कथानक को दूसरे दृश्य से प्रारम्भ किया जाता और प्रथम दृश्य उसके अन्तराल में होता तो शिल्प के दृष्टिकोण से यह दोष न रह पाता। दूसरी बात यह है कि चरमोत्कर्ष का विकास क्रमिक न होकर सहसा हो उठा है, जो अनुचित है। नाटक के अन्त में शर्मा द्वारा कहलाया गया व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत वाक्यांश नाटक की स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज के जीवन में संघर्ष अधिक तीव्र और कटु रूप में प्रस्तुत हो रहे हैं। फिर भी उस संघर्ष का चित्रण नाटक में बहुत ही क्षेपक रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिन संघर्षों को नाटककार ने चित्रित करना चाहा है वे केवल 'धोबी' और 'क्रासवर्ड' के प्रतीकों तक ही सीमित रहने के कारण नाटक में सब-कुछ होते हुए भी कथा-अंश का अभाव रह गया है। हम आशा करते हैं कि नाटककार अपने अन्य नाटकों में कथा का अंश और स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

श्री अमृतलाल नागर के शब्दों में—"इस पहेली में चाँदी के जूतों से पिटे हुए मिडिल क्लास का उमदा खाका खींचा गया है।"—इस सचाई और ईमानदारी की पकड़ लेखक की प्रतिभा का परिचय देती है। हमें 'पहेली' के लेखक से भविष्य में उच्चकोटि की कृतियों की आशा करनी चाहिए।[2]

---

१. अनुवादक—श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

२. लेखक—राजेन्द्र रघुवंशी, प्रकाशक—विश्व-साहित्य, आगरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् भला करे

श्री रमेश चौधरी के इस संग्रह की सभी कहानियाँ प्रायः एक ही टेक्नीक की हैं। उनमें एक पात्र 'मैं' अवश्य होता है कभी वह नायक होता है कभी साधारण पात्र-वही कहानी कहता अथवा कहलाता चलता है पर कहानी कभी आत्म-कथा का प्रलापात्मक रूप नहीं धारण करने पाती; दूसरे पात्र कहानी की कार्य-शृङ्खला से प्रायः जुड़ते-मुड़ते जाते हैं।

लेखक का यह कहना—"मेरे पात्र घटनाओं के पुतले हैं, घटनाएँ उन्हें बनाती-बिगाड़ती हैं वे घटनाओं को बना या बदल नहीं पाते। वे मनुष्य हैं, अपूर्ण हैं, निर्बल और असहाय हैं।" हो सकता है कुछ अंशों तक सही हो। पर यदि वे अपूर्ण, निर्बल और असहाय हैं तो सिर्फ इसी-लिए कि संघर्ष उन्हें खा रहा है।

इतनी सैद्धान्तिक पीठिका के बावजूद भी कहानियाँ अप्रौढ़ लगती हैं। बीच-बीच में कई अंश निष्प्रयोजन लगते हैं, उनमें कुछ ही थोड़ा-बहुत वातावरण के निर्माण में योग देते हैं। कुछ भाषा-सम्बन्धी गलतियाँ भी हैं, फिर भी रमेश चौधरी श्रेय के अधिकारी हैं। तैलुगु-भाषी होते हुए हिन्दी में लिखते हैं। भविष्य में उनकी कला में परिपक्वता तथा निखार आयगा ऐसी आशा है।[1]

लोकमान्य

श्री भालचन्द्र आपटे शास्त्री की यह पुस्तक १३१ पृष्ठों में संक्षेप में लिखी हुई लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की जीवनी है। जीवनियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—एक, जिनमें जीवन की घटनाओं की प्रधानता रहती है दूसरी, जिनमें व्यक्ति के सिद्धान्तों पर बल रहता है। पर उचित यही है कि किसी भी जीवनी में दोनों का समान समावेश हो। इसके अतिरिक्त लेखक अपने को बिलकुल तटस्थ रखे। इस कसौटी के आधार पर यह जीवनी पर्याप्त सफल कही जा सकती है।

पुस्तक की सादगी, छपाई की मनोरमता और कवर की वैष्णवता सब एक साथ पाठक पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।[2]

---

१. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।
२. प्रकाशक—वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी शीघ्र लिपि

श्री मुरलीधर सबनीस की यह पुस्तक वर्धा-प्रणाली-शीघ्रलिपि के आधार पर तैयार की गई है। इसमें केवल सिद्धान्त पक्ष को लिया गया है। वर्णों के संकेत आदि अपने वर्गों के अनुरूप होने के कारण उनमें कोई विशेष उलझन नहीं है। फिर संयुक्त रूपों तथा मात्राओं आदि की भी समस्या को बहुत वैज्ञानिक ढंग से लिया गया है। तमाम क्रियाओं, प्रत्ययों, उपसर्गों, सर्वनामों आदि के संकेत निश्चित भी कर दिये गए हैं।

इस प्रकार की पुस्तकों का सम्बन्ध हिन्दी-सम्बन्धी नीति से है। जब तक हिन्दी के मान्य विद्वान् तथा सरकारें कुछ निश्चित नहीं करतीं तब तक इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में अन्तिम रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। पर लेखक का प्रयास सराहनीय है।[1]

सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति-अंक)

'देर आयद, दुरुस्त आयद' की कहावत सम्मेलन-पत्रिका के 'लोक-संस्कृति'-विशेषाङ्क के विषय में केवल अंशतया ही चरितार्थ होती है। इसके अभावों का प्रमुख कारण यह है कि सम्पादन-श्रम के पीछे एक सुनिश्चित योजना, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और एक शास्त्रीय पद्धति का अस्तित्व नहीं प्रतिभासित होता। सम्पादकीय का प्रथम वाक्य है 'संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है।' इस वक्तव्य से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित है कि सम्पादक किसी भी ऐसी प्रणाली का व्यवहार नहीं कर रहा है जिससे 'संस्कृति' और विशेषतया 'लोक-संस्कृति' का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। शायद वह यह भी नहीं स्वीकार करता कि समाज-विज्ञान ने अब संस्कृति को ब्रह्म की तरह अवर्णनीय नहीं रहने दिया है।

फिर भी मैटर के संकलन में बहुत व्यापक क्षेत्रों को मापा गया है और लगभग आधा अनावश्यक मैटर हटाने पर लोक-संस्कृति के सम्बन्ध में अब तक हिन्दी में प्रस्तुत कुछ श्रेष्ठ लेख और भी गठित रूप में सम्मुख आता, ऐसी सम्भावना थी। ऐसे अधिकांश लेखों में या तो विशुद्ध पत्रकारिता है या लोक-गीतों के प्रति एक अर्द्ध-रोमाण्टिक आग्रह, जो आजकल हिन्दी-साहित्य का नया फैशन है। जिस तरह सजे हुए विशाल राजसी कक्षों में आजकल गाँव की टोकरियाँ दीवारों पर शोभा के लिए चक्र की भाँति टाँगी जाती हैं, उसी प्रकार लोक-जीवन, लोक-कला, लोक-गीतों का उल्लेख नागरी मध्यवर्गीय लेखकों का एक फैशन हो गया है, जो स्वाद बदलने के लिए बुरा नहीं माना जाता। लोक-जीवन के प्रति इस रोमाण्टिक बूर्ज्वा-प्रेम से पृथक् अगर भारतीय लोक-परम्परा के अध्ययन की वैज्ञानिक दिशाओं का संकेत इस अंक से मिल सकता तो

१. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री-संकलन के अथक श्रम और उत्कृष्ट मुद्रण की परिष्कृत अभिरुचि को अधिक सार्थकता मिल सकती थी।[1]

आजकल (कविता-अंक)

बहुत दिनों से किसी ऐसे प्रयास का अभाव अनुभव हो रहा था कि जिसमें समस्त भारतीय भाषाओं के समकालीन साहित्य की झलक एक ही बिन्दु से प्राप्त हो सके। यदि साहित्य के अन्य क्षेत्र नहीं, तो कम-से-कम काव्य-क्षेत्र में 'आजकल' का 'कविता-अंक' इस कमी की थोड़ी-सी पूर्ति करता है। योजना, चयन और प्रस्तुतीकरण में सत्यार्थी जी अत्यधिक सफल हैं और उनका सम्पादकीय भी विषय-प्रवेश का सुन्दर स्थानापन्न है। परिचयात्मक लेखों में सर्वश्री उमाशंकर जोशी, मन्मथनाथ गुप्त और दीवानचन्द्र शर्मा के लेखों में अपने विषय पर अधिकार होने का परिचय मिलता है। प्रभाकर माचवे का लेख प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बजाय नाम और तिथि के विवरण में भटक गया है। उनसे इससे अधिक की आशा की जाती थी।

हिन्दी-कविता का परिचय श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने दिया है। पिछले दिनों सूर, तुलसी आदि पर प्रकाशित उनके लेखों में हिन्दी की पुरानी कविता से उनका जितना परिचय आभासित होता है, उतना ही हिन्दी की नई कविता से भी वे परिचित प्रतीत होते हैं। यह आश्चर्यजनक है। लेख के अन्त में नई कविता के प्रसंग में 'अज्ञेय' का एक बार उल्लेख करना उन्होंने उचित माना है; यह उनके सौजन्य और उदार-दृष्टि का परिचायक है। हिन्दी-कविताओं के चयन में नये हस्ताक्षरों को आमन्त्रित किया गया है। यह वास्तव में स्वस्थ प्रवृत्ति है। केदारनाथसिंह के गीत में अद्भुत गीति-प्रतिभा का संकेत मिलता है। उसीके बाद एक दिलचस्प कविता रामदरश मिश्र की है जिसमें 'हुए दो लाल दशरथ के, मुबारक हो—मुबारक हो!' से प्रभावित 'नये इस साल की विश्वास-रोशनी से भरी पहली साँस पर बधाई है, बधाई है!' की टेक कई बार आती है। आशा है इस कृति से कवि के शब्दों में 'खोखले साहित्य के महन्तों का हृदय हलर-हलर हिल गया' होगा। त्रिलोचन की सॉनेट में हीन-भावना (Inferiority Complex) और काव्य में डींग के द्वारा उसकी क्षति-पूर्ति का रोचक उदाहरण मिलता है।

आंग्ल-भारतीय काव्य के साथ एक परिचयात्मक लेख की कमी बहुत खटकती है। उर्दू में राशिद, फ़ैज, अली, जाफ़री, वामिक़—इन तमाम नये कवियों की कृतियाँ गायब हैं। परिणामस्वरूप उर्दू की नई कविता का बिलकुल प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया है।[2]

---

1. सम्पादक—श्री रामनाथ 'सुमन', प्रकाशक—साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
2. आजकल—सम्पादक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पांचजन्य (राजनीति-अंक)

इस अंक के प्रारम्भ में ही घोषित किया गया है कि यह विशेषांक किसी भी राजनीति के पिष्टपेषण-मात्र के लिए नहीं वरन् राजनीतिक सिद्धान्तों का विचार करते समय भारतीय चिन्तना के नवीन मूल्यांकन को प्रश्रय देने की दृष्टि से आयोजित किया गया है। निस्सन्देह यह अपने ढंग का नवीन प्रयास है और इस प्रकार के प्रयास हिन्दी को सम्पन्न ही बनायँगे, किन्तु इस तमाम अंक में समस्याएँ उठाई ही गई हैं, उनका निदान बहुत अल्प मात्रा में है। राजनीतिक वाद और इतिहास-शास्त्र आज साहित्य-दर्शन को अत्यधिक प्रभावित कर रहे हैं। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता की भारतीय धारणा पर कुन्हन राजा का लेख तथा भारतीय इतिहास-सिद्धान्तों पर गणपतिसिंह का लेख महत्वपूर्ण है, किन्तु भारतीय चतुर्युगी कल्पना पर विदेशी इतिहासकारों और दार्शनिकों के मतों का परीक्षण नहीं किया गया है। स्पेंगलर से लेकर सोरोकिन तक ने उस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय संस्कृति के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने का कहीं भी प्रयास नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि हम उसका वही विश्लेषण दें जो संकीर्ण मार्क्सवादी देते हैं, किन्तु उस मानदण्ड की सर्वथा उपेक्षा करना नितान्त अवैज्ञानिक है। कविताएँ और एकांकी अंक की गम्भीरता नष्ट करते हैं।[1]

---

१. सम्पादक—गिरीशचन्द्र मिश्र : महेन्द्रप्रताप कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक—राष्ट्र-धर्म प्रकाशन, लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आलोचना' के आगामी अंकों में

समीक्षा के लिए प्राप्त कृतियाँ

सुखदा	श्री जैनेन्द्र कुमार	प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
विवर्त	,,	,, ,,
व्यतीत	,,	,, ,,
पाप और प्रकाश	,,	,, ,,
काम, प्रेम और परिवार	,,	,, ,,
साहित्य का श्रेय और प्रेय	,,	,, ,,
सुबह के भूले	श्री इलाचन्द्र जोशी	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
महापुरुषों की प्रेम-कथाएँ	,,	लहर प्रकाशन, प्रयाग
शिल्पी	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	सेण्ट्रल बुकडिपो, ,,
लहर और चट्टान	,, विश्वम्भर 'मानव'	किताब महल, ,,
एक था राजा	,, मुल्कराज आनन्द	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
दशकुमार चरित	(अनु०) निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार	,, ,,
पंचतन्त्र	(अनु०) डॉ० मोतीचन्द्र	,, ,,
रात, चोर और चाँद	श्री बलवन्तसिंह	प्रगति प्रकाशन, ,,
पिंजर	श्रीमती अमृता प्रीतम	,, ,,
चील और चट्टान	श्री करतारसिंह दुग्गल	,, ,,
पाँच रुपये की आजादी	कृष्णचन्द्र	,, ,,
सराय के बाहर	,,	,, ,,
तूफ़ान की कलियाँ	,,	राजपाल एण्ड सन्स, ,,
रथ के पहिये	श्री देवेन्द्र सत्यार्थी	एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
राधा और राजन	,, बलभद्र ठाकुर	ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया
कच-देवयानी	,, गुलाब	कला कुञ्ज, गया
अलका	श्रीमती शान्ति सिंहल	भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली
शुक्र की राजनीति	डॉ० श्यामलाल पाण्डेय	प्रेम पब्लिशर्स, लखनऊ
साहित्य-विवेचन	श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'	
	,, योगेन्द्र कुमार मल्लिक	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कला और संस्कृति	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
भारतवर्ष में जातिभेद	आचार्य क्षितिमोहन सेन	,, ,,
सौन्दर्य-शास्त्र	डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा	,, ,,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी नाटककार	श्री जयनाथ 'नलिन'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कवि आरसी की काव्य-साधना	,, प्रताप साहित्यालंकार	तारा मण्डल, कलकत्ता
समीक्षा की समीक्षा	श्री प्रभाकर माचवे	साहनी प्रकाशन, दिल्ली
हमारे साहित्य में हास्यरस	,, कृष्णकुमार श्रीवास्तव	कृष्ण कुञ्ज, फैजाबाद
जीवन और शिक्षण	,, विनोबा भावे	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
सन्त-सुधा-सार	,, वियोगी हरि	,, ,,
सुहागिन	श्रीमती विद्यावती 'कोकिल'	ज्योति प्रकाशन, प्रयाग
क्वासि	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
हिन्दी-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली
कबीर की विचार-धारा	डॉ० त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, कानपुर
देखा, सोचा, समझा	श्री यशपाल	विप्लव प्रकाशन, लखनऊ
वैष्णव धर्म	,, परशुराम चतुर्वेदी	विवेक प्रकाशन, प्रयाग
आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त	डॉ० एस० पी० खत्री	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
एकाकी	सीताराम गोयल	प्राची प्रकाशन, कलकत्ता
Psychological studies in Rasa:	डॉ० राकेश गुप्त	(स्वतः लेखक द्वारा प्रकाशित)
ठण्डा लोहा	डॉ० धर्मवीर भारती	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
नव-निबन्ध	श्री परशुराम चतुर्वेदी	लोक-सेवक प्रकाशन, काशी
राख का स्तूप	,, लक्ष्मीकान्त वर्मा	सावी प्रकाशन, प्रयाग
सन्त-काव्य	सम्पादक-परशुराम चतुर्वेदी	किताब महल, ,,
चाँदनी रात और अजगर	श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	नीलाभ प्रकाशन-गृह, ,,
बदलता युग	श्री महेन्द्र भटनागर	दीनानाथ बुकडिपो, इन्दौर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल (बिक्री विभाग) से प्राप्य कुछ नये प्रकाशन

आलोचनात्मक

हिन्दी साहित्य का इतिहास	—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
वेलिकृसन रुकमणी री	—आनन्दप्रकाश दीक्षित	५)

सांस्कृतिक : दार्शनिक : इतिहास

इन्सान की कहानी	—मुल्कराज आनन्द	२॥)
कला	—हंसकुमार तिवारी	५)
सौन्दर्य शास्त्र	—हरद्वारीलाल शर्मा	३)
खण्डहरों का वैभव	—मुनिकान्त सागर	६)
आधुनिक यूरोप का इतिहास	—शेविल	१०॥)

उपन्यास

देश की हत्या	—गुरुदत्त	५॥)
नीलम की अँगूठी	—विभूतिभूषण मुखोपाध्याय	४)
दो दुनिया	—मन्मथनाथ गुप्त	५॥)
निशा गीत	—अनन्त गोपाल शेवड़े	३)

नाटक

अमरबेलि	—हरिश्चन्द्र खन्ना	३)
श्री चन्द्रावली नाटिका	—सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
भारत-दुर्दशा	—सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)

कहानियाँ

मेरा बेटा : मेरा दुश्मन	—ख्वाजा अहमद अब्बास	३॥)
अपने राज : अपने आदमी	—रामकृष्ण	२)
नीली चिंगारियाँ	—रूसी कहानियाँ	२)
मलयानिल	—मलयालम की कहानियाँ	२)
कुछ पैसे	—रामसरन शर्मा	१॥)

कविता

बदलता युग	—महेन्द्र भटनागर	१॥)

दर्शन

नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय	—ह्वीलराइट	५)
भारतीय धर्म और दर्शन	—मिश्रबन्धु	१॥)

यात्रा-विवरण

अरे यायावर : रहेगा याद	—अज्ञेय	६)
आखिरी चट्टान तक	—मोहन राकेश	२॥)
लोहे की दीवार के दोनों ओर	—यशपाल	७)

कोष

आंगल हिन्दी पर्याय शब्द-कोष	—गोपीनाथ श्रीवास्तव	५)

विविध

भारतीय व्यापार का इतिहास	—कृष्णदत्त वाजपेयी	७)
अन्तिम यात्रा	—गुरुदत्त	१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना-अंक की रूप-रेखा

प्रस्तुत अंक से 'आलोचना' अपना दूसरा वर्ष समाप्त कर रही है। अगला अंक हमारे तीसरे वर्ष का प्रवेशांक होगा। पूर्व घोषणा के अनुसार यह अंक 'आलोचना-विशेषांक' होगा। इस अंक की योजना बनाते समय सम्पादकों के सामने यह सिद्धान्त स्पष्ट रहा है कि समीक्षा-शास्त्र अपने में निस्संग और निरपेक्ष न होकर समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, सौन्दर्य-शास्त्र, दर्शन, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के सिद्धान्तों से प्रभावित होता है, अतः सम्पूर्ण मानवीय चिन्तन में उसकी सापेक्ष स्थिति का विचार किये बिना उसे अपने में सम्पूर्ण मान लेना या ज्ञान की किसी एक ही शाखा से उसे पूर्णतया नत्थी कर देना अवैज्ञानिक और एकांगी है। साथ ही भारतीय समीक्षा ने मध्यकाल में विकसित होने वाली यूरोपीय तथा एशियायी समीक्षा-पद्धतियों से भी पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है, यह भी उपेक्षणीय नहीं। इस अंक में निम्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेख रहेंगे :

१. दार्शनिक-चिन्तन और समीक्षा-पद्धतियों का मूलाधार। साहित्य-समीक्षा का समाज-शास्त्रीय पक्ष। इतिहास की व्याख्याएँ और समाज-दर्शन। मनोविज्ञान की प्रगति का समीक्षा-पद्धति पर प्रभाव। सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र। अभिरुचि, प्रभाव और समीक्षा। साहित्य के इतिहास-निर्माण के सिद्धान्त। पाठालोचन के सिद्धान्त।

२. यूनानी समीक्षा-पद्धति और उसकी परम्परा। पाश्चात्य यूरोप के समीक्षा-निकाय। आधुनिक अँग्रेजी समीक्षा। मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी आन्दोलन। चीनी परम्परा और माओ का साहित्य-दर्शन। ईरानी साहित्य-शास्त्र और उसका भारतीय साहित्य पर प्रभाव।

३-क. भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधार और आदर्श। भारतीय समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों का क्रमिक विकास। रस-सिद्धान्त का दार्शनिक आधार। ध्वनि-सिद्धान्त और उसका समन्वयवादी दृष्टिकोण। काव्य-शिक्षा-ग्रन्थों की परम्परा। संस्कृत-व्याख्या-पद्धति का क्रम-विकास। साहित्य-शास्त्र पर शैव, बौद्ध और वैष्णव प्रभाव। शास्त्रीय पद्धति के अतिरिक्त लोक-परम्परा। लोक-साहित्य के काव्य-रूप और काव्य-सिद्धान्त।

३-ख. हिन्दी की मध्यकालीन आचार्य-परम्परा और रीति-ग्रन्थ। हिन्दी रीति-शास्त्र और उसकी पृष्ठभूमि। संक्रान्ति-काल : नये मूल्यों का प्रवेश और पुरानी सीमाएँ। द्विवेदी-युग के समीक्षात्मक मानदण्ड। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का समीक्षात्मक दृष्टिकोण। शुक्लजी की परम्परा। गुलाबराय और उनका वृत्त। हजारीप्रसाद द्विवेदी : एक अध्ययन। छायावादी साहित्य-दर्शन। प्रगतिवादी नीति और समीक्षात्मक गतिविधि। प्रयोगवाद का वाद। उर्दू-आलोचना की रूप-रेखा। मराठी में साहित्य-शास्त्र के निर्माण की नई दिशा। बंगला के समीक्षा-निकाय और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ।

४. प्रतीक-पद्धति और प्रतीकवाद। अति-यथार्थवाद के साहित्यिक सिद्धान्त। 'अस्तित्व' की समस्या और साहित्य-चिन्तन। टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त। आई० ए० रिचार्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त। मार्क्सवाद और काडवेल। अरविन्द-साहित्य-दर्शन।

५. पाश्चात्य मनोविज्ञान और रस-शास्त्र। रस-सिद्धान्त और मार्क्सीय समीक्षा-दृष्टि। रस-सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन। सौन्दर्य-शास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण। हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र। भविष्यत्-साहित्य-दर्शन।

—प्रकाशक, आलोचना

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फैज बाजार दिल्ली के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादन डॉ॰ रघुवंश
समिति डॉ॰ व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही
सहकारी सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'

आलोचना

र
८४
दि३७ आ
अंक-८, प्र

...में गतिरोध	सम्पादकीय
...य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या	शम्भूनाथसिंह
...नी' की कथा	पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
	डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी
...ना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड	डॉक्टर रामरतन भटनागर
उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना	डॉक्टर एजाज़ हुसेन
प्राकृत अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव	डॉक्टर रामसिंह तोमर
भविष्यत्-साहित्य	पॉल वेलरी
समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि	आई॰ ए॰ एक्स्ट्रॅस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

जकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ालय, हरिद्वार

त्रैमासिक आलोचना

...अंक ४ पूर्णाङ्क ८ जुलाई १९५३

वार्षिक मूल्य १२) एक अंक ३)

सूची

▲**सम्पादकीय**

—साहित्य में गतिरोध १

▲**निबन्ध**

—महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या :
शम्भूनाथसिंह --- १०

—'कामायनी' की कथा :
पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी २१

—रचना के स्रोत और समीक्षा के मानद... :
डॉक्टर रामरतन भटनागर ---

—उर्दू कविता में राष्ट्रीय भावना :
डॉक्टर एजाज़ हुसेन --- ४२

▲**प्रबन्ध-सार**

—प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव :
डॉक्टर रामसिंह तोमर --- ५२

▲**अनुशीलन**

—हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र :
डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा --- ६७

—जायसी की भूल :
चन्द्रबली पांडे --- ६८

—'रामचरितमानस' का रचना-क्रम :
डॉक्टर कामिल बुल्के --- ७१

▲**प्रस्तुत प्रश्न**

—भविष्यत्-साहित्य :
पॉल वेलरी --- ७५

—भविष्यत्-काव्य :
अरविन्द --- ७६

मूल्यांकन

—संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो :
डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त -- ८८

—महाकवि सूरदास :
डॉक्टर भगीरथ मिश्र --- ९२

—म...यान :
प्रभाकर माचवे --- ९५

—कला : एक नवीन दृष्टिकोण :
राय आनन्द कृष्ण --- ९७

—प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन :
बैजनाथसिंह 'विनोद' -- १०१

—व्यक्ति और वाङ्मय :
डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय १०२

—विभावरी :
पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' -- १०४

—मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह :
अक्षयचन्द्र शर्मा --- १०५

—प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर :
डॉक्टर रघुवंश --- १०७

—नये मोड़ :
डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान -- १११

—प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार :
लक्ष्मीकान्त वर्मा --- ११३

▲**प्रादेशिक साहित्य**

—तैलुगु प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ :
हेमलता जनस्वामी --- १२१

▲**अवलोकन**

—समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि :
आई० ए० एवर्ड्स --- १२५

▲**परिचय** --- १२९

▲**प्राप्ति स्वीकार** --- १३५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८५४२३

आलोचना

सम्पादकीय

साहित्य में गतिरोध

पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी-साहित्य की समकालीन प्रगति में गतिरोध की बात प्रायः विभिन्न प्रसंगों में, विभिन्न निकायों के आलोचकों द्वारा कही जाती रही है। साहित्य में गतिरोध के कई अर्थ हो सकते हैं। यह सम्भव है कि साहित्य-सृजन का एक दौर ऐसा हो जब प्रचुर मात्रा में साहित्य का प्रकाशन हो रहा हो, जनता उसे पढ़ रही हो, किन्तु उस प्रसार और प्रचार के बीच भी साहित्य का स्तर सतही तथा उसकी दृष्टि एकांगी हो गई हो, उसमें मानवीय स्थितियों के गहन आध्यात्मिक संकट और मर्म-स्पर्शी पीड़ाओं को छूने की शक्ति न रह गई हो (जैसे टाल्सटाय, डास्टावस्की, चेखव और गोर्की के बाद का रूसी कथा-साहित्य), या साहित्य के सृजन पर व्यावसायिकता का भयानक प्रभाव पड़ रहा हो और फलस्वरूप उच्च स्तर की कृतियों के सृजन की अपेक्षा सस्ती और विकृत जन-रुचि को सन्तुष्ट करने वाला साहित्य आकर्षक ढंग से इस तरह सजा दिया गया हो कि उच्च स्तर के साहित्य की मूल सरस्वती-धारा विलुप्त हो रही हो, (जैसे जेम्स टी० फैरेल, स्टीनबेक, फाकनर, फिट्ज़जेराल्ड की पीढ़ी के बाद का अधिकांश अमरीकन साहित्य), या शिल्प की सूक्ष्मताओं और पच्चीकारियों से समन्वित किन्तु एक सुस्पष्ट भाव-पथ से विचलित, विक्षुब्ध, चौंकाने वाला, शिल्प और चिन्तन के अस्थायी फैशनों को अधिक महत्त्व देने वाला प्रभावयुक्त किन्तु लक्ष्य-भ्रष्ट साहित्य (जैसे इस शती का बहुत-सा अतियथार्थवादी, अस्तित्ववादी तथा अन्यथा विशृङ्खल फ्रांसीसी साहित्य), ये सभी साहित्य के गतिरोध या गति-विभ्रम के स्पष्ट उदाहरण हैं।

क्या हिन्दी में इस प्रकार के किसी गतिरोध या गति-विभ्रम के कीटाणु दीख रहे हैं? यदि हाँ, तो क्या वे कीटाणु इतने प्रबल हैं कि हमारी जीवनदायिनी परम्परा के सशक्त तत्त्वों को पराजित कर सकने में समर्थ हो गए हैं? या यह गतिरोध का नारा केवल पाश्चात्य साहित्य के विषय में कही जाने वाली उक्तियों का भारतीय अनुकरण-मात्र है; जो भारतीय साहित्य—विशेषतया हिन्दी-साहित्य—की परिस्थिति और गति-विधि पर विचार किये बिना उस पर लागू कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाता है। इस प्रसंग में हमें हिन्दी के आधुनिक साहित्य की अब तक की प्रगति पर एक दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

हिन्दी का आधुनिक युग लगभग सौ वर्षों का है। इस छोटी-सी अवधि में हिन्दी ने जितनी मंजिलें तय की हैं और अपने क्षेत्र को जिस तेजी के साथ विकसित किया है, वह अपने में ही एक आश्चर्यजनक वस्तु है। हिन्दी के साहित्यकारों के सामने न केवल नई भावनाओं, विचारों और शैलियों के ही व्यक्त करने की समस्या थी, बल्कि उसके साथ ब्रजभाषा के स्थान पर एक नई साहित्यिक भाषा की प्रतिष्ठा का भी महत्त्वपूर्ण कार्य था, जो प्रवाह, सामर्थ्य और गहराई में सांस्कृतिक और सामाजिक पुनर्जागरण की व्यापक और वेगवती चेतना का वहन कर सके। यह सत्य है कि प्रेरणा और गौरव के लिए हमारे पीछे अवधी तथा ब्रजभाषा के महान् आचार्य और मनीषी थे, परन्तु आज की प्रगति का आकलन करते समय हम यह नहीं भूल सकते कि (जहाँ तक साहित्य के वर्तमान स्वरूपों का सम्बन्ध है) सौ वर्ष पूर्व हमने लगभग शून्य से ही प्रारम्भ किया था।

इस दृष्टिकोण से देखने पर प्रगति का बिलकुल दूसरा ही रूप दिखलाई पड़ता है। आज के साहित्यिक वातावरण और साहित्य-सृजन में कहीं-कहीं जो घुमाव और पेंच आ गए हैं, उनसे हताश होने अथवा घबराने का कोई कारण नहीं दीखता। चौरस भूमि पर फैलने वाले पानी की तरह साहित्य की वे उपधाराएँ भी, जो सीधी रेखा में नहीं बह रही हैं, सम्पूर्ण गति का अंग ही मालूम पड़ती हैं। ऐतिहासिक स्थिति की इस विशिष्ट भिन्नता के कारण 'गतिरोध', 'अन्धकार' अथवा 'अराजकता' की धारणाएँ उस अर्थ में हिन्दी में लागू नहीं की जा सकतीं, जिस प्रकार इनका प्रयोग समकालीन यूरोपीय साहित्य में होता है। यूरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी में पुनर्जागरण की जो विशाल लहर उठी थी वह आज उतार पर है। वहाँ के सांस्कृतिक जीवन में आज उस लहर की छितरी हुई अन्तिम बूँदें ही झलकती हैं। इसके विपरीत आज भारत ही नहीं, प्रत्युत सारे एशिया के सामने नई चेतना और नई आकांक्षाओं का प्रशस्त पथ है। हमारा झुटपुटा प्रभात का है, संध्या का नहीं।

आधुनिक हिन्दी-भाषा और साहित्य में निस्सन्देह वह नूतन प्रभात की स्फूर्ति और ताजगी निरन्तर प्रतिफलित होती रही है। भारतेन्दु युग, छायावाद का प्रारम्भिक काल और युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य में नई कविता के नये उत्थान में हम हिन्दी की अदम्य प्रगति के तीन महत्त्वपूर्ण चरणों का आभास पाते हैं। समकालीन वातावरण का विश्लेषण करते हुए हम एक सर्वथा नवीन तत्त्व के उदय से परिचित होते हैं। वह है हिन्दी के विभिन्न केन्द्रों में शक्तिशाली साहित्यिक गोष्ठियों का उदय। साहित्य के विकास में साहित्यिक वातावरण का एक विशेष महत्त्व होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्स और अन्य पाश्चात्य देशों की साहित्यिक प्रगति में इन गोष्ठियों का एक महत्त्वपूर्ण योग रहा है। किन्तु हिन्दी में इनकी एक और भी विशेषता है। फ्रेञ्च, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाएँ राजधानी में केन्द्रित भाषाएँ हैं। इसीलिए पेरिस, बर्लिन और लन्दन का वातावरण इन साहित्यों की गति-विधि को अनुशासित करता रहता है। इसके लाभ भी हैं और हानि भी। केन्द्रित भाषा में विशेषीकरण और परिमार्जन की गति तीव्र होती है। इससे भाषा में निखार अवश्य आ जाता है परन्तु साथ ही समरसता और सीमित क्षेत्र के कारण पतनोन्मुख पच्चीकारी का भी खतरा रहता है। उर्दू इसका एक दुःखद उदाहरण है। किन्तु आज हिन्दी का साहित्य-सृजन किसी एक नगर में केन्द्रित नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। दिल्ली, लखनऊ, प्रयाग, काशी, पटना, जबलपुर, हैदराबाद, बम्बई हिन्दी की कितनी ही राजधानियाँ हैं। इनमें से अधिकांश स्थानों में सांस्कृतिक और साहित्यिक गोष्ठियों का विकास हुआ है। इनका विशेष महत्त्व इसलिए है कि विभिन्न राजनीतिक उलझावों और दलगत संकीर्णताओं से उबरकर इन्होंने साहित्य के सृजन-पक्ष, उदार चिन्तन और सहानुभूति का आश्रय ग्रहण किया है। नूतन सृजन में प्रवृत्त पुराने साहित्यकार, या पिछले दिनों प्रकाश में आने वाले नूतन साहित्यिक हस्ताक्षरों में से बहुत से शनिवार समाज, नकेन गोष्ठी, लखनऊ लेखक-संघ, परिमल और उसकी शाखाएँ, चेतना, साहित्य-सहकार, सुहृद-संघ, साहित्यिक संघ आदि से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध रहे हैं। इन गोष्ठियों का उदय पिछले दशक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक घटना है। इन्होंने न केवल नई और पुरानी पीढ़ियों के लेखकों को निकट लाने का कार्य सम्पन्न किया, वरन् नये लेखकों को उनके विकास के लिए घातक संकीर्णता से भरे हुए वातावरण से मुक्ति देकर एक ऐसी भावभूमि पर ला खड़ा किया जहाँ वे अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित रखते हुए भी सामाजिकता को आत्मसात् कर सकें। यही नहीं वरन् उन्होंने उनके साहित्य को इस प्रकार आत्मकेन्द्रित और निर्वासित नहीं बनने दिया कि धीरे-धीरे वे अपनी भाषा की प्रेषणीयता भी खो बैठते; जैसा पाश्चात्य लेखकों की महायुद्धों के बीच वाली पीढ़ी के साथ हुआ।

भाषा और साहित्यिक वातावरण के विस्तार के दबाव ने किस प्रकार हमारी गति को प्रभावित किया है यह बात वर्तमान नई कविता के एक पक्ष पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगी। कई क्षेत्रों से गतिरोध का सबसे बड़ा आरोप नई कविता—विशेषतः प्रयोगशील कविता पर लगाया जाता है। प्रयोगशील कविता कई अर्थों में टेकनीक और अभिव्यंजना का आन्दोलन है। अंग्रेजी साहित्य में इसकी सीमा-रेखा एक ओर आस्कर वाइल्ड को छूती है, दूसरी ओर टी० एस० इलियट और डिलान टामस को। इस प्रकार नई कविता की तुलना अंग्रेजी के पतनशील (decadent) और कुण्ठित व्यक्तित्व के साहित्य से की जाती है। परन्तु अंग्रेजी पतनशील साहित्य और बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविता ने जहाँ भावभूमि को संकुचित किया वहीं भाषा को भी कुछ अंशों में कृत्रिम और संकुचित बना दिया। इसके साथ ही भावना और शब्दों में एक ऐसा असामंजस्य खड़ा हो गया कि भाषा के तार-तार बिखरते हुए जान पड़ने लगे। आज भी फ्रेञ्च और अंग्रेजी साहित्यकारों के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि तमाम पच्चीकारी और नारेबाजी के बाद शब्द अर्थहीन हो गए हैं। कारण यह है कि टेकनीक का यूरोपीय आन्दोलन अधिक-से-अधिक केन्द्रगामी होता गया है। इसकी परिणति रहस्यात्मकता, विशेषीकरण, और व्यक्तिगत शब्दावली (Personal Vocabulary) में हुई। इतने पर भी सन्तोष न हुआ तो टी० एस० इलियट ने अपनी कविता के एक-एक पृष्ठ में पचास पुस्तकों के सन्दर्भ पिरोये, एजरा पाउण्ड ने अपने सर्गों में दुनिया-भर की भाषाओं की प्रदर्शिनी सजाई और कमिंग्ज ने तो शब्दों का पोस्टमार्टम ही कर डाला। जन-साधारण की वाणी इस अंधेरे कमरे में पहुँचकर स्वगत-भाषण और उसके बाद नींद की बड़बड़ाहट बन गई। इसी प्रकार पतनोन्मुख ब्रजभाषा की कविता और उर्दू में दाग़ की गजलों की सीमित भाषा भी गतिरोध की एक आवश्यक परिणति की ओर संकेत करती है। इसके विपरीत हिन्दी की युद्धोत्तरकालीन नई कविता की भाषा में लोक-जीवन में प्रचलित, जीवन्त तथा समृद्ध शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग एक मुख्य विशेषता है। प्रयोगशील कवियों ने जीवित शब्दावली में वृद्धि नहीं की है, ऐसा सम्भवतः अत्यन्त एकांगी और पक्ष-पातपूर्ण समीक्षक भी नहीं कहेंगे। शब्द और अर्थ के विषम असामंजस्य की समस्या हमारे यहाँ है ही नहीं, क्योंकि हिन्दी की ऐतिहासिक भूमिका यूरोपीय परम्परा से कुछ भिन्न है। प्रयोग और नये पदों की खोज की जिस लालसा ने अंग्रेजी और फ्रेञ्च कवियों के दायरे को सीमित कर दिया उसीने हिन्दी के कवियों को बोलियों की ओर मोड़ा और भाषा का परिष्कार किया।

भाषा का यह विकास केवल कविता के क्षेत्र में ही हुआ हो ऐसी बात नहीं है। हिन्दी-गद्य के परिष्कार में भी कई नूतन प्रवृत्तियों का आभास मिला है। सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी कृति से किसी का कुछ मतभेद क्यों न हो किन्तु 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय की भाषा की परिपक्व लय, जैनेन्द्र के 'व्यतीत' में भाषा की सशक्त सादगी, रुद्र की 'बहती गंगा' में लोक-भाषा की शब्दावली और जीवित मुहावरे, लक्ष्मीनारायणलाल के 'बया का घोंसला और साँप' की भाषा का खेतों की मिट्टी-जैसा सोंधापन, अमृतलाल नागर के 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के एक मुहल्ले की सजीव बोल-चाल, इलाचन्द्र जोशी के नये उपन्यासों में भाषा के पिछले उलझाव के स्थान पर सहज प्रवाह—ये सब हिन्दी-गद्य के नये मोड़ के परिचायक हैं। नये खेवे के व्यंगकारों की कृतियाँ इस बात की परिचायक हैं कि हिन्दी अब सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यंजनाओं के लिए समर्थ होती जा रही है। व्यंग भाषा की अत्यन्त परिमार्जित अवस्था में ही सम्भव है और उसका निरन्तर विकास हमारी भाषा की बढ़ती हुई समृद्धि का प्रमाण है।

सम्भव है कि कुछ लोग, जिनका दृष्टिकोण साहित्यिक न होकर अन्यथा हो, भाषा सम्बन्धी इस प्रगति के महत्त्व को न स्वीकार करें, किन्तु भाषा को सँवारने का उत्तरदायित्व गौण नहीं है। जिस प्रकार मूर्तिकार केवल अपनी कल्पना को ही नहीं सँजोता वरन् उस मिट्टी के रासायनिक तत्त्वों का भी परीक्षण कर लेता है, जिससे उसे मूर्ति गढ़नी है, उसी प्रकार भावभूमि के विकास के अतिरिक्त भाषा के विकास का प्रयास साहित्यिक प्रगति की दिशा में किया जाने वाला प्रयास है। हिन्दी के जिस भी लेखक का योग पिछले सौ वर्ष की इस नई साहित्यिक भाषा को सँजोने, सँवारने, निखारने और ढालने में रहेगा, हमारे साहित्य की आधुनिक भूमिका में वह प्रगतिशील ही कहलायगा। इस स्पष्ट तथ्य को 'फार्मलिज़्म' कहकर वे ही ठुकरा सकते हैं जिन्हें साहित्य की सूक्ष्म प्रकृति का परिचय नहीं है।

भाषा के बाद अब भावभूमि का प्रश्न आता है। आज गतिरोध-सम्बन्धी विवाद का केन्द्र भी यही है। इस सम्बन्ध में दी जाने वाली सारी दलीलों का तात्पर्य यह है कि उच्च साहित्यिक सृजन की सम्भावनाएँ समाप्तप्राय हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रतिपाद्य यूरोपीय समीक्षा में स्वयंसिद्ध नियमों की भाँति प्रचलित हैं, जिनका सहारा हमारे समीक्षक भी आँख मूँदकर लेते हैं। उदाहरणार्थ एक तर्क यह कि समाज में संकट एवं गतिरोध उत्पन्न हो गया है अतः इससे सिद्ध होता है कि साहित्य में भी (जो सामाजिक वातावरण से बँधा हुआ है) यह गतिरोध अनिवार्य है। सामाजिक गतिरोध एवं संकट के तथाकथित समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर हम यदि ध्यान न भी दें तो भी यह तर्क बड़ा ही विचित्र और विस्मयजनक है। इस प्रकार का यान्त्रिक तर्क कितना भ्रामक है, यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जर्मन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य के सम्बन्ध में एंगेल्स के निम्न लिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :

"पिछली शताब्दी के अन्त में जर्मनी की यही दशा थी। समूचा समाज सड़ाँध और जुगुप्साजनक क्षय से ग्रसित पिण्ड-मात्र था। किसी को चैन न था। देश का व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और कृषि शून्य हो गए थे। किसानों, व्यवसायियों और वस्तु-निर्माताओं पर व्यापारिक मन्दी और खून चूसने वाले शासन का दुहरा दबाव पड़ रहा था। सामन्तवर्ग का अनुभव था कि अपने नीचे के वर्गों को चूसने के बावजूद भी उनकी आय उनके बढ़ते हुए व्यय की बराबरी कर पाने में असमर्थ थी। न जनसाधारण के विचारों को उत्प्रेरित करने का कोई साधन, न मुक्त समाचार-पत्र, न सामाजिक भावना, और न दूसरे देशों के साथ बढ़ता हुआ व्यापार ही—कुछ भी नहीं था सिवाय नीचता और स्वार्थपरायणता के—एक निम्न, कुटिल और पतित दुकानदारी की भावना के, जो समस्त लोक-जीवन में व्याप्त हो गई थी। हर वस्तु जर्जर हो गई थी, टूटकर बिखर रही थी, तेजी के साथ खंडहर होती जा रही थी और किसी भी शुभ परिवर्तन की रंच-मात्र भी आशा नहीं थी, यहाँ तक कि राष्ट्र में इतनी भी शक्ति बाकी नहीं रह गई थी जो मृत प्रतिष्ठानों की सड़ती हुई लाश को ठोकर मारकर बाहर तो कर सके।

बेहतरी की एक-मात्र आशा देश के साहित्य में दिखलाई पड़ी। यह लज्जाजनक राजनीतिक और सामाजिक युग साथ-ही-साथ जर्मन-साहित्य का महान् युग भी था। सन् १७५० तक जर्मनी के लगभग सभी महान् आचार्यों का जन्म हो चुका था—गेटे और शिलर-जैसे कवि, कांट और फ़िक्टे-जैसे दार्शनिक और मुश्किल से बीस ही वर्ष बाद जर्मनी का अन्तिम महान् तत्त्ववेत्ता हीगेल।'[1]

एंगेल्स के इस कथन से स्पष्ट है कि तत्कालीन सामाजिक संकट साहित्य में गतिरोध के रूप में ही अपने को प्रतिफलित करे। यह तान्त्रिक अर्थवादी दृष्टिकोण है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण नहीं। कई स्थलों पर मार्क्स ने यह संकेत किया है कि मानवीय चेतना आर्थिक परिस्थितियों से निर्मित होती है किन्तु फिर वह उनको अनुशासित भी करती है, उनके विरुद्ध संघर्ष भी करती है और उनका पुनर्निर्माण भी करती है। इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए लेखक मार्क्सवादी ही हो, यह आवश्यक नहीं। साहित्यकार में एक सहज मानवीय संवेदना होती है, जो लोक-जीवन में व्याप्त विषाद, खिन्नता, पीड़ा और कातरता को ग्रहण करके उसे वाणी देती है। समाज में चाहे जितना संकट हो किन्तु साहित्य में संकट तभी आता है जब साहित्यकार वेदना को आत्मसात् करने में असमर्थ हो जाता है, जब उसका लोक-संवेदना से आन्तरिक सम्बन्ध-विच्छिन्न हो जाता है, जब उसकी सामाजिक जड़ें उखड़ जाती हैं और जब वह एक छोटे-से दायरे में सीमित हो जाता है। देखना यह है कि क्या हिन्दी में कुछ ऐसे लेखक हैं जो इस दायरे में आबद्ध हो गए हैं? यदि हाँ, तो यह गतिरोध उनका गतिरोध है, व्यापक हिन्दी-साहित्य का नहीं।

पिछले दस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि हिन्दी-लेखकों का एक छोटा-सा वर्ग साहित्य की व्यापक जनवादी चेतना का आधार छोड़कर दिनों-दिन एक सीमित दायरे में बँधता चला

---

१. प्रो० एंगेल्स—'द नार्दर्न स्टार', २२ अक्तूबर १८४५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया।[1] इसका कारण यह था कि वह प्रगतिशील न होकर दलानुशासित था, व्यापक सामाजिक मूल्यों के बजाय किसी विशेष दल की सामयिक नीति को साहित्य-सृजन का आधार मान बैठा था। जो भी उसके सीमित दायरे में नहीं आ सका, उसका उसने विरोध किया और परिणामस्वरूप हिन्दी के व्यापक जनवादी साहित्यिक वर्ग से विच्छिन्न, अपने ही वृत्त में सीमित वह एक छोटा-सा गुट रह गया, जिसमें ले-देकर सात-आठ लेखक थे बस।[2]

हिन्दी की व्यापक प्रगतिशील निर्माण-परक धारा से इनके कटकर अलग हो जाने के मूल में एक राजनीतिक विरोधाभास है। जिस दल की राजनीति इनकी प्रेरणा रही है उसकी व्याख्या के अनुसार गांधी के नेतृत्व में चलने वाला स्वातन्त्र्य-संग्राम भारतीय जनता का स्वातन्त्र्य-संग्राम न होकर भारतीय पूँजी का स्वातन्त्र्य-संग्राम था। उपनिवेशों अथवा अर्द्ध-उपनिवेशों में चलने वाला वास्तविक स्वातन्त्र्य-संग्राम उसी दल के नेतृत्व में लड़ा जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु अगस्त सन् १९४७ में जो कुछ हुआ उसमें इस दल का कहीं नाम-निशान भी न था। अतः तर्क उन्हें यह बताता है कि भारत आजाद हुआ ही नहीं। किन्तु उनके इस भ्रमपूर्ण अयथार्थ तर्क ने उन्हें राजनीति से तो अपदस्थ किया ही, चूँकि उनके लेखक भी राजनीति से बँधे थे अतः वे साहित्य से अपदस्थ हो गए: "जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में हम देश के स्वाधीनता-आन्दोलन के अन्दर, जिसका नया दौर १५ अगस्त सन् १९४७ के बाद शुरू हुआ, अपना राजनीतिक असर नहीं क़ायम कर सके, उसी तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी हम अपने जनवादी, साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी साहित्य-आन्दोलन के अन्दर अपना असर नहीं क़ायम कर सके।"[3]

उन्होंने अपनी यह स्थिति महसूस की। आत्मालोचन के नाम पर उनमें से दो-चार के जो साहसपूर्ण वक्तव्य आये, उनमें उनके दर्द, उनकी निराशा और उनकी अमूल्य प्रतिभा के लगातार दुरुपयोग की बड़ी वेदनापूर्ण झलक मिली। वे एक छलावे में घिर गए थे। वह सारा वातावरण साहित्य-निर्माण के लिए घातक था और महत्त्वाकांक्षाओं तथा प्रतिद्वन्द्विताओं से विषाक्त था। इस सम्बन्ध में श्री पूरनचन्द्र जोशी ने लिखा है: "महत्त्वाकांक्षी या ना-समझ लोगों को उत्साहित किया गया, या उनका उपयोग किया गया कि वे इन संस्थाओं के नेताओं और अधिकांश कार्य-कर्ताओं को नैतिक रूप से जर्जर करें।"[4] लेकिन केवल नीति बदलना पर्याप्त नहीं था। उनकी नीति का आधार, इतिहास के एक बड़े तथ्य का निषेध ही था। वे भारतीय स्वतन्त्रता को सत्य नहीं स्वीकार करना चाहते थे।

---

१. हमारा आधार बिलकुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये और पुराने हिन्दी-लेखकों से कटकर अलग जा पड़े हैं और महज़ एक गुट बनकर रह गए हैं......यह हमारी वामपक्षी संकीर्णता ही थी जिसके कारण हम आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माण की मुख्य धारा से कटकर अलग जा पड़े। (अमृतराय—'साहित्य में संयुक्त मोर्चा'; पृष्ठ ८, ९)

२. आज समूचे हिन्दी-साहित्य के पैमाने पर प्रगतिशील लेखक का मतलब होता है रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, पहाड़ी, अमृतराय, नागार्जुन, केदार, शंकर शैलेन्द्र......और बस! (वही—पृष्ठ ९)

३. वही—पृष्ठ ३९

४. 'फॉर ए मास पालिसी'—पृष्ठ १०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम यह हुआ कि एक ओर वे किसी भावी कल्पित क्रान्ति पर अपनी आस्था जमाना चाहते थे, दूसरी ओर राष्ट्रीय जीवन में उनके नेताओं की विफलता और इतिहास तथा साहित्य से उखड़ती हुई उनकी जड़ें, इन दोनों ने उनके मन में एक भयानक अन्तर्विरोध उत्पन्न कर दिया था। इस अन्तर्विरोध का शमन करने के लिए भी उनके सामने एक निषेधात्मक धारणा थी—यथार्थ का निषेध, भारतीय जनवादी संग्राम की विजय का निषेध; और केवल निषेध पर आधारित रहकर आज तक कोई भी, कभी भी स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर पाया है।

इस निषेधात्मक स्थिति से खिन्न होकर हिन्दी की प्रमुख निर्माणात्मक साहित्य-धारा से सम्बद्ध होने के लिए उन्होंने 'न्यूनतम कार्यक्रम' का सुझाव रखा, जिसके आधार पर वे अन्य बहुसंख्यक जनवादी लेखकों के साथ मिलकर अपने गतिरोध से मुक्त हो सकें। लेकिन साहित्य में 'न्यूनतम कार्यक्रम' को वह सफलता नहीं मिल सकती जो राजनीति में कभी-कभी मिल जाती है। यहाँ 'न्यूनतम कार्यक्रम' के अर्थ हैं दो-चार ऐसे विषय, या दो-चार ऐसी मान्यताएँ, जिन पर सब एकमत हो सकें। लेकिन विराट् मानव को, अगणित दृष्टियों से मापने वाला उच्च स्तर का, विविध रूपों में प्रस्फुटित होने वाला स्थायी साहित्य दो-चार ऐसे विषयों में सीमित नहीं हो सकता जो किसी मीटिंग में प्रस्तावों द्वारा मंजूर कर लिए गए हों। यह धारणा जितनी हास्यास्पद है, यह अवस्था उतनी ही दयनीय। दो वर्षों के आत्मालोचन के बाद भी उनका संकट ज्यों-का-त्यों है। वे एक संकीर्णता से छूटते हैं तो दूसरी में जा उलझते हैं। श्री अमृतराय के कथन से हम सहमत हैं कि वे संख्या में बहुत नहीं हैं, किन्तु उनका संकट शायद सबसे तीखा और दर्दनाक है, और यह स्वाभाविक है कि रह-रहकर उन्हींके बीच से गतिरोध की आवाज उठे!

एक दूसरे प्रकार का गतिरोध उन लेखकों के मन में है जो सिद्धान्त, मान्यता, रचना, कर्म प्रत्येक दृष्टिकोण से प्रतिक्रियावादी हैं। इनमें से कुछ तो पुनरुत्थानवादी हैं। पुनरुत्थानवाद किसी देश के पुनर्जागरण-युग का पहला चरण होता है। प्रारम्भ में सांस्कृतिक नवजीवन के लिए सहायक होता है, परन्तु बाद में रास्ते की अड़चन बन जाता है। अर्द्ध शताब्दी पूर्व जो नई चेतना देश में आई, आज उसमें पाश्चात्य-पूर्वीय सांस्कृतिक धाराएँ पचकर एक हो गई हैं। आज जब इसका अवसर आया है कि हिन्दी का वर्तमान साहित्यकार इस संकुचित भूमि को छोड़कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सन्तुलित दृष्टिकोण के आधार पर निर्माण करे तो निश्चय ही यह निरर्थक विवाद, साहित्य-सृजन की शक्ति को क्षीण करेगा। वस्तुतः यह दृष्टिकोण नये सिरे से साहित्य में नये रास्तों की खोज के विरुद्ध ही है। जाहिर है कि इन्हें न अतीत ही मिल पाता है, न वर्तमान ही; और भविष्य की ओर तो ये आँखें उठाकर देखते भी नहीं। इनके अतिरिक्त कुछ अति आधुनिक ऐसे भी हैं, जिन्होंने वास्तविकता के आगे घुटने टेक दिए हैं और व्यक्ति की मानसिक अस्वस्थता को ही सबसे उपादेय सत्य स्वीकार कर चुके हैं। इनमें सोचने की क्षमता तो है, परन्तु इच्छा और साहस नहीं। भँवर की प्रतिक्षण नीचे ले जाने वाली गति ही इनके लिए आकाश की उड़ान है। यही वर्ग है, जो पाश्चात्य पतन-शीलता के सबसे निकट है।

परन्तु ये दोनों ही स्वर हिन्दी के प्रमुख स्वर नहीं हैं। इन दोनों के ऊपर विशाल निर्घोष की तरह फैलता हुआ हिन्दी के अधिकाधिक साहित्यकारों का एक तीसरा स्वर है, जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामने उचित प्रतिभा होने पर कोई गतिरोध नहीं है। इस स्वर में विविधता है, वैचित्र्य है और अपना-अपना अनुभूत सत्य है। किसी योजना में समन्वित 'म्यूज़िक कन्सर्ट' की तरह उनकी आवाज में प्रत्यक्ष अथवा प्रतिबाधित एक-सूत्रता नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है। फिर भी, कहीं दूर से गुज़रने वाले विशाल जुलूस के विभिन्न स्वरों में जो एक हल्का किन्तु निश्चित सामंजस्य होता है, वही इस व्यापक प्रगतिशील वर्ग की वाणी में है। इस वाणी का आधार किसी भी विशेष दल की चलायमान नीति न होकर भारतीय जनता का सामाजिक पुनर्निर्माण के प्रति वह महान् अभियान है जो आज एशिया, यूरोप, अमरीका और अफ्रीका के विशाल महाद्वीपों के समकालीन इतिहास को प्रभावित कर रहा है। इस वाणी का आधार हमारी वह महान् शान्तिवादी परम्परा है जिसने आज दोनों शिविरों के राष्ट्रों के सम्मुख एक नया नैतिक आदर्श प्रस्तुत किया है। इस वाणी का आधार भारतीय जनता का वर्तमान अभाव, पीड़ा, संकट, दारिद्र्य और दुःख की चेतना है और उससे मुक्त होने के लिए उसका जो प्रजातान्त्रिक प्रयास है, उसमें इन नये लेखकों की अटूट आस्था है। वे लोग, जो हिन्दी की इस नई चेतना का सही आकलन नहीं कर पाते, यह भूल जाते हैं कि आज हिन्दी में वह पीढ़ी उभरकर आई है जिसने सन् ४२ में विश्व के महान् साम्राज्यवादी षड्यन्त्र के विरुद्ध एक निरस्त्र साधनहीन क्रान्ति का आह्वान किया था। वही पीढ़ी आज दस वर्ष बाद अपनी परिपक्व लेखनी को भारतीय जन-संस्कृति के नव निर्माण के लिए अर्पित कर रही है। उसका अदम्य उत्साह निर्माणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। उसने क्रान्ति का पाठ पढ़ा है, किंतु रक्त-पात में अन्धी होकर मानव-मूल्यों का विस्मरण नहीं किया है।

वास्तव में आकलन में भूल तब होती है जब हम भारतीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति को यूरोपीय लेखकों की युद्धोत्तरकालीन मनोवृत्ति के समानान्तर सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। युद्ध को भारतीय जनता ने उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया, न उससे यथावत् उस रूप में प्रभावित ही हुई जिस रूप में यूरोप प्रभावित हुआ। हमारे लिए ४२ का विद्रोह, बंगाल का अकाल, पंजाब और नोआखाली का नर-संहार, स्वातन्त्र्य-प्राप्ति, भारत का बढ़ता हुआ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व और गांधी-विनोबा की वैष्णव राजनीति और भारतीय जनता का दुःख अधिक निकट के सत्य हैं जिन्होंने नई पीढ़ी की चेतना में जहाँ एक ओर सामाजिक और साम्प्रदायिक वैषम्य के प्रति पीड़ा जाग्रत की है, वहीं अपनी जनता के भविष्य के प्रति एक अदम्य आस्था और विश्वास भी जगाया है। यूरोपीय मध्यवर्ग या निम्नमध्यवर्ग की भाँति हूबहू हममें वह चारित्रिक अराजकता, अनास्था व्यक्तित्व का बिखराव आ गया है ऐसा कहना न केवल कुत्सित समाजशास्त्रीयता है, वरन् हद दर्जे की निराशावादिता है। साहित्यिक चेतना को इतिहास के मानदण्डों पर कसने वाले को यह तथ्य पूर्णतया हृदयंगम कर लेना चाहिए कि युद्ध के बाद का भारत आज़ाद, प्रजातान्त्रिक पद्धति का भारत है। निश्चय ही हम पूर्ण अनास्था, हताशा और भ्रम-विच्छेद के युग से नहीं गुज़र रहे हैं, हमारी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ी नहीं हैं वे और भी गहरी पैठ रही हैं, ऊपर की पुनरुत्थानवादी पर्त को तोड़कर अपनी संस्कृति के व्यापक जन-वादी और लोकपरक तत्त्वों तक पहुँच गई हैं। यूरोपीय अराजकता का आरोप हम पर करना अवैज्ञानिक है। हम फिर वही वाक्य दोहराना चाहेंगे कि हमारा झुटपुटा प्रभात का है, सन्ध्या का नहीं।

किन्तु इस नई आस्था ने इन लेखकों की आँखों के सामने किसी विभ्रममय, काल्पनिक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवैज्ञानिक स्वप्न-लोक का सृजन नहीं किया है। इस नई आस्था ने उन्हें एक नूतन यथार्थ के प्रति जागरूक बनाया है। वे अभाव से पीड़ित किन्तु राजनीतिक दासता से मुक्त भारतीय जनता की पीड़ा भी पहचानने का प्रयास कर रहे हैं और साथ ही उसकी प्रगति और उसकी मुक्ति में उनका अदम्य विश्वास भी है। यद्यपि यह भी ठीक है कि उन सब-की प्रतिक्रिया एकरूप नहीं है, क्योंकि वे दलानुशासित नहीं हैं। अभाव और प्रगति की इस मिली-जुली स्थिति से प्रत्येक साहित्य-कार अपने ढंग से, अपनी रुचि से सत्य और सौन्दर्य के तत्त्व ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। किसी में विद्रोह का स्वर तीखा है, किसी में निर्माण का। पर आस्थावान वे सब हैं। यही नहीं, वरन् उनकी आस्था उस क्षण के वर्तमान में भी सजीव है। वे भविष्य की किसी अघटित घटना की प्रतीक्षा में हाथ-पर-हाथ धरे नहीं-बैठे हैं। उनका विश्वास है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्रीय एकता और जनवादी संस्कृति के पुनर्निर्माण की जो नींव पड़ेगी उसका समय आज ही है, किसी परिकल्पित क्रान्ति के बाद नहीं। इन लेखकों का विश्वास है कि जनतन्त्र की स्थापना का जो प्रयोग हमारे देश में किया जा रहा है, तमाम दोषों के बावजूद भी वह शुभ है और सही रास्ता है। नये विकास की शक्तियों को पूरी तरह आगे बढ़ने का पूरा अवसर नहीं मिल पाया है। इसके कई सामाजिक और राजनीतिक कारण हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष हरगिज नहीं निकलता कि वे शक्तियाँ हैं ही नहीं या इतनी शक्तिहीन हैं कि मुट्ठी-भर प्रतिक्रियावादी वर्ग कोई ऐसा षड्यन्त्र कर बैठे कि आगे का रास्ता ही रुक जाय। सबसे मुख्य बात यह है कि इन लेखकों को जनता की प्रजातन्त्रवादी निर्णयात्मक शक्ति पर पूरा भरोसा है कि अपनी सामूहिक आवाज से वह अपना पथ-निर्देश कर सकती है। इसके लिए किसी अभिजात्य वर्ग की आवश्यकता नहीं, जो तानाशाही स्थापित करके उसे भेड़ की तरह हाँके। आज के सांस्कृतिक प्रयास का ध्येय जनतन्त्र एवं नवजीवन में सार्थकता लाने का है। इसीलिए साहित्य का स्वर विधेयात्मक होगा, ध्वंसात्मक नहीं। यही नहीं वरन् राज-नीतिक दलों द्वारा विकीर्ण असहिष्णुता का परित्याग करके राष्ट्रीय एकता, हिन्दी-भाषा के राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और साहित्य के सामाजिक मूल्यों के प्रश्न पर सभी लेखक एक हों, जो किसी कारण से मुख्य धारा से कट गए हैं उन्हें भी अपने विशाल वृत्त में समेट लिया जाय, यह हमारा गुरुतर दायित्व है। दलानु-शासित लेखकों का भी राजनीतिक पूर्वग्रह कुछ भी हो, उनका अनुभूत सत्य व्यापक प्रगतिशील चेतना से अलग नहीं है। इस विश्वास के यथेष्ट प्रमाण हैं कि अधिकतर साहित्यकार इस उत्तरदायित्व का अनुभव कर रहे हैं। एक तरफ तो भाषा को अधिक लचीली और शक्तिशाली बनाने का भारी काम है, दूसरी ओर एक आशामय मानवतावाद द्वारा जन-जीवन की सांस्कृतिक चेतना को समृद्ध करने का प्रश्न है।

जिन लेखकों के सामने भावभूमि और भाषा का इतना बड़ा अविजित साम्राज्य पड़ा हो उनके लिए गतिरोध का प्रश्न ही क्या ? उन्हें तो सब-कुछ जीतना ही है, हारना कुछ भी नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

शम्भूनाथसिंह

महाकाव्य के उद्भव की सामाजिक व्याख्या

महाकाव्य का उदय मानव-समाज के इतिहास की उस मंजिल पर हुआ जब कि सभ्यता का पूर्ण विकास नहीं हुआ था और जब मानव मुख्यतया कबीलों और जातियों में विभाजित था। ऐसे समाज की कलात्मक अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में हुआ करती है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत वीरता और साहसपूर्ण कार्यों के लिए स्थान होते हुए भी व्यक्तिवाद का विकास नहीं दिखाई देता। साहित्य के इतिहास की दृष्टि से समाज के विकास की इस मंजिल को वीर-युग (Heroic age) कहा जाता है। यह युग प्रत्येक जाति के इतिहास में कभी-न-कभी अवश्य आता है। अतः समाज के जीवन की यह युवावस्था होती है, जिसमें बौद्धिक विकास और सामाजिक संगठन तो अधिक नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु भावनाओं की तीव्रता और मानवीय प्रयत्नों का प्रारम्भिक सशक्त प्रयत्न अधिक मात्रा में दिखलाई पड़ता है, जिसमें सबल निर्बल के ऊपर और जवान वृद्ध के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ दिखलाई पड़ता है। इस समाज में बाहु-बल और शस्त्र-चालन की दक्षता से ही व्यक्ति समाज का नेतृत्व प्राप्त करता है, और अवस्था की प्रौढ़ता अथवा अनुभव-वृद्धता को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता। सारांश यह है कि इस समाज में युद्धों में व्यक्तिगत वीरता का ही महत्त्व है, सामूहिक वीरता अथवा सैन्य-शक्ति का नहीं; क्योंकि युवकों की प्रबल शारीरिक शक्ति तथा महान् साहस और उद्योग से ही युद्ध जीते जाते हैं। ये वीर महत्त्वाकांक्षी, विजय के विश्वासी, अभिमानी और ख्याति के इच्छुक होते हैं। सभी प्रारम्भिक महाकाव्यों में वीरता का यही स्वरूप दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए 'महाभारत' को ले सकते हैं। महाभारत की कथा मुख्यतया अर्जुन और कर्ण, भीम और भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि की व्यक्तिगत वीरता की कथा है। इसी प्रकार अन्य महाकाव्यों में भी राष्ट्रीय अथवा जातीय शक्ति और सामूहिक वीरता से अधिक महत्त्व व्यक्तिगत वीरता को दिया गया है। इस प्रकार यह युग व्यक्तिगत वीरता का युग है।

इस युग तक पहुँचने में समाज को विकास की अन्य कई मंजिलें पार करनी पड़ी होंगी। महाकाव्य का जो स्वरूप वीर-युग में दिखलाई पड़ता है, उसका पूर्वरूप पिछले युगों की सामाजिक परिस्थितियों और उनमें विकसित होने वाली कविता में खोजा जा सकता है। वीर-युग के पूर्व प्रत्येक समाज को बर्बरता की अवस्था से गुजरना पड़ा था; उस अवस्था में विचार, भावनाएँ, धर्म और सामाजिक सम्बन्ध अत्यन्त उलझे रूप में होते थे, किन्तु सबका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उस अवस्था में व्यष्टि-भावना का अभाव था, जिससे प्रत्येक व्यक्ति समाज का ही एक रूप था, उसे अलग अपनी व्यक्तिगत सत्ता का ज्ञान नहीं था। वह अपने में ही समाज का एक लघु रूप था। ऐसी स्थिति में व्यक्तियों में दृढ़ व्यक्तित्व का अभाव होना स्वाभाविक था। कबीलों को ऐसे दृढ़ व्यक्तित्व से सदैव खतरा रहता था। अन्य कबीलों अथवा जातियों के हमलों तथा उनसे सम्पर्क होने से वैयक्तिक भावना का विकास हुआ। ऐसा होने पर व्यक्ति की चिरकाल से दबी हुई सत्ता उन्मुक्त हो गई। परिणामस्वरूप समाज अपने विकास की उस मंजिल पर पहुँचा जिसे वीर-युग कहते हैं। इस नये युग की भावनाओं की अभिव्यक्ति वीरगीत और महाकाव्यों के रूप में हुई। किन्तु ये काव्य बिलकुल नवीन और परम्परा से विच्छिन्न नहीं थे, वस्तुतः वे पिछले युगों की कविता के ही विकसित रूप थे। अतः यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि उक्त पिछले युगों की कविता का स्वरूप क्या था, जिससे महाकाव्य का विकास हुआ।

आदिम काव्य

मनुष्य-जाति ने अपनी आदिम अवस्था में किस प्रकार की काव्यात्मक रचना की थी इसका कोई प्रमाण आज हमारे पास नहीं है, क्योंकि उसका कोई लिखित स्वरूप नहीं था। किन्तु उसको जानने का एक प्रमुख साधन यह है कि आज भी जो जातियाँ अपने विकास की आदिम अवस्था में हैं, उनमें प्रचलित गीतों और उनकी भाषा का अध्ययन किया जाय। उनके गीतों को अच्छी तरह तभी समझा जा सकता है जब कि उनके समाज की कुछ जानकारी हमें हो। उन जातियों में कविता का कोई अलग स्थान नहीं था, वह सामाजिक उत्सवों के अवसर पर अथवा अतिशय प्रसन्नता या दुःख की अभिव्यक्ति के क्षणों में जादू-टोना, मन्त्र-तन्त्र, बलिदान, गीत, नृत्य आदि के साथ मिली-जुली रहती थीं। वस्तुतः जादू-टोना और मन्त्र-तन्त्र आदिम मानव की प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की अचेतन कामना की बाह्य अभिव्यक्ति थे। उनके उत्सवों के मूल में भी यही बात है। कला की उत्पत्ति आदिम मनुष्य की इसी संघर्ष-शक्ति-भावना का परिणाम है। आज भी आदिवासी जातियाँ वर्षा की कामना करती हैं, तो इस प्रकार के नृत्य का आयोजन करती हैं जिसमें उमड़ते-घुमड़ते बादलों और बरसती हुई बूँदों की भावाभिव्यक्ति होती है। खेत बोने के पूर्व अच्छी फसल के लिए जानवरों का बलिदान भी किया जाता है, चिकित्सा की जगह जादू और मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इन जातियों में सामूहिक रूप से शिकार खेलने, कार्य करने, और उत्सव मनाने की भी प्रथा होती है और ऐसे अवसरों पर अपनी भावनाओं की वे सामूहिक कलात्मक अभिव्यक्ति करती हैं।

समाज का कुछ और विकास होने के बाद, जब कि मनुष्य ने उत्पादन के साधनों का कुछ विकास कर लिया था, व्यक्ति अलग-अलग काम करने लगे; किन्तु सामूहिक भावनाएँ अभी भी बनी रहीं और उनकी अभिव्यक्ति कलात्मक या प्रतीकात्मक रूप में होती रही। कार्य करने के पूर्व या उपरान्त नृत्य या गीत आदि का आयोजन इसी अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाई पड़ता है। इन कलाओं में भी जादू-टोने-जैसा ही चमत्कारिक प्रभाव होता है। साधारणतया भाषा में नित्य के व्यवहार की तथा काव्यात्मक यह दो प्रकार की शैली बराबर दिखलाई पड़ती है। इस काव्यात्मक शैली का व्यवहार नृत्य, संगीत, उत्सव, मन्त्र-तन्त्र आदि के अवसरों पर हुआ करता है। तात्पर्य यह कि तीव्र मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए आदिम जातियों का प्रत्येक व्यक्ति काव्यात्मक और विशिष्ट भाषा का प्रयोग करता है। इसका अर्थ यह है कि काव्य की भाषा (जिसमें संगीतात्मकता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लय, तुक और कल्पनाशीलता अधिक होती हैं) नित्य व्यवहार की भाषा से अधिक आदिम है। इसीलिए आदिम जातियों की बोल-चाल की भाषा और काव्यात्मक भाषा में अधिक अन्तर नहीं होता। बहुधा उनकी सामान्य बोल-चाल की भाषा भी लययुक्त, संगीतात्मक और कल्पनायुक्त होती है। उनमें प्रचलित गीत ही उनकी कविता के प्राप्त उदाहरण हैं, जिनमें उनके लिए जादू का ही प्रभाव होता है। इस काव्य में संगीत का उद्देश्य बाह्य जगत् अथवा प्रकृति में परिवर्तन उपस्थित करना होता है। कल्पना में ही आदिम जातियाँ अपने इच्छित सत्य को प्राप्त करना चाहती हैं, जिसका परिणाम उनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इन अभिव्यक्तियों से उन्हें मानसिक शक्ति प्राप्त होती है और अन्ततः वे बाह्य जगत् को परिवर्तित करने में सफल होती हैं। इस प्रकार आदिम जातियों की कविता का जन्म जादू-टोने से ही हुआ है। कवि असम्भाव्य की कामना आखिर क्यों करते हैं? इसीलिए तो कि वे असम्भव को भी सम्भव बनाना चाहते हैं। कविता का यही प्रधान कार्य है और यह जादू-टोने का ही प्रभाव है। इससे मनुष्य में मानसिक शक्ति और सन्तुलन उत्पन्न होता है और वह यथार्थ का सामना करने के लिए अधिक सशक्त हो जाता है।

श्रम-विभाजन के बाद

समाज में श्रम-विभाजन प्रारम्भ होने के बाद सामूहिक भावनाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाता है। ऐसे समाज में सरदार, पुरोहित और कुलीन-वर्ग के लोगों का प्राधान्य हो जाता है, अतः भावनाओं की अभिव्यक्ति सामूहिक रूप में न होकर व्यक्तिगत रूप में होने लगती है, क्योंकि व्यक्ति तब समाज का लघु-रूप नहीं रह जाता, उसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार कविता जादू-टोने और नृत्य-संगीत से विच्छिन्न होकर कुलीन व्यक्तियों और देवताओं का चित्रण करने लगती है; सामूहिक गीत, वीर गीतों और महाकाव्यों का रूप धारण कर लेते हैं, सामाजिक आख्यान व्यक्तिगत आख्यानों के रूप में बदल जाते हैं; और अन्त में कविता व्यक्ति की आन्तरिक अभिव्यक्ति—गीत-काव्य—बन जाती है। किन्तु इस अवस्था में भी परम्परा का सर्वथा त्याग नहीं होता, यद्यपि सामूहिक श्रम से अलग हट कर कविता विश्राम और एकान्त के क्षणों की वस्तु बन जाती है। फिर भी, सामूहिक संगीतात्मक काव्य का रूप-शिल्प, उसमें बहुत-कुछ पूर्ण-सा ही बना रहता है। उदाहरण-स्वरूप सामूहिक गीतों कुछ विशेष शब्दों और पंक्तियों की आवृत्ति की शैली बाद के वीर-गीतों में भी दिखलाई पड़ती है। प्रारम्भिक सामूहिक गीतों में नृत्य और वाद्य का योग रहता था। वीर-युग के वीर-गीतों में भी नृत्य और संगीत का कुछ सहयोग अवश्य बना रहा और उनके रूप-विधान में तुक, लय-तत्त्व और कल्पनाशीलता भी पूर्ववत् ही दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः वीर-गीत का मूल रूप एक प्रकार का नृत्य ही था। जार्ज टामसन के कथनानुसार यूरोप के कुछ भागों में कुछ वीर-गीत आज भी नृत्य रूप में ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रारम्भ में काव्य, संगीत और नृत्य का मूल रूप एक ही था, किन्तु समाज के विकास के साथ-साथ ये तीनों अलग-अलग कलाओं के रूप में विकसित हुए। वीर-गीतों में इन तीनों का एक सीमा तक मिश्रण दिखलाई पड़ता है। गीति-काव्य (lyric) भी प्रारम्भ में वाद्य-यन्त्र (lyre) के साथ ही गाया जाता था, बाद में उसका सम्बन्ध लायर से विच्छिन्न हो गया।

पहले कहा जा चुका है कि आदिम जातियों की भाषा में काव्यात्मकता बहुत अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है, एक तरह से उसमें प्रत्येक व्यक्ति कवि होता है। समाज के श्रम-विभाजन के बाद ही कवि, गायक अथवा काव्य-पाठ करने वालों का स्थान अलग दिखलाई पड़ता है। प्राचीन काल और मध्य काल में भी कवि अपने समाज से भिन्न नहीं था। श्रोताओं और कवि के बीच में शिक्षा तथा संस्कृति की दीवार नहीं थी, परिणामस्वरूप उसकी भाषा और शैली भी श्रोताओं की भाषा-शैली से भिन्न न थी। उसमें और अन्य लोगों में भिन्नता इतनी ही होती थी कि उसे आशु कविता करने और पुरानी कविता का पाठ करने का अभ्यास अधिक होता था, परिणामस्वरूप प्राचीन लोक-गीतों और लोक-आख्यानों के रचयिता अज्ञात होते थे। ये कविताएँ नित्य-प्रति उद्भूत होतीं और समाज में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा एक युग से दूसरे युग तक यात्रा करती थीं। इस यात्रा के बीच उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार, शैली तथा विचारों-भावनाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता था। इस प्रकार उनमें बहुधा कलात्मक उत्कृष्टता नहीं रहती थी। वस्तुतः ये व्यक्ति की नहीं पूरे समाज की रचनाएँ होती थीं और आज भी अपढ़, किसान-मजदूरों और आदिवासी जातियों के बीच इसी रूप में प्रचलित दिखलाई पड़ती हैं। समाज में व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र हो जाने तथा सभ्यता के प्रसार के बाद ही अलग-अलग कवियों की रचनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। आदिम जातियों के कवि सचेत रूप से अलग-अलग काव्य-रचना नहीं करते थे बल्कि प्रत्येक कवि गायक या वाचक होता था और श्रोतागण भी उसके साथ ही काव्य-रचना में सहयोग करते थे। वस्तुतः वह कविता लिखता नहीं गाता था, उसकी रचना नहीं करता था बल्कि अचेतन रूप से उसके मुख से कविता निकलने लगती थी, बिना श्रोताओं और सहयोगियों के वह यह कार्य नहीं कर सकता था। उसके श्रोता और साथी भी अपने 'स्व' से मुक्त होकर उस काव्य लोक में पूर्ण रूप से रम जाते थे। यह परम्परा तब तक चलती रही जब तक वीर-गीतों, लोक-आख्यानों आदि में सामूहिक भावना का योग बना रहा। सभ्यता के विकास के साथ तथा श्रम-विभाजनयुक्त वर्ग-समाज की स्थापना के बाद उच्च शिक्षित वर्ग के बीच से यह परम्परा धीरे-धीरे समाप्त होती गई।

महाकाव्यों का उद्भव इन्हीं लोक-गीतों, लोकाख्यानों और वीर-गीतों से हुआ है। जैसा कहा जा चुका है कि वीर-युग के पूर्व के समाज में कविता गीत-नृत्य आदि से भिन्न नहीं थी और कवि की सत्ता भी समाज से अलग नहीं थी, प्रत्येक व्यक्ति एक सीमा तक कवि था। वीर-युग में यह स्थिति बदल गई, सामूहिक गीतों के अगुआ ही इस युग में गायक, व्याख्याता अथवा व्यास बन गए। यूरोप में इन्हीं लोगों से चारणों (bards) की अलग जाति ही बन गई, भारत में भी सूत, मगध, बन्दी, चारण आदि की परम्परा सम्भवतः इसी स्रोत से निकली। वीर-युग की परिवर्तित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने ही चारणों और कवियों को उत्पन्न किया। बर्बर-युग में कबीले या जातियाँ अपने सामाजिक संगठन की सतत रक्षा करती रहती थीं फिर भी उन पर तरह-तरह की विपत्ति और संकट उपस्थित होते ही रहते थे। अन्य कबीलों और जातियों से युद्ध होते थे; विजय और पराजय दोनों ही के बाद रक्त का, आचार-विचार आदि का मिश्रण अथवा आदान-प्रदान होता था। मिश्रण से नई जातियाँ बन जाती थीं, बहुधा दैवी विपत्तियों—सूखा, अकाल आदि के कारण या दूसरी जातियों द्वारा अपने मूल स्थान से भगा दिए जाने के कारण ये जातियाँ दूसरे स्थानों पर जातीं और वहाँ की जातियों या कबीलों से संघर्ष करतीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा सम्पर्क स्थापित करती थीं और जीने के लिए नई परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढालती थीं। इस सम्पर्क, संघर्ष और मिश्रण का उनकी बर्बर सामाजिक व्यवस्था पर गहरा धक्का लगता था, वह टूटकर छिन्न-भिन्न हो जाती थी और नवीन व्यवस्था को स्थान देती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे आदिम बर्बर-व्यवस्था की जगह वीर-युग का प्रारम्भ हुआ, जिसमें व्यक्ति अपनी अदम्य वैयक्तिक सत्ता और शक्ति लेकर समाज के पुराने बन्धनों को तोड़कर सामने आया। इसी युग में सामन्त-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का उदय हुआ और समाज पेशे और कर्म के आधार पर विभिन्न वर्गों, जातियों और उपजातियों में बँटने लगा। पुरोहितों, राजाओं और चारणों या कवियों के वर्ग का उदय इसी काल में हुआ। महाकाव्य के उद्भव से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनके—विशेषकर चारणों के—सम्बन्ध में यहाँ विशेष रूप से विचार कर लेना उचित है।

वीर-युग और चारण

वीर-युग, बर्बर समाज-व्यवस्था और पूर्ण सभ्य समाज-व्यवस्था के बीच की मंजिल है। समाज की रक्षा की भावना और जीने की आवश्यकता ने विवश किया कि इस युग में व्यक्ति अपनी शक्ति और साहस का परिचय औरों से भिन्न रूप में दे और उसके बदले ख्याति और सम्मान प्राप्त करे। इस प्रकार योद्धाओं और वीरों की अलग श्रेणी बन गई और राजतन्त्र या सामन्त-तन्त्र की स्थापना हुई, जिसमें "वीर भोग्या वसुन्धरा" का नियम स्वभावतः लागू हो गया। युद्धों में शौर्य प्रदर्शित करने वाला और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीलों का नेता या सरदार बना और मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने तथा मिथ्या विश्वासों का विशेषज्ञ पुरोहित या धार्मिक नेता बन गया। पहले कहा जा चुका है कि बर्बर-युग के आचार-विचार, गीत, नृत्य सभी उलझे हुए और परस्पर अविभाज्य थे। इस युग में श्रम-विभाजन के कारण वे अलग-अलग हो गए। इस तरह पुरोहित-वर्ग ने जाति के विश्वासों और मन्त्र-तन्त्र के आधार पर धर्म का विकास किया और गायकों, कवियों तथा चारणों ने उसी स्रोत से संगीत, कविता एवं पुराण-आख्यान का विकास किया। इस प्रकार युद्ध, धार्मिक कृत्य, संगीत, नृत्य, काव्य, कला, प्रारम्भिक विज्ञान आदि का स्वरूप अलग-अलग स्थिर हो गया। किन्तु सभी एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहे। यह अवश्य है कि विभिन्न देशों और जातियों में इन सम्बन्धों का स्वरूप भिन्न-भिन्न था। यूरोपीय देशों में लौकिक कृत्यों पर धर्म का प्रभुत्व अधिक नहीं था, पर भारत में धर्म का प्रभुत्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत अधिक था। वीर-युग के प्रारम्भिक काल में धर्म का यह प्रभुत्व सम्भवतः उतना अधिक नहीं था पर बाद में पुरोहित या ब्राह्मण-वर्ग का महत्त्व निस्संदेह बहुत अधिक बढ़ गया था। इस तरह राजन्य-वर्ग और पुरोहित-वर्ग का वीर-युग में सर्वाधिक प्रभाव था और संगीत, नृत्य, कविता आदि को इन्हीं का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। कविता को चारणों और गायकों (सूत-मागध आदि) के माध्यम से सरदार, सामन्त अथवा राजा का आश्रय प्राप्त हुआ और धर्म प्रत्येक कार्य में उसका सहायक बना। राजा-पुरोहित और कवि-गायक का यह सम्बन्ध प्राचीन वीर-गीतों और महाकाव्यों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है; वस्तुतः महाकाव्य का प्रारम्भ इन्हीं तीनों वर्गों के समान योगदान द्वारा हुआ; यह अवश्य है कि सामान्य जनता ने (जो अब पुरोहित और चारणों के वर्ग से भिन्न होकर श्रोता या दर्शक बन गई थी) इस प्रकार के काव्य में रस लेकर उसे प्रोत्साहित किया। इसका कारण यही है कि वीर-युग में यद्यपि व्यक्तिगत वीरता और शक्ति का सम्मान बढ़ गया था और महाकाव्य में इन्हींको नायक के रूप में अपनाया गया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु पौराणिक विश्वासों का स्थान सामान्य जनता के हृदय में बहुत-कुछ पहले-जैसा ही बना रहा और महाकाव्यों में उसकी अभिव्यक्ति भी हुई।

विकसित मूल महाकाव्यों (Authentic epics) का प्रारम्भ और विकास करने वाले अधिकतर चारण (bards) अथवा सूत, मागध, बन्दी आदि ही थे। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। कहा जा चुका है कि बर्बर-युग में ये वर्ग नहीं थे, वीर-युग में ही इनका विकास हुआ। वीर-युग के प्रारम्भ होने के साथ ही इन वर्गों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ और न महाकाव्य ही रच डाले गए। व्यक्ति की सत्ता के स्वतन्त्र होने और उसके बल-वीर्य की महत्ता स्वीकृत होने पर स्वभावतः सामूहिक रूप में ही वीर-गीतों (ballads) का विकास होने लगा। बर्बर-युग के पौराणिक विश्वासों का स्थान इस युग में धर्म ने ले तो लिया किन्तु लोक-गीतों और लोक-विश्वासों में पौराणिक अवस्था पूर्ववत् बनी रही। किसी वीर की ख्याति फैलते ही उसके सम्बन्ध में अतिशयोक्ति और कल्पना का उपयोग किया जाना स्वाभाविक है, विशेषकर उस काल में, जब कि न तो लिखने की प्रथा प्रचलित थी और न इतिहास का स्वरूप ही बन पाया था। इस तरह वीरों के सम्बन्ध में निजन्धरी (legendary) कथाओं का प्रचलन हो गया। ये सभी (वीर-गीत, पुराण, इतिहास, निजन्धरी कथा) प्रारम्भ में समाज की सामूहिक रचना के रूप में थे, और अधिकतर लोगों को उनकी जानकारी रहती थी; किन्तु जब उनकी मात्रा और संख्या बढ़ने लगी और श्रम-विभाजन के कारण, सबके लिए सब बातों का जानना सम्भव और आवश्यक नहीं रह गया तो कुछ लोगों ने ही इसमें अभ्यास द्वारा विशेषज्ञता प्राप्त की। प्रधानतया ये लोग उस श्रेणी के थे जो बर्बर-युग में समवेत गीतों के अगुआ या मन्त्र-तन्त्र के विशेष अभ्यासी होते थे। समवेत गीतों का प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया और अगुआ ही अकेला गाने लगा। बहुधा वह किसी वाद्य-यन्त्र के साथ गाता था। वाद्य-यन्त्र (जैसे लायर, वीणा, ढोल आदि) के साथ गाने की प्रथा भी बहुत दिनों तक चलती रही, पर बाद में वाद्य-यन्त्र की संगत संगीत के लिए ही मान्य हो गई और वाद्य-यन्त्र से रहित शुद्ध मौखिक गीत ही कविता के रूप में बदल गए। आज भी लोक-गीतों में कविता और वाद्य-यन्त्र का साथ बराबर दिखलाई पड़ता है। हिन्दी में 'आल्हा' एक वीर-गीत है, जो हमेशा ढोलक पर गाया जाता था। यूरोप में चारण लोग लायर (वीणा) के साथ वीर-गीतों का गान या पाठ करते थे। भारत में प्रसिद्ध पौराणिक गायक नारद ऋषि की वीणा प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार इन चारणों और गायकों, व्यासों और कथावाचकों ('कथकाः') ने वीर-गीतों, पुराण-इतिहासों, आख्यानों और निजन्धरी कथाओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाया। कालान्तर में उनके वंशजों का अलग वर्ग या जाति ही बन गई और उनके द्वारा विकसित आख्यानक काव्य महाकाव्य के रूप में बदल गए।

वीर-युग सामन्त-तन्त्र का युग था, जिसमें शासन करने वाला ही सबसे योग्य समझा जाता था। यद्यपि इस युग में सक्रियता बहुत थी, और वीरों को युद्ध करके अपनी योग्यता सिद्ध करना आवश्यक था फिर भी इस युग में कुछ वर्गों—विशेषकर पुरोहित और गायक वर्ग के पास अवकाश भी बहुत था। इस वर्ग के लोग अपने अवकाश के समय में अपने युग अथवा अपने वीरों की कीर्ति-कथा का गान करते थे। इस प्रकार वीर-गीतों की रचना होने लगी। ये वीर-गीत इतिहास नहीं होते थे, उनमें कल्पना और पौराणिकता का पर्याप्त योग रहता था। राजदरबारों में इन गीतों और उनके गायकों का सम्मान होता था। धीरे-धीरे ये गायक और चारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दरबारों के लिए आवश्यक हो गए और प्रत्येक सरदार या राजा के आश्रय में कोई-न-कोई चारण-कवि रहने लगा, जिसका काम अपने आश्रयदाता की विजय और वीरता की प्रशंसा में काव्य-रचना करना और इस तरह उसका सम्मान बढ़ाना था। इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा चारण-कवियों द्वारा आगे बढ़ाई जाने लगी। जब युद्धों के कारण ये दरबार समाप्त हो जाते थे तो चारण कवि अपने समकालीन राजाओं की प्रशंसा न करके पुराने राजाओं की कीर्ति के आधार पर निजन्धरी-कथाओं का निर्माण करके उनको गाते थे।

उन राजाओं के वंशज अपने पूर्वजों से सम्बन्धित आख्यानक-गीतों का बहुत सम्मान करते थे और इस तरह चारण-कवियों को आश्रय मिलता रहता था। ये चारण-कवि बहुधा पुराने गीतों का गान करते और आशु काव्य-शक्ति द्वारा आवश्यकतानुसार पुराने गीतों में कुछ-न-कुछ अपनी नई रचना भी मिलाते रहते थे। इस प्रकार वीर-गीतों के अनेक चक्र बनते गए। सम्भवतः एक चक्र की अनेक गाथाओं के मिश्रण और संश्लेषण से महाकाव्यों का रूप निर्मित हुआ। ये वीर-गीत न तो कोरे शुष्क इतिहास होते थे और न अलंकृत काव्य। उनमें वीरों की कीर्ति का छन्दोबद्ध वर्णन होता था जिससे ये गीत श्रोताओं को सहज ही में याद हो जाते थे और उनमें गेयता भी आ जाती थी। चारणों द्वारा मौखिक रूप से इनका प्रचार होता रहता था। किन्तु सभी लोगों का उन पर सहज अधिकार नहीं रहता था। चारणों के वंशजों को ये गीत और गीत-रचना की प्रतिभा उत्तराधिकार रूप में प्राप्त होती थी। नई पीढ़ी के चारण अपने पूर्वजों द्वारा प्राप्त गीतों को अपने श्रोताओं और आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप नया रूप-रंग प्रदान किया करते थे यद्यपि गीतों की मूल सामग्री बहुत-कुछ पुरानी ही रहती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे ये गीत अधिकाधिक अतिशयोक्तिपूर्ण और आश्चर्य-चकित करने वाले होते गए, क्योंकि इससे श्रोताओं का ध्यान आकर्षित होता था। लिखने की प्रथा न होने से इन गीतों का मूल प्राचीन रूप सुरक्षित नहीं रह सकता था; अगर लिखने की कला ज्ञात होती तो भी चारण इस कला को रहस्यमय बनाकर ही लिखते, क्योंकि इसी पर उनके जीवन-यापन की समस्या निर्भर करती थी। कुछ पीढ़ियों के बाद ही उन गीतों का स्वरूप बहुत-कुछ बदल जाता था, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी के चारण अपने बाप-दादों से ही उन्हें प्राप्त करते थे, उससे पूर्व उन गीतों का क्या रूप था इसका ज्ञान उन्हें नहीं रहता था।

इस प्रकार वीर-गीतों की परम्परा बहुत दिनों तक चलती रही और किसी-न-किसी रूप में आज भी चल रही है। हिन्दी में जगनिक का 'आल्हखण्ड' ऐसा ही वीर-गीत है जो अपने मूल रूप को बहुत-कुछ खो चुका है। उसे गाने वाले अब चारण-कवि नहीं बल्कि सामान्य जनता के गायक होते हैं जो ढोलक पर उसे गाते हैं और उसमें कल्पित आख्यान जोड़ा करते हैं। मैं स्वयं एक ऐसे आल्हा गाने वाले को जानता हूँ जिन्होंने मुझे बताया था कि जैसे आजकल कहानी-उपन्यास लिखे जाते हैं उसी प्रकार वे मूल कथा के आधार पर नई घटनाओं और उप-कथाओं का वर्णन आशु रूप से गाते समय करते जाते हैं। यही बात पुराने चारणों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। अतः इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि किसी वीर की छोटी-सी और कम महत्त्व की कथा भी कुछ पीढ़ियों बाद चारणों की आशु काव्य-प्रतिभा के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, आश्चर्यजनक और जातीय महाकाव्य का रूप धारण कर ले, सभी पुराने विकसित महाकाव्यों के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है। इलियड और महाभारत की बात छोड़ दें, मध्य काल की रचना 'पृथ्वीराज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रासो' ही को लें तो उससे भी यह बात स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाती है। इतना तो सर्वमान्य है कि सूतों, मागधों के इतिहास का पुराण-इतिहास-आख्यान से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परवर्ती वैदिक साहित्य में कई जगह इतिहास-पुराण को वेद के बराबर महत्त्व दिया गया है और उसे पंचम वेद तक कहा गया है, और अथर्ववेद के बाद ही उसकी गणना हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक संहिताओं की तरह इतिहास-पुराण की संहिता भी रही होगी, जो बाद में पुराणों और महाकाव्यों के रूप में विकसित हुई। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी ऐतिहासिक और पौराणिक थे, जिन्हें 'वायु पुराण' और 'पद्म पुराण' ने सूत कहा है। विण्टरनित्स का मत है कि बौद्ध-काल तक गद्य और छन्द में रचित इतिहास, आख्यान, पुराण और गाथाओं का असीम भण्डार था, जो बौद्ध जातकों, थेरी गाथाओं जैन-पुराणों तथा गाथाओं और संस्कृत-महाकाव्यों के रूप में आज भी किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित हैं। सूत, मागध इनमें पारंगत थे, जो राज-दरबारों में रहते और राजाओं की मर्यादा और ख्याति बढ़ाने के लिए पुरानी गाथाओं के साथ अपने आश्रयदाताओं और उनके पूर्वजों की प्रशंसा में भी आख्यान रचते और गाते थे। राजाओं के साथ वे युद्धों में भी जाते और स्वयं उनकी वीरता देखकर उसका वर्णन करते या उन्हें प्रोत्साहित करते थे। 'महाभारत' के संजय सूत ही थे, जिन्होंने धृतराष्ट्र को भारत-युद्ध की कथा सुनाई थी। उसी तरह नैमिषारण्य में 'महाभारत' को तीसरी बार गाकर सुनाने वाले लोमहर्षण के पुत्र सौति उग्रश्रवा भी सूत ही थे। सूतों ने इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथाओं की परम्परा को न केवल सुरक्षित रखा, बल्कि वे उसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्तरोत्तर समृद्ध भी करते रहे। इस प्रकार एक चक्र की अनेक कथाओं के संश्लिष्ट विकास से महाकाव्यों—विशेषकर 'महाभारत' का स्वरूप निर्मित हुआ। सूतों के अतिरिक्त कुशी-लव नामक एक जाति भी थी, जो जनता के बीच वाद्य-यन्त्र पर गीत गाती थी और उन्हींके कारण वीर-गीतों और आख्यानों का प्रचार जनता में होता था। इस प्रकार सूत राज-दरबारों के और कुशीलव जनता के बीच के गायक थे। 'रामायण' में कुश और लव को वाल्मीकि से सीखे गए 'रामाख्यान' को जनता के बीच घूम-घूमकर सुनाते दिखाया गया है। रामायण में कुश-लव की यह कथा चाहे बाद में ही क्यों न जोड़ी गई हो, किन्तु इससे पता चलता है कि रामाख्यान को गानेवाली कोई जाति अवश्य थी, जिसने कुश और लव से अपना सम्बन्ध स्थापित करके अपना सम्मान बढ़ाने के लिए अपना नाम कुशीलव रख लिया था। होल्ट्ज़मैन ने अपनी पुस्तक 'डास महाभारत' और जैकोबी ने 'डास रामायण' में कुशीलवों के सम्बन्ध में अपना यही मत व्यक्त किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत, मागध, बन्दी, वैतालिक और गायकों का इतिहास सुदूर अतीत से ही मिलने लगता है। अनेक देशों में अत्यन्त प्राचीन काल से राज-दरबारों में उन्हें अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता रहा है। उनका काम देवताओं, ऋषियों और ख्यात राजाओं का वंशानुक्रम सुरक्षित रखना और वीरों की कीर्ति-कथा का गान करना था। इसीलिए सूतों को 'पौराणिक' और 'वंशकुशल' भी कहा गया है। इन लोगों के वंश-परम्परा द्वारा पम्परागत वंशावली, इतिहास, आख्यान आदि को स्मृति में सुरक्षित रखने और गाते रहने का ही यह परिणाम था कि बाद में पुराणों और महाकाव्यों का रूप सामने आया।

यूरोप के महाकाव्य

यूरोप में भी महाकाव्यों का विकास वीर-गीतों से ही हुआ, जिन्हें चारण लायर या तान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरे के साथ गाते थे; होमर के 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्यों में इसका उदाहरण मिलता है। 'इलियड' का नायक आचिलेस स्वयं लायर बजाता और वीरों का आख्यान गाता था। 'ओडेसी' में पेशेवर चारणों की चर्चा कई जगहों पर आई है। उनसे यह भी पता चलता है कि उस काल के चारणों की कला को देवताओं या सरस्वती का वरदान माना जाता था। होमर के बाद ऐतिहासिक काल में आशुकवियों या गायकों (Rhapsodes) का उदाहरण मिलता है जो साधारण जनता के बीच काव्य-गान करते थे। वे प्रायः स्वरचित या परम्परागत काव्यों को गाते थे। ६०० ईसा पूर्व में यूनान में होमर के काव्यों का गान जनता के बीच में होता था और उसके पहले भी अवश्य होता रहा होगा। चियास द्वीप में 'होमराइड' नामक एक जाति पहली शताब्दी में थी, जो अपने को होमर का वंशज बताती थी और जो सम्भवतः पेशेवर चारणों की जाति थी। होमर की कविताएँ गाई नहीं जाती थीं, बल्कि उनका पाठ होता था, किन्तु गाने वाले अपने हाथ में एक विशेष प्रकार की लकड़ी या सोटा लिये रहते थे। सम्भवतः वह पूर्ववर्ती गाने वालों के लायर की जगह रूढ़ि के रूप में प्रयुक्त होता था। इससे पता चलता है कि 'इलियड' और 'ओडेसी' महाकाव्य किसी समय लायर के साथ गाए जाते थे। इनके गाने वाले चारणों के पूर्वज शुरू में यूनान के सरदारों और राजाओं के दरबारों में रहते और उनकी वीरता तथा यश का गान करते थे। इस प्रकार तत्सम्बन्धी वीर-गीतों की परम्परा चल पड़ी थी। ट्राजन-युद्ध के बाद के यूनान की सामन्ती व्यवस्था की विशेषताओं, विशेषकर तत्कालीन शासक-वर्ग के शारीरिक बल और व्यक्तिपरक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति उन वीर-गीतों में होती थी। बाद में जब यूनानी शासक लगातार आक्रमणों से छिन्न-भिन्न होकर एशिया माइनर में चले गए तो वहाँ उनके दरबारों में 'इलियड' और 'ओडेसी' से सम्बन्धित वीर-गीतों का गान होने लगा। उन्हीं बिखरे-गीतों का धीरे-धीरे संश्लेषण होकर 'इलियड' और 'ओडेसी' का स्वरूप विकसित हुआ।

चाडविक ने अपनी पुस्तक 'वीर-युग' (Heroic Age) में ट्यूटानिक जातियों में वीर-गीतों और महाकाव्यों के विकास का पूर्ण रूप से विचार किया है। उनके मतानुसार जर्मनी में वीर-काल या अन्धकार-युग के बहुत पहले ही टेसिटस ने लिखा था कि जर्मनी में बहुत-से प्राचीन गीत प्रचलित थे। सीडानियस और वेनाण्टियस फार्डिनेट्स की कविताओं से भी ट्यूटानिक जाति के चारण-कवियों का प्रमाण मिलता है। एंग्लो सैक्सन जाति की कविताओं से भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि वहाँ चारण-कवि दरबारों में वीर-गीत गाया करते थे। रूसी वीर-गीतों के सम्बन्ध में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। उन गीतों के कुछ वीर तो स्वयं चारण थे। मिस हैपगुड ने अपनी पुस्तक 'एपिक सांग्स ऑफ रशिया' में लिखा है कि रूस में चारण-कवि बाद में दरबारों से हटकर जनता के बीच चले गए और आज भी वे घूम-घूमकर धार्मिक गीत गाते हैं। मध्ययुग में रूस में क्रिश्चियन चर्च के कारण वीर-गीतों और महाकाव्यों का प्रचार दरबारों से उठ गया और किसानों के बीच उनकी रक्षा हुई।

विकास की तीन मंज़िलें

सभी देशों में महाकाव्य के विकास की तीन मंजिलें दिखाई पड़ती हैं। पहली मंजिल वीर-युग में होती है, जब कि उसी युग के चारण-कवि वीरों के दरबारों में रहकर उनकी प्रशंसा के गीत गाते हैं। मूल 'महाभारत' और 'रामायण' की रचना सम्भवतः इसी युग में हुई थी। 'इलियड' और 'ओडेसी' के मूल रूपों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। बीयोउल्फ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहसपूर्ण कार्यों का वीर-गीत के रूप में प्रारम्भ वीर-युग में ही हो गया था। वीरों के मरने के बाद भी उनकी गाथा गाई जाती थी, धीरे-धीरे एक वीर से सम्बन्धित अनेक गीत कुछ पीढ़ियों के बाद मिलकर एक हो जाते थे। यही महाकाव्य कहलाने लगते थे। यह महाकाव्य के विकास की दूसरी मंजिल है। इस मंजिल पर महाकाव्य का रूप लचीला होता है अर्थात् उसे गाने या पाठ करने में चारणों को स्वतन्त्रता होती है कि वे अपनी रुचि के अनुसार उसमें कुछ जोड़ें या घटाएँ, क्योंकि अतीत की कथा के श्रोताओं को निश्चित जानकारी नहीं रहती। तीसरी मंजिल में प्राचीन वीरों के आख्यान का सामान्य जनता अपने ढंग से रूप बदलती रहती है; वे निजन्धरी कथा का रूप धारण कर लेते हैं, उनमें मूल कथा का ढाँचा तो बना रहता है किन्तु उसमें नवीन मांस-रक्त भरकर पहले की कई असम्बद्ध गाथाओं के मिश्रण द्वारा उसे नवीन रूप दे दिया जाता है। 'महाभारत' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। यूनान के हिसियड का काव्य इसी मंजिल का है। रूस में १६वीं शताब्दी में किसानों के यहाँ से प्राप्त महाकाव्यों को भी इसी मंजिल का समझना चाहिए। इस प्रकार इस मंजिल में वीर-गीत दरबारों से निकलकर जनता की वस्तु बन जाते हैं। हिन्दी में 'आल्हखण्ड' इसी प्रकार का वीर-काव्य है। भारतीय महाकाव्यों के विकास के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर एन० के० सिद्धान्त का मत है कि पहली मंजिल के वीर-गीत वे हैं जिनकी रचना महाभारत-युद्ध के काल में हुई थी। उस काल के राजाओं के चारण पुरोहित-वर्ग के नहीं क्षत्रिय या वीरों के वर्ग के होते थे, उनका सम्मान कम नहीं था। पुरुरवा, नहुष और ययाति की कथाएँ इसी मंजिल की हैं। दूसरी मंजिल में प्राचीन दरबारी वीर-गीतों के आधार पर महाकाव्य का मूल रूप निर्मित हो गया। मूल 'भारती-कथा' उसी मंजिल की रचना रही होगी जिसमें पुरानी वीर-गाथाएँ उपाख्यान के रूप में सम्मिलित कर ली गई थीं। तीसरी मंजिल पर राजनीतिक परिस्थितियों में बहुत परिवर्तन आ गया था। छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर बड़े साम्राज्य स्थापित हो गए थे जिनमें उन दरबारों में सूत-मागधों की संख्या भी कम ही रही होगी; अतः अधिकांश सूत-मागध जनता के बीच काव्य-गान करने लगे। ब्राह्मणों के प्रभाव से भी सूत-मागधों का महत्त्व कम हो गया और धीरे-धीरे ब्राह्मणों ने पुराण-आख्यान पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि महाकाव्य भी धार्मिक रंग में रंग गए, उनकी मूल कथा के वीर पात्रों का महत्त्व कम हो गया और धार्मिक आख्यान और उपदेश ही प्रधान हो गए। 'महाभारत' के पंचम वेद माने जाने का यही कारण है। इस काल में पुरोहित ही पौराणिक बन गए, पर वे सूत-मागध नहीं थे और दरबारों से उनका आश्रित रूप में ही सम्बन्ध रह गया; क्योंकि उनकी धार्मिक कथाओं का राजा और सामान्य जनता सभी धार्मिक भावना के कारण सामान्य रूप आस्वादन करते थे।

इस प्रकार महाकाव्य के उद्भव और विकास की कहानी युगों की धारा में बहने वाले वीर-गीतों, आख्यानों, निजन्धरी कथाओं और ऐतिहासिक पुरुषों के विकास की कहानी है, जिन्हें निर्मित करने वाला कोई एक या कुछ व्यक्ति नहीं हैं; बल्कि युग-युग के मानव-समाज ने मिलकर अपने-अपने देश में अपने-अपने ढंग से इनका निर्माण किया है। प्रारम्भिक विकसित महाकाव्यों की तुलना हम प्रवाल-द्वीपों से कर सकते हैं। ये महाकाव्य न जाने कितने युगों में कितने कण्ठों से निस्सृत होकर और कितनी प्रतिभाओं की शक्ति से रूप ग्रहण करके आज अपना वर्तमान स्थिर रूप प्राप्त कर सके हैं। लिखने की प्रथा प्रारम्भ होने बाद उनके स्वरूप में कुछ स्थिरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवश्य आई, किन्तु 'महाभारत', 'रामायण' या 'रासो' आदि महाकाव्यों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी परस्पर बहुत भिन्नता दिखलाई पड़ती है; सम्भवतः लिखने वालों की अपनी रुचि, अज्ञान और साम्प्रदायिक पूर्वग्रह के कारण प्राचीन पाण्डुलिपियों में इतना अन्तर पाया जाता है। किन्तु छपाई का आविष्कार हो जाने के बाद अब महाकाव्यों के विकसित होने की सम्भावना नहीं रह गई है, अपढ़ जनता में प्रचलित वीर-गीत भी अब बहुत-कुछ लिपिबद्ध करके प्रकाशित किये जा रहे हैं जिनसे उनके भी विकसित होने की सम्भावना अब कम हो गई है। सारांश यह है कि महाकाव्यों का उद्भव वीर-युग में होता है, सामन्त-युग उन्हें विकसित करता है और पूँजीवाद के वैज्ञानिक युग में उनका विकास रुक जाता है। विकसित सभ्य-समाज में महाकाव्यों का विकास नहीं होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४०,४१२
R
८४
दि ३७आ
अंक-८, पृ-२

पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी

'कामायनी' की कथा

[क] ऐतिहासिकता

: १ :

प्रसाद की 'कामायनी' की कथा इतिहास है या रूपक, इसका निर्णय करने के लिए बहुत अधिक शोध या तर्क की आवश्यकता नहीं, क्योंकि प्रसाद ने इस सम्बन्ध में स्वयं ही अपना मत अत्यन्त स्पष्ट रूप से लिख दिया है। परन्तु साधारणतः इतिहास के सम्बन्ध में लोगों की जो धारणा बँधी हुई है, प्रसाद की दृष्टि उससे कहीं अधिक व्यापक है; जिसके कारण वह इतिहास को लेकर मनोविज्ञान और अध्यात्म से भी उलझी हुई प्रतीत होती है। अतः उनके स्पष्ट कथनों की भी किंचित् व्याख्या आवश्यक हो जाती है।

अपने 'कामायनी-दर्शन'[1] शीर्षक लेख में मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रसाद ने भारतीय संस्कृति की मूलभूत प्रधान विचार-धारा (दृष्टि, दर्शन) को अपने अध्ययन, मनन और अनुभव से जिस रूप में समझा था उस रूप में जीवन की ही सत्य वस्तु समझकर उन्होंने 'कामायनी' की कथा में उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न किया है। 'कामायनी' की कथा में पिरोए हुए दार्शनिक तत्त्वों को देखने से स्वभावतः यह धारणा होने लगती है कि वह एक दार्शनिक, आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक रूपक है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रसाद के ऐतिहासिक विवेचन और कथन उसी प्रकार इस धारणा को भी पुष्ट करते हैं कि उनकी दृष्टि जितनी दार्शनिक या आध्यात्मिक थी उससे किसी प्रकार कम ऐतिहासिक न थी। स्वयं उन्हीं के कथनानुसार यद्यपि 'कामायनी' की कथा-शृंखला मिलाने के लिए उन्होंने थोड़ी-बहुत कल्पना से भी काम लिया है, तथापि कथा का आधार ऐतिहासिक ही है। उसकी मुख्य घटनाएँ और पात्र ऐतिहासिक हैं। यथा :

१. 'इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।'

२. 'जल-प्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया। वह इतिहास ही है।'

३. 'मनु भारतीय इतिहास के आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हीं के वंशज हैं।'[2]

---

१. 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', केशव-स्मृति-अंक, सं० २००८।
२. 'कामायनी', भूमिका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार 'कामायनी' की भूमिका से यह भी स्पष्ट है कि देवगण, उनका उच्छृङ्खल स्वभाव, जल प्लावन से उनका विनाश, उसके बाद मनु और श्रद्धा की उजड़ी सृष्टि को फिर से बसाने का प्रयत्न, किलाताकुली की सहायता से पशु-बलि, फिर इड़ा के मिलने पर बुद्धिवाद का विकास इत्यादि को भी प्रसाद ऐतिहासिक तथ्य ही मानते हैं। इस इतिहास के अत्यन्त प्राचीन होने के कारण इसमें रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है, इसीलिए वे कहते हैं :

'श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'[1]

तात्पर्य यह कि 'कामायनी' की कथा को रूपक मानना-न-मानना आपकी इच्छा पर है, परन्तु इतिहास तो वह अवश्य है। साथ ही प्रसाद भली भाँति जानते थे कि आधुनिक ऐतिहासिक दृष्टि उस कथा को इतिहास मानने में अवश्य ननु-नच करेगी। उन्होंने मूल कथा 'ऋग्वेद' और 'शतपथ' से ली है; जिनके समय और ऐतिहासिकता का विषय निर्विवाद नहीं है। अतः वे अपना पक्ष इस प्रकार उपस्थित करते हैं :

'प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संग्रहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है······घटनाएँ कहाँ कहीं अतिरंजित भी जान पड़ती हैं। तथ्य संग्रहकारिणी तर्क-बुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है, किन्तु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।'[2]

वैदिक साहित्य, जहाँ से प्रसाद ने अपनी मूल-कथा ली है, उनकी दृष्टि से इतिवृत्त ही है,[3] भले ही वह 'भावपूर्ण' हो और घटनाएँ कहीं-कहीं 'अतिरंजित' हों। यदि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को इतिहास न मानें, तो भी 'कामायनी' की मूल कथा तो उसका 'घटना से सम्बद्ध सत्यांश' ही है। परन्तु यदि कोई उसे रूपक मानने का ही आग्रह करे, तो बिना किसी विवाद में उलझे हुए प्रसाद कहेंगे :

'हो सकता है। यदि वह रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। वह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है। आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं, तब भी हम घटना-मात्र से सन्तुष्ट न रहकर उसके मूल में कोई मनोवैज्ञानिक तथ्य ही ढूँढते हैं।' अर्थात् रूपक मानने पर वह रूपक भी इतिहास ही होगा। स्थूल, घटना-सम्बद्ध इतिहास न सही, फिर भी वह अत्यन्त भव्य इतिहास होगा—सूक्ष्म,

१. 'कामायनी' भूमिका।
२. वही।
३. वेद को इतिहास मानें या रूपक, इस प्रश्न पर विवाद आधुनिक नहीं, बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल में भी कुछ लोग उसे इतिहास मानते थे—वे 'ऐतिहासिक' कहलाते थे, और कुछ उसका 'निरुक्त' से बुद्धिपरक संगत अर्थ लगाकर उसे रूपक मानते थे—वे 'नैरुक्त' कहलाते थे। प्रसाद ने अपने को ऐतिहासिकों के वर्ग में रखा है।
—'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना० प्र० सभा, बनारस), पृष्ठ १७६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवैज्ञानिक।

परन्तु इतने से भी प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि का पूरा रूप सामने नहीं आता। वह तब पूरा होता है जब वे 'घटना' का मूल रहस्य स्वयं बतलाते हैं :

'......उस घटना के मूल में क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूप-ग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।'

इस प्रकार वे स्थूल घटनाओं के इतिहास तथा मनोविज्ञान से भी ऊपर उठकर आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँच जाते हैं, जो उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह का कारण उपस्थित करता है। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो इस सन्देह का कोई वास्तविक आधार नहीं है। बिलकुल स्पष्ट है कि प्रसाद की दृष्टि में भाव चिरन्तन सत्य है, घटना क्षणिक। एक सूक्ष्म है, दूसरा उसी-का स्थूल रूप। सत्य दोनों हैं। स्थूल और क्षणिक होने के कारण दूसरा कम सत्य, अथवा उपेक्षणीय नहीं। इस प्रकार प्रसाद की आध्यात्मिक दृष्टि उनके ऐतिहासिक शोध और विवेचन के विरुद्ध न जाकर उसे एक दृढ़तर भूमिका ही प्रदान करती है।

: २ :

उक्त प्रकार से प्रसाद की ऐतिहासिक दृष्टि को समझ लेने के बाद, 'कामायनी' का ऐतिहासिक रूप और भी स्पष्ट हो जाता है, जब हम देव-निवास स्वर्ग, देवराज इन्द्र तथा देव-संस्कृति की भौमिक स्थिति और सत्यता के सम्बन्ध में प्रसाद के विचारों से अवगत होते हैं। प्रसाद ने जिन देवों की उच्छृङ्खल और विलासी प्रकृति तथा शक्ति का वर्णन किया है वे उनके मत से किसी आकाशस्थ स्वर्ग के कल्पित निवासी न थे। उनकी वास्तविक भौमिक सत्ता थी। उनकी निवास-भूमि स्वर्ग अवश्य थी, पर वह स्वर्ग इसी धरती पर मेरु-पर्वत पर स्थित था। वे देव और कोई नहीं, आर्यों के अग्रजन्मा[1] थे। देवराज इन्द्र प्रथम चक्रवर्ती आर्य सम्राट् थे।

यह सब प्रसाद ने केवल कल्पना की उड़ान पर नहीं कहा। तिलक, अविनाशचन्द्र दास, सत्यव्रत सामाश्रमी, पार्जीटर, मैकडानल्ड, मार्शल-जैसे धुरन्धर विद्वानों ने आर्यों की निवास-भूमि के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किये हैं उनका तथा प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन-मनन करके उन्होंने स्वतन्त्र रूप से इस विषय में अपना मत स्थिर किया। एतत्सम्बन्धी अपने विचार उन्होंने विस्तृत रूप से अपने 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'[2] शीर्षक लेख में प्रकट किये हैं। अपनी ऐतिहासिक रचनाओं की भूमिका वे अपने स्वतन्त्र अध्ययन के आधार पर ही स्थिर करते थे, यह उनके नाटकों से भी विदित होता है। यहाँ हम उनके आर्यावर्त-सम्बन्धी उक्त लेख से उनके आवश्यक निष्कर्ष उद्धृत करेंगे, जिनसे 'कामायनी' की ऐतिहासिक और भौगोलिक भूमिका समझने में सहायता मिलेगी।

आर्यों की सभ्यता को पाश्चात्य इतिहासविदों ने ऋग्वेद के मन्त्रों के आधार पर पहले

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ (मनु)

२. 'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' (ना. प्र. सभा, काशी), पृष्ठ १५५-१६४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक-से-अधिक ईसा से २००० वर्ष पूर्व की माना था। तिलक ने ज्योतिष के आधार पर प्रमाणित किया कि ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र ई० पू० ६००० के बाद नहीं हो सकते। प्रसाद ने आर्य-सभ्यता को इससे भी पहले की ही माना है। उनके मत से 'बाइबिल' में वर्णित जल-प्रलय के आधार पर आर्य-सभ्यता का काल ई० पू० २००० के भीतर स्थिर करना (जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों ने किया है) भ्रमात्मक है। 'बाइबिल' में वर्णित जल-प्रलय की घटना ऋग्वेद से पीछे की है। आगे वे लिखते हैं :

'अब हमें पहले उस देश को खोजना होगा जहाँ ये अग्रजन्मा उत्पन्न हुए थे। आर्यों के अग्रजन्मा देव थे, ऐसी ही अनेक विद्वानों और आर्य शास्त्रों की सम्मति है। देवगण की प्रधान भूमि का पता हमारे साहित्य में "मेरु" नाम से लगता है।'[1]

यह मेरु 'महाभारत' तथा 'बृहत्संहिता' आदि ग्रन्थों में उत्तरकुरु के पास बताया गया है। उत्तरकुरु हिन्दूकुश के पास बलख से लेकर स्वात और उत्तरी कश्मीर तक का प्रदेश था। इसकी प्रधान नगरी सिकन्दर के समय में निकाय नाम से विख्यात थी। इसीके पास के पर्वत को 'मेरोस' (Meros) कहते थे। इसी मेरोस या मेरु को अब 'कोह मोर' कहते हैं। ग्रीकों ने इसे 'त्रिशृङ्ग' कहा है और ऋग्वेद में इसे 'त्रिककुद' तथा पुराणों में 'त्रिकूट' लिखा है। यह शैलमाला तथा उच्च भूमि मेरु-परिवार-रूप से आर्य साहित्य में अत्यन्त पवित्र मानी गई है। इसीके आस-पास की—अफगानिस्तान, कश्मीर तथा बलख के बीच की—रमणीय भूमि देवों का स्वर्ग तथा पारसीकों का प्रथम आर्य-निवास (Ariyana vaijo) थी।

निशाय और मेरु को मेगस्थनीज ने भारत की सीमा के भीतर लिखा है। यह आर्यों के अग्रजन्मा देवों की मूल भूमि थी। इसका पूर्ण विस्तृत रूप पीछे आर्यावर्त या भारत कहलाया। पर आर्यावर्त का वैदिक विस्तार केवल हिमालय और विन्ध्य के बीच सीमित न था।

अनेक विद्वानों ने सप्तसिन्धु प्रदेश—सिन्धु समेत सात नदियों के देश—को वैदिककालीन आर्यावर्त माना है। परन्तु प्रसाद ने ऋग्वेद में 'त्रसप्त सप्त मेधान्...' आदि मन्त्रों का भिन्न अर्थ करके सात-सात नदियों वाले तीन सप्तक—गंगा, सिन्धु और सरस्वती के माने हैं और इसी त्रिसप्तक प्रदेश को वैदिककालीन आर्यावर्त स्थिर किया है। इनमें गंगा-सप्तक की पूर्वी सीमा सदानीरा थी। सिन्धु-सप्तक प्रसिद्ध ही है। तीसरा प्रसाद के अनुमान से सरस्वती-सप्तक है। यह सरस्वती सिन्धु-सप्तक वाली सरस्वती से भिन्न है। 'अवेस्ता' में इसका नाम 'हर हैवती' मिलता है। हारूत से कन्दहार तक की नदियों के सप्तक की यह प्रधान नदी थी। इस सप्तक का प्रदेश दक्षिण-पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तान में था। तीनों सप्तकों की विस्तृत भूमि आर्यों का लीला-निकेतन थी।

त्रिसप्तक वाले सम्पूर्ण आर्यावर्त की सीमा उत्तर में वाल्हीक से दक्षिण में ऋक्कालीन राजपूताना समुद्र तक और पश्चिम में हेलमन्द से पूर्व में गंगा की घाटी तक थी। मगध, अंग, मीडिया और मेसोपोटामिया भी आर्य प्रदेश ही थे, पर इनमें आर्यों को अनार्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलम्बी लोगों—असुरों—से संघर्ष-रत रहना पड़ता था। सरस्वती की घाटी में भी उस समय आर्यों और असुरों—वरुण के उपासक आर्यों—का संघर्ष चल रहा था। इसीसे

---

१. प्रसाद जी का लेख, 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' ('कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह' में प्रकाशित), पृष्ठ १६१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरस्वती को वृत्रघ्नी भी कहा गया है ।

उस समय द्रविड़ों से आर्यों का संघर्ष सम्भव न था, क्योंकि जिस दक्षिण महाद्वीप में द्रविड़ों की जन्मभूमि थी वह आर्यावर्त से राजपूताना समुद्र द्वारा पृथक् थी ।

प्रसाद के मत से उस समय के आर्यावर्त की स्थिति कुछ इसी प्रकार की रही होगी जैसी मानचित्र में दिखाई गई है ।

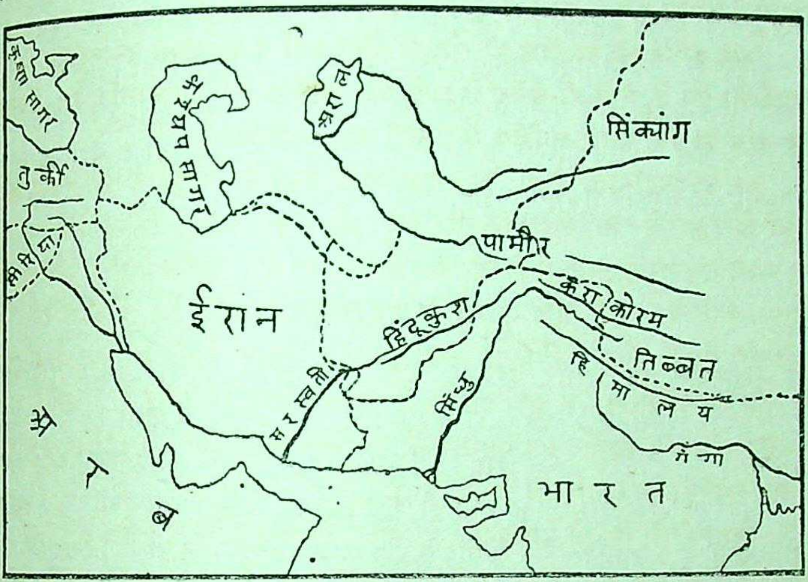

उस समय के आर्यों में आकाशी देवों की उपासना प्रचलित थी । भौतिक शक्तियों में उनकी प्रबल उपास्य-बुद्धि थी । इन आकाशी देवताओं के राजा वरुण माने जाते थे । वरुण की उपासना चन्द्रमा की उपासना से सम्बद्ध थी । वेदों में वरुण को प्रायः असुर कहा गया है । आर्यों के अग्रजन्मा देवों में जब कालान्तर में विचार-परिवर्तन हुआ तो उनके दो प्रधान भेद हो गए—एक वरुणोपासक, दूसरा इन्द्र का अनुयायी । असुर-नेता त्वष्टा से इन्द्र के विरोध ने धीरे-धीरे देवासुर-संग्राम का रूप धारण किया । अन्त में इन्द्र की विजयों के फलस्वरूप आर्यावर्त के त्रिसप्तक प्रदेश से असुर-उपासक आर्यों को हटना पड़ा । यह घटना ७५०० ई० पू० से भी पहले की है । वह आर्य-सभ्यता के इतिहास का प्रारम्भिक अध्याय है, जब इन्द्र ने आत्मवाद का प्रचार किया, असुरों पर विजय प्राप्त की और आर्यावर्त में साम्राज्य स्थापित किया ।

: ३ :

आर्यावर्त और आर्यों—अथवा स्वर्ग और उसके निवासी देवों—के सम्बन्ध में प्रसाद के उपर्युक्त विचारों से मतभेद होना और बात है, शोध और गवेषणा के निष्कर्ष कभी मतभेदों से शून्य रहते ही नहीं । फिर भी यह निश्चित है कि जिस प्रकार 'जनमेजय' से 'राज्यश्री' तक भारतीय संस्कृति के विभिन्न चित्र प्रसाद ने अपने नाटकों में उपस्थित करने का प्रयत्न किया उसी प्रकार अत्यन्त प्राचीन ऋक्कालीन देव-संस्कृति की उन्नति और विनाश तथा उनके बाद नवीन मानव-संस्कृति के उदय का भी चित्र उन्होंने 'कामायनी' में उपस्थित किया । इन सभी चित्रों को उन्होंने शोधों और प्रमाणों से पुष्ट तथा दृढ़ ऐतिहासिक आधार पर खड़ा करने का प्रयत्न किया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे प्राचीन ऋक्कालीन आर्य (देव) ही जब भौतिक शक्तियों पर अधिकार करके उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गए तो उनमें अहंकार, उच्छृङ्खलता और विलासिता ने घर कर लिया। जल-प्रलय में उनका नाश हो गया तब अकेले मनु उनके प्रतिनिधि रूप बच रहे थे। पीछे भटकते-भटकते काम-बाला श्रद्धा भी आ मिली। मनु भी देव-प्रकृति के ही थे। प्रलय से त्रस्त हुए थे, पर पीछे उनकी देव-प्रकृति जागने लगी थी। असुर-पुरोहितों ने पशु-बलि करके उन्हें और भड़काया। फलस्वरूप उनकी अतृप्त वासनाओं ने उन्हें श्रद्धा से दूर कर दिया। फिर उन्हें इड़ा मिली, जिसकी सहायता से उन्होंने नगर बसाए और शासन-तन्त्र संगठित किया। परन्तु स्वाभाविक अतृप्ति और असन्तोष ने उन्हें वहाँ भी ठोकर खिलाई। अन्त में श्रद्धा पुनः पुत्र सहित उनसे आ मिली। सबके अन्त में एक परिवार के रूप में सबका सुखद मिलन हुआ। यही वह समय था जब प्रथम बार देव-संस्कृति से भिन्न नवीन मानव-संस्कृति का उदय हुआ।

[ख] जल-प्लावन

सृष्टि के नवविधान का आरम्भ 'कामायनी' में जल-प्लावन से होता है। 'हिमालय के उच्च शिखर पर शिला की शीतल छाया में एक पुरुष भीगे नयनों से प्रलय का प्रवाह देख रहा है। नीचे तरल जल है, ऊपर सघन हिम; किन्तु दोनों में एक ही तत्त्व की प्रधानता है······'

'कामायनी' की जल-प्लावन-कथा की मूल प्रेरणा यद्यपि भारतीय साहित्य—विशेषतया 'शतपथ ब्राह्मण' है, तथापि अनेक ग्रन्थों में बाढ़ का वर्णन प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण, पुराण, बाइबिल तथा अवेस्ता, ग्रीक, बेबीलोनिया, चीन आदि के प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। एण्ड्री का कथन है कि संसार के ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ पर इस जल-प्लावन-कथा का कोई निर्देश नहीं प्राप्त हो सका। मिस्र, जापान आदि ऐसे ही देश हैं। अफ्रीका में भी इस कथा का प्रचलन नगण्य-सा है। इस कारण एक सार्वभौमिक जल-प्लावन को नहीं स्वीकार किया जा सकता।[1] यह मत केवल अठारहवीं शताब्दी तक ही प्रचलित था कि जल-प्लावन का रूप विश्व-व्यापी है।

जल-प्लावन-कथा का व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है। यह कथा धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित होने के कारण अत्यधिक दैवी रूप में चित्रित की गई है। उसे प्रायः एक ईश्वरीय प्रकोप के रूप में स्वीकार किया गया है जिसकी सूचना पूर्व ही किसी प्रकार संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को मिल जाती थी। उस प्रलय-दशा में वही शेष रह जाता था, जो आगे चलकर पुनः सृष्टि का नवनिर्माण करता था। इसी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण सत्य घटना को भी गाथा का रूप दे दिया गया है। अन्यथा भूगर्भ-शास्त्र के विद्वान् भी इसे स्वीकार करते हैं कि:

'समय-समय पर भू-भाग में सागर भर जाते हैं, सारी पृथ्वी जलमय हो जाती है। ये पर्याप्त समय तक रहते हैं। इस स्थिति में पृथ्वी का ऊँचा भाग जल में विनष्ट हो जाता है। अन्त में जल कुछ नीचे उतरने लगता है और कुछ भाग पर्वत-श्रेणियों में परिवर्तित हो जाता है। इस अवसर पर ज्वालामुखी विस्फोट भी सम्भव है। जल में अनेक वस्तुएँ एकत्र होकर

१. Encyclopedia of Religion and Ethics—Article on Flood—by R. Andree Die flutsagen.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति बदल देती हैं।'[1]

इस भाँति पृथ्वी पर सागर और उसके अनन्तर पर्वत का उदय होता है। इस क्रिया के कारणों के विषय में यद्यपि भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानों में मतभेद है तथापि उसके अस्तित्व को सभी स्वीकार करते हैं ! होम्स, वेगर आदि कई विद्वानों ने इस वैज्ञानिक क्रिया का समर्थन किया है।

भारतीय जल-प्लावन की कथा का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हुए कवि प्रसाद ने डॉ० ट्रिंकलर, होर्नसा आदि विद्वान् वैज्ञानिकों का मत उद्धृत किया है।[2] डॉ० ट्रिंकलर का अनुमान है कि बालुका में दबे हुए प्राचीन ध्वंसावशेषों के चिह्न स्वयं इसका प्रमाण हैं कि हिमालय और उसके प्रान्त में भी जल-प्लावन अथवा ओघ अवश्य हुआ होगा।[3] उसीकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए डॉ० वाडिया लिखते हैं :

'परमियन-काल से ही हिमालय और तिब्बत के समीप समुद्र की गन्दगी जमा हो रही थी। वह समुद्र-तल के ऊपर उठने से ऊँची हो गई। क्रमशः सागर विलीन हो गया और उसके स्थान पर संसार का महान् हिमालय पर्वत दृष्टिगोचर होने लगा।'[4]

इस भूगर्भ-क्रिया का समय ज्वाइनर चार करोड़ वर्ष पूर्व मानता है।[5] उस समय मानव का अस्तित्व भी नहीं था। इस तिथि के अनुसार जल-प्लावन का वर्णन कालान्तर में किया गया। उसके पूर्व केवल जातक-कथाओं के रूप में उसका प्रचलन रहा होगा। मानव-शास्त्र के विशेषज्ञ भी मानव की उत्पत्ति जल-प्लावन के काफी बाद मानते हैं। निस्सन्देह यह वर्णन कालान्तर का ही है, क्योंकि प्रस्तर-युग में मनुष्य इतना सभ्य नहीं था कि वह नौका आदि का निर्माण कर सकता। विज्ञान और इस कथा में कवि-साम्य स्थापित करना सम्भव नहीं।

इतिहास, गाथा और विज्ञान में एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास समय-समय पर किया गया है। भारतीय दर्शन की पौराणिक गाथाओं के अनेक चित्र आलंकारिक विधि से चित्रित किये गए हैं। जल से ही आदि-सृष्टि की कथा के विषय में 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में श्लोक इस प्रकार हैं :

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म
ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवान् ते देवाः सत्यमेवोपासते।[6]

आरम्भ में केवल जल-ही-जल था। जल से सत्य, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से देवता की उत्पत्ति हुई। ये देवता सत्य की उपासना करते हैं। इसी प्रकार थेल्स भी जल से ही समस्त सृजन मानते हैं। इसके लिए वे किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं स्वीकार करते। विश्व-उत्पत्ति के इस सिद्धान्त से भारतीय जल-प्लावन का ऐतिहासिक एवं पौराणिक स्वरूप किंचित्

१. Radioactivity and Surface History of Earth—by J. Jolly.
२. **'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह'—प्रसाद का लेख-'आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'** पृष्ठ १६०
३. **'पायनियर'—१६ अक्तूबर १६२८.**
४. 'Geology of India'—D. N. Wadia (1949) page 224.
५. 'Dating the past—Zeuner.'
६. **'बृहदारण्यक उपनिषद्' ५-५-१।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्य रखता है। विश्वकर्मन् की कथा भी इसके निकट है। उन्होंने वृति का विनाश करके एक नवीन जाति को जन्म दिया था। विश्वकर्मन् ज्वालामुखी के देवता-रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसीके पश्चात् उन्होंने कश्यप को धरणी दान दी थी।[1] तिलक जी भी जल-प्लावन का प्रमुख कारण भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार ही मानते हैं। उनकी धारणा है कि कथा की प्रेरणा सम्भवतः सभीने एक ही स्थान से ग्रहण की।[2]

जल-प्लावन-कथा को धार्मिक ग्रन्थों के साथ ही काव्य में भी स्थान प्राप्त हुआ। प्राचीन काल में जीवन, धर्म और साहित्य में अधिक अन्तर नहीं था। भारत का समस्त वैदिक साहित्य, पौराणिक गाथा, उपनिषद् आदि जीवन की समस्या को सुलझाने के एक भावात्मक प्रयास हैं। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त जल-प्लावन की कथा अन्यान्य प्राचीन साहित्यों में भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से वर्णित है। होमर ने एक स्थान पर कहा है: **'सूर्य सागर के प्रवाह की ओर भागा जा रहा है। सागर, निर्झर, बावली सभी महासागर से निकले हैं, जो पृथ्वी को घेरे हुए हैं। हेलोइस अथवा सूर्य स्वर्ण-नौका में पश्चिम से पूर्व की ओर भागा जा रहा है।'** इसका तात्पर्य डाक्टर वारेन ने यही निकाला कि संसार जल से भरा हुआ है।[3]

भारतीय साहित्य में जल-प्लावन की कथा 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण', 'महाभारत' आदि अनेक स्थलों पर बिखरी हुई मिलती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार—'प्रातःकाल मनु के पास जल लाया गया। उसीमें एक मत्स्य भी था। वह बोला—"मनु, मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। जल-प्लावन में सभी-कुछ नष्ट हो जायगा, तब मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। मनु ने उससे उसकी रक्षा का उपाय पूछा। मत्स्य बोला—"जब तक हम शिशु रहते हैं, बड़े मत्स्य हमें खा जाते हैं। तुम क्रमशः पात्र, गढ़ा, नदी आदि में रखकर अन्त में मुझे सागर में फेंक देना।" यथासमय जल-प्लावन आया। मनु ने नौका को मत्स्य के सींग से बाँध दिया। तदनन्तर उसे एक वृक्ष से अटका दिया। जल-प्लावन शान्त हो जाने पर वे 'मनोरत्सर्पण' स्थान में उतरे।[4] इस कथा की सत्यता पर विचार करते हुए तिलक ने स्पष्टीकरण किया है।[5]

'महाभारत' के वन पर्व में 'मत्स्योपाख्यान' की कथा मिलती है। विवस्वान् के पुत्र मनु ने विशाल पर्वत पर दस हजार वर्ष तक कठिन तपस्या की। एक दिन चारिणी के तट पर एक मत्स्य ने आकर जीवन-रक्षा की प्रार्थना की। मनु ने उसे जल-पात्र, झील, महासरोवर आदि में रखकर अन्त में सागर में फेंक दिया। मत्स्य उसी समय बोला—'मनु! एक भीषण, प्रचंड प्रलय आने वाला है। इसमें चराचर सभी-कुछ नष्ट हो जायगा। तुम एक नौका में सप्तर्षियों के साथ रहकर मेरी प्रतीक्षा करना।' जल-प्लावन के समय धरणी पर जल-ही-जल हो गया। मत्स्य मनु की नौका को हिमालय पर्वत में 'नौबन्धन' तक ले गया।[6] 'महाभारत' के आगामी

---

१. A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy—R. D. Ranade (1926) page 77.

२. 'Arctic Home in Vedas'—B.G. Tilak (1925)—Glacial period.

३. 'Paradise Found'—Dr. Warren (1893) Part V, Chapter V. page 250

४. **'शतपथ ब्राह्मण' (काण्वीय) भाग २, पृष्ठ १५०-१५१।**

५. 'Arctic Home in Vedas'—B. G. Tilak (1925) Page 387.

६. **'महाभारत' वनपर्व; मत्स्योपाख्यान।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंड में भी इसका सविस्तर वर्णन है।

'मत्स्य पुराण' का प्रारम्भ ही आदि-सृष्टि से होता है। 'मनु की तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उन्हें वरदान दिया कि वे प्रलय-काल में सम्पूर्ण जगत् की रक्षा कर सकेंगे।...... एक दिन जब मनु पितरों को अर्घ्य दे रहे थे, कमण्डलु के जल से एक शफरी गिर पड़ी। राजा ने उसे अनेक स्थलों पर रखा पर उसका आकार बढ़ता ही चला गया।' शेष कथा 'शतपथ' की ही भाँति है। यहाँ मत्स्य प्रलय का कारण बताता हुआ संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, बलाहक, विद्युत्पताका, शोण आदि सात प्रलयकालीन मेघों का वर्णन करता है।[१]

इसके अतिरिक्त 'आग्नेय पुराण' (प्रथम अध्याय), 'पद्म पुराण' (३६वाँ अध्याय), 'विष्णु पुराण' (५-१०; ६·३), 'भागवत पुराण' (८-२४; १२-८,६), 'स्कन्द पुराण' (वैष्णव-खण्ड—पुरुषोत्तम-माहात्म्य खण्ड दो), 'भविष्य पुराण' (प्रतिसर्ग पर्व-अध्याय ४), 'कालिका पुराण' (अध्याय २५,३४), 'वायु पुराण' (अध्याय ६, सृष्टि-प्रकरण) आदि में जल-प्लावन की कथा किसी-न-किसी रूप में मिलती है। इनका संग्रह डॉ० सूर्यकान्त ने किया है। प्रायः इन सभी में 'शतपथ ब्राह्मण' की कथा की छाया है। पौराणिक गाथा होने के कारण उनमें किसी प्रकार के वैज्ञानिक सत्य का निरूपण सम्भव नहीं। कल्पना के आधार पर धार्मिक अभ्युत्थान का प्रतिपादन ही इनका लक्ष्य है।

वेदों में प्रत्यक्ष रूप से जल-प्लावन का वर्णन नहीं मिलता। किन्तु 'अपान्नपात्', 'अर्णव', 'शरद: शतम्', 'शतम् हियाः', 'ओघ' आदि शब्दों का व्यवहार हुआ है।[२] यहाँ तक कि मण्डल दो का ३५वाँ सूक्त जल के देवता अपान्नपात् को ही समर्पित है। अथर्ववेद (१६-३६-७, ८) में 'नावप्रमशनम्' का प्रयोग हुआ है। 'रामायण' (काण्ड ४, अध्याय ४३, पद ३२) में भी इसी कथा का आभास प्राप्त होता है। इस प्रकार जल-प्लावन की घटना परोक्ष रूप से कई स्थलों पर चित्रित है। इसके अतिरिक्त 'ऋग्वेद' में 'अंधकारमय रजनी' का भी वर्णन है। उसका विस्तृत विवेचन तिलक जी की पुस्तक में मिलता है।[३] भारत की अनेक आदिम जातियों में भी इस कथा का प्रचलन है। वेदों में जल-प्लावन-कथा के प्रत्यक्ष प्रमाण न मिलने से कई विदेशी विद्वान् इस कथा को सेमेटिक भावना से अनुप्राणित और प्रभावित कहते हैं। किन्तु भारतीय विद्वानों ने ही नहीं, मैकडानल ने भी इसे असत्य प्रमाणित किया है।[४]

ग्रीक-जल-प्लावन-कथा के दो रूप हैं। Dgygian deluge में Attica जलमय हो गया था। Deukalion flood का वर्णन एक सौ चालीस ईसवी वर्ष पूर्व Appollodorms ने अपनी पुस्तक Bibliotheca...I...VII—२ में किया है। उसके अनुसार Zeus ने अपने पिता की इच्छा-पूर्ति के लिए ताम्र-युग के व्यक्ति Deukalion का विनाश करना चाहा। अपनी रक्षा के हेतु deukalion ने एक कवच का निर्माण किया। उसीमें वह अपनी पत्नी Pyrrha को लेकर

१. **'मत्स्यपुराण'—प्रथम व द्वितीय अध्याय।**

२. Original Sanskrit Texts— 3rd Edition—Muir I Vol—Page 181-220
II Vol—Page 322-329.
ऋग्वेद—१-६४-१४, २-२७-१०, २-३३-२, २-३५,५-५४-१५, ६-४८-८, ७-३६-१६।

३. Arctic Home in Vedas—Tilak.

४. Vedic Mythology—Macdonell, page 139.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैठ गया। Zeus ने भीषण जल-वृष्टि से समस्त पृथ्वी को डुबो दिया। सभी-कुछ नष्ट हो गया। वे दोनों अपने कवच में ही नौ दिन के पश्चात् Parnassus नामक स्थान पर पहुँचे। उस समय जल-प्लावन कुछ कम हो रहा था। यहाँ उन्होंने देवताओं के लिए अपने अंगरक्षक की बलि दी। प्रसन्न होकर Zeus ने उनकी इच्छा जानने का प्रयास किया। Deukalion बोला कि मुझे सन्तान की कामना है। इस पर पत्थर फेंके गए। जो Deukalion ने फेंके वे पुरुष और जो Pyrrha ने फेंके वे स्त्री हुए।[1]

'बाइबिल' में नूह जल का देवता है। अनायास ही एक दिन उसे सूचना मिलती है कि जीवन का विनाश करने के लिए पृथ्वी पर जल-प्लावन होगा। प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जायगी। (जेनेसिस, ६-१७) इसीके बाद पृथ्वी पर अपार जलराशि छा गई। समस्त पर्वत आदि उसी में विलीन हो गए। (जेनेसिस, ७-१६) सभी चराचर समाप्त हो गए। केवल नूह और उसके साथी नौका में बच रहे। (जेनेसिस, ७-२३) वह नौका अराकन पर्वत पर टिक जाती है। धीरे-धीरे दसवें मास के प्रथम दिवस में जल कम हो गया। पर्वत-श्रेणियाँ दिखाई देने लगीं। (जेनेसिस, ८-५) नूह ही जल-प्लावन-कथा का नायक है। उससे ही मानवता का विकास हुआ।[2] इसी कथा से अन्य कथाओं का भी सम्बन्ध है।[3]

बेबीलोनिया के साहित्य में जल-प्लावन की अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। उन सबका संग्रह परसी हैण्डकाक ने 'बेबीलोनिया की जल-प्लावन-कथाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत लगभग १६२१ में किया था। प्रमुख कथा के अनुसार 'Berossus बेबीलोनिया में तीन सौ ईसवी पूर्व बेल का पुरोहित था। उसने प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर जल-प्लावन का वर्णन किया है।' उसने लिखा है कि 'Ardates की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र Xisuthros ने लगभग अठारह सर (१८×३६०० वर्ष) तक राज्य किया। उसी समय एक भीषण बाढ़ आई। राजा को स्वप्न में ही इसका आभास मिल गया था। समस्त भू-भाग के जलमय हो जाने पर भी वह अपनी नौका में ही बना रहा। जल का वेग कम होने पर उसने तीन बार पंछी उड़ाए। अन्तिम बार पंछी लौटकर नहीं आया, तभी Xisuthros ने समझ लिया कि अब जल-प्लावन कम हो चुका है और वह बाहर निकला। उसने तत्काल देवताओं को बलि दी तथा बेबीलोनिया का नव-निर्माण किया।'

इसके अतिरिक्त 'गिलगमेश' महाकाव्य में भी जल-प्लावन का सजीव चित्रण हुआ है। गिलगमेश ने उपनपीश्तम से बातें कीं। उसने रहस्यमय घटना का उल्लेख करते हुए बताया कि शूरिपाक (Shurippak) नामक नगर यूफ्रेट्स (Euphrates) के किनारे स्थित है। वहीं भीषण जल-प्लावन हुआ। Muir kukki ने जल-वृष्टि की। Adad ने विद्युत् को दौड़ा दिया। सातवें दिन वातावरण कुछ शान्त हुआ। तभी मानवता का विकास हुआ।[4] बेबीलोनिया और 'बाइबिल' की कथाओं में अनेक साम्य मिलते हैं।

१. Bibliotheca—Applodorms—I—VII—2
२. Bible of the World—Robert O. Bellon (1946) page 649.
३. The Riks—T. Paramsiva Iyer (1911) page 152.
४. Epic of Gilgamesh—Canto XI.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहलवी ग्रंथों के अनुसार सृष्टि-सृजन के पूर्व एक पारस्परिक विवाह हो गया। आकाश, जल, वायु आदि से दानवों का संघर्ष हुआ।[१] फारसी के धार्मिक ग्रंथों में देवताओं ने विचार-विमर्श के अनन्तर यह निर्णय किया कि अपार शीत के साथ हिम-पात से एक भीषण बाढ़ लाई जाय। यीमा को संकेत कर दिया गया कि वह अपनी रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध कर ले। उसने यही किया।[२] सुमेरियन ग्रन्थों में Zi-u-Suddu ने स्वप्न में ही जल-प्लावन का संकेत पा लिया था। वही जल-प्लावन सात दिन तक रहा। परिनिपीश्तम् जल के बीच रहने वाले देवता थे। चीन में भी Shih राजा के समय में zu की बुद्धिमत्ता का वर्णन है।[३]

इस प्रकार जल-प्लावन की कथा प्राचीन जातियों के पुरातन ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। इनमें से सभी की वास्तविकता अथवा वैज्ञानिक आधार की पुष्टि सम्भव नहीं। धार्मिक आधार होने के कारण ये कथाएँ प्रायः इतिहास की दृष्टि से नहीं लिखी गईं। इनका लक्ष्य मानव का आध्यात्मिक विकास है।[४]

'कामायनी' की भूमिका से स्पष्ट है कि प्रसाद ने कथावस्तु का ग्रहण भारतीय ग्रन्थों से किया है। कल्पना का अधिकाधिक आश्रय उन्होंने लिया, क्योंकि वे 'कामायनी' को एक गाथा अथवा धार्मिक ग्रन्थ नहीं बना देना चाहते थे। मानवता का मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक चित्र प्रस्तुत करना ही उनका प्रतिपाद्य विषय था। 'डिवाइन कामेडी' के पौराणिक दोष 'कामायनी' में नहीं हैं। ऐतिहासिक आधार होते हुए भी कवि ने कल्पना के द्वारा नवीनतम विषयों को ग्रहण किया है।

'कामायनी' का आरम्भ ही जलमय पृथ्वी के वर्णन से होता है। इसके पूर्व की घटना छोड़ दी गई है। इसी अवसर पर 'एक पुरुष' के अस्तित्व का परिचय दिया गया है। हिमगिरि उत्तुङ्ग शिखर का वर्णन तो सभी में मिलता है। जिस 'एक तत्त्व की प्रधानता' का उल्लेख कवि ने किया है, वह जल और हिम के समीप है। जल और हिम दोनों में एक ही तत्त्व प्रमुख था। जड़ अथवा चेतन! जिस तपस्या का वर्णन 'मत्स्य पुराण' आदि में है, उसीका एक आभास 'तरुण तपस्वी' की साधना में मिल जाता है।[५] कवि ने इसी स्थल पर प्रथम पुरुष के पौरुष-मय स्वरूप का अत्यन्त सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। पौराणिक गाथाओं ने जिस दिव्य शक्ति और तेज से मनु को विभूषित किया है, उसे यहाँ स्थान नहीं दिया गया। 'कामायनी' का मनु पूर्ण मानव के रूप में सम्मुख आता है। मानव की सार्थकता इसी स्वतन्त्र चित्रण के कारण है। मनु जीवन की स्वाभाविक दुर्बलताओं से युद्ध करता हुआ ही परम लक्ष्य तक जाता है।

---

१. 'The sacred conflict was waged with water...........'
—The Bible of the World (1938) Page 628

२. Song Venidad—given by Ushar, translated by Geldner, Page 208.

३. Sacred book of China—Texts of Confucianism—Part 1st.

४. 'But the story of such a flood can neither be verified nor disproved historically. And consequently its value must lie in the moral and spiritual lessons it is designed to teach.'
—A New Standard Bible Dictionary (1926) Page 269.

५. 'कामायनी,'—'चिंता' सर्ग का आरंभिक अंश।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि आज भी उसे देवत्व के मधुर स्वप्न याद आते हैं, किन्तु उसे बोध हो गया है कि वह अपूर्ण था। वह कहता है :

'भोले थे, हाँ तिरते केवल,
सब विलासिता के नद में,'

जलप्लावन के उतरने के साथ ही पृथ्वी बाहर निकलने लगी। 'एक पुरुष' की नौका महावट से बँधी है। आगे चलकर वह उत्तरगिरि के सिर से टकराती है। 'शतपथ ब्राह्मण' में भी मनु की नौका 'उत्तरगिरेर्मनोरवसर्पणं' में एक वृक्ष से बाँध दी गई थी।[1] यह उत्तरगिरि स्थान हिमालय में ही है। आगे चलकर 'इड़ा' सर्ग में वृत्रघ्नी (सरस्वती) का भी वर्णन आया है। इस जल-प्लावन-स्थान और मनु के नौकावरोहण के विषय में प्रसाद जी का विचार है कि—'मेरु और उसके पास ही उत्तरकुरु का वर्णन है। कई प्राचीन ग्रंथों में मेरु के साथ ही उत्तरकुरु का नाम आने से प्रतीत होता है कि ये दोनों ही एक-दूसरे के निकट हैं। उत्तरकुरु प्रदेश भारतीय उपाख्यानों में पूर्वजों का पवित्र देश कहा गया है। 'भीष्म पर्व' में भी इसका विस्तृत वर्णन है। वहाँ के व्यक्ति शुक्ल वर्ण (गौर) अभिजातसम्पन्न, नीरोग और दीर्घजीवी होते थे।'[2] 'बृहत्संहिता' में भी कहा है :—

'उत्तरतः कैलासो हिमवान वसुमान गिरिर्धनुष्मांश्च
क्रौंचो मेरुः कुरवो तथोत्तराः क्षुद्रमीनाश्च ॥ १४-२४ ॥

इस विषय में अविनाशचन्द्र दास जी का भी मत है कि—'सप्तसिन्धु उत्तर-पश्चिम की ओर गान्धार प्रान्त के द्वारा पश्चिमी एशिया अथवा एशिया माइनर से मिला हुआ था।'[3] इतिहास स्वयं इस सत्य का प्रमाण है कि प्राचीन आर्यावर्त की सीमा बड़ी दूर तक थी।

जल-प्लावन के समय चराचर का कोई भी चिह्न शेष नहीं रह गया था। इसे 'कामायनी' में 'वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी, पहचानी-सी' कहकर स्पष्ट किया गया है। इसी विकराल स्थिति के वर्णन के पश्चात् मनु के हृदय का झंझावात दिखाया गया है। यह मनोवैज्ञानिक है। साथ ही भारतीय दर्शन में मनु से मन का भी अर्थ लिया जाता है। इस स्थिति द्वारा ही प्रसाद जी देव-दानव की अपूर्णता बताकर मानव को सर्वोपरि बताते हैं। मनु की चिन्ता के मूल में 'एकोऽहम् बहु स्याम' का बीज निहित है। 'शतपथ' के इड़ा अंश को यहाँ छोड़ दिया गया है। किन्तु वही इड़ा अन्त में जाकर मनु से मिलती है।

मानसिक झंझावात के समाप्त होते ही 'एक पुरुष' प्रलय अथवा जल-प्लावन का दृश्य प्रथम बार अपनी आँखों से देखता है :

दिग्दाहों से धूम उठे या, जलधर उठे क्षितिज तट के।
सघन गगन में भीम प्रकम्पन, झंझा के चलते झटके।

---

१. अमीवरम् वैखावृत्तेनावं प्रति वंदनीय
'—शतपथ ब्राह्मण' (माध्वीय) ८-०

२. प्रसाद जी का लेख 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्'
—कोशोत्सव स्मारक संग्रह (सं० १९८९) पृष्ठ १६२

३. Avinash Chandra Das—Rigvedic India—Page 560.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निःश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास॥

'कामायनी' के इस जल-प्लावन-दृश्य का समर्थन तद्विषयक प्रायः सभी भारतीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'बाइबिल' के वर्णन में भी प्रकृति की यही स्थिति थी—'अन्धकार के स्वामी ने सन्ध्या-काल भीषण जल-वृष्टि की थी। सन-सन पवन, जल, झंझावात आदि पृथ्वी पर छा गए थे।'[1] 'गिलगमेश' महाकाव्य का चित्र यही है। 'मत्स्य पुराण' में कहा गया है, 'सारी पृथ्वी जल से आप्लावित होकर समुद्र में डूब जायगी।' वाडव ज्वाला, जलधि और झंझा का प्रयोग प्रसाद जी ने किया है। इस प्रकार 'कामायनी' का जल-प्लावन चित्र ऐतिहासिक तथा पौराणिक दृष्टि से सार्थक है।[2] इसी स्थल पर कवि ने मानवीय भावनाओं का भी निर्देश किया है। 'एक पुरुष' के 'भीगे नयन' थे, भीषण रव से धरती काँप रही थी, मानों आलिंगन के हेतु नील व्योम उतरा हो। उदधि अखिल धरा को डुबाकर 'मर्यादाहीन' हो गया था।

जिस नौका का वर्णन अन्य पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है, वह अमानवीय थी। उसे देवताओं ने दान दिया था, अथवा उस पर प्रलय का कोई प्रभाव न पड़ सकता था। 'कामायनी' की नाव में भी डाँड अथवा पतवार नहीं लगते। वह तरल तरंगों से उठ-गिरकर 'पगली' बारम्बार बहती है।

मनु की इस नौका को 'कामायनी' में महामत्स्य का एक चपेटा उत्तर-गिरि के सिरे से लाकर टकरा देता है। यह 'चपेटा' शब्द कवि की स्वतन्त्र कल्पना है। अन्यथा प्राचीन आख्यानों में वह मत्स्य के पंख में बँधकर हिमवान प्रदेश पर पहुँचती है।[3] इसी के पश्चात् 'एक पुरुष' पुनः जीवन की मरुमरीचिका पर विचार करने लगता है। आरम्भ का आन्तरिक झंझावात पुनः आरम्भ हो जाता है। यह एक स्वाभाविक क्रम है कि किसी घटना अथवा दृश्य से मानव की स्मृति और विचारणा सजीव हो उठती है। उसीके पश्चात् उसी स्थिति का वर्णन आता है :

पवन पी रहा था शब्दों को, निर्जनता की उखड़ी सांस।
टकराती थी, दीन प्रतिध्वनि, बनी हिमशिलाओं के पास॥

वहीं एक स्थान पर 'तिमिंगिल' का प्रयोग हुआ है। तिमिंगिल बड़ा मत्स्य है, जो छोटों को खा जाता है। मनु से शफरी ने इसी से रक्षा करने की प्रार्थना की थी।[4]

इस प्रकार 'चिन्ता' सर्ग में जल-प्लावन का वर्णन हुआ है। एक पुरुष, हिमगिरि, नौका, प्रलय, प्रकृति आदि का चित्र 'शतपथ ब्राह्मण', 'पुराण' आदि भारतीय ग्रन्थों के समीप है।

जल-प्लावन के पश्चात् ही 'आशा' में सृष्टि के नव-विकास का उदय होता है :

१. The appointed time arrived. The ruler of darkness at eventide sent a heavy rain......The wind blew, the Flood, the tempest overwhelmed the land—Epic of gilgamesh, canto XI.

२. 'कामायनी' की भूमिका—"इन्हीं सबके आधार पर 'कामायनी' की कथा सृष्टि हुई है।"

३. ......तस्य नावः पाशं शृङ्गे प्रतिमुमोच तेन हैतमुत्तरं गिरिमभिदुद्राव
शतपथ ब्राह्मण ८-१-३।

४. शतपथ, महाभारत वन-पर्व—मत्स्योपाख्यान आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उषा सुनहले तीर बरसती, जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई।

यही पुनरुत्थान सभी जल-प्लावन-कथाओं में मिलता है। प्रलय शान्त हो जाती है और नवीन मानवता जन्म लेती है। यहीं पर मनु को जीवन के प्रति मोह उत्पन्न होता है। वे नभ के गानों में शाश्वत रहना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' के मनु को भी इड़ा प्रलय के पश्चात् ही मिल जाती है। क्या उन्हींसे मानवता का जन्म होता है।[1] 'बाइबिल' में भी नूह को भावी सृष्टि के विकास का वरदान मिला था। इस विषय में सभी कथाएँ एकमत हैं कि शेष व्यक्ति ही से मानवता का विकास होता है। प्रसाद ने 'आशा' में ही भावी मानवता के प्रति एक सूक्ष्म संकेत कर दिया है। यहीं पर प्रथम बार वे 'एक पुरुष' को मनु की संज्ञा देते हुए कहते हैं:

'देखा मनु ने वह अति रंजित, विजन विश्व का नव एकान्त'

'प्रहर दिवस कितने बीते' से प्रलय-काल का निर्णय प्रसादजी ने कर दिया है।

'कामायनी' के आरम्भिक मनु केवल इसी कारण यज्ञ करते हैं कि 'क्या आश्चर्य है, और कोई जीवन-लीला रचे हुए हो।' वे अवशिष्ट अन्न कहीं कुछ दूर पर रख आते थे। उन्हें इसमें सहज सुख मिलता था कि इससे कोई अपरिचित तृप्त होगा। यह कामना 'शतपथ ब्राह्मण' के इड़ा-उत्पत्ति-कारण से सम्बन्ध रखती है। अन्त में 'श्रद्धा' सर्ग में सृष्टि का यह विधान पूर्ण हो जाता है।

प्राचीन आलेखों के अनुसार प्रलय के दो स्वरूप हैं—प्रलय और महाप्रलय। शैव-दर्शन के अनुसार महाप्रलय की दशा में आणव, कर्म आदि नष्ट हो जाते हैं। आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है। यहाँ कर्म का प्रयोग अतिशय व्यापक अर्थ में किया गया है। नैयायिक और वेदान्तवादी इसे नहीं मानते।[2] प्रलय में आत्मा कर्मानुसार एक निद्रा (सुषुप्ति) में निमग्न हो जाती है। सांख्य के अनुसार सत्व, रजस्, तमस् गुण समान स्थिति में आ जाते हैं। किन्तु वैशेषिकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु परमाणु में परिवर्तित हो जाती है।[3] प्रलय की दशा में जो कर्म सो जाता है, वही जाग्रति में सृष्टि का सृजन करता है। किन्तु महाप्रलय के पश्चात् निर्माण सम्भव नहीं। इस दृष्टि से 'कामायनी' की जल-प्रलय साधारण प्रलय है। तभी कर्म से नवीन मानवता का विकास हो सका।

'कामायनी' के प्लावन-वर्णन में आये हुए मनु प्राचीन आलेखों में वर्णित मनु के प्रतिरूप हैं, यह प्रश्न भी विचारणीय है। प्रलय के पश्चात् बच रहने वाले और नये सिरे से सृष्टि का विकास करने वाले मनु के भारतीय जनश्रुति में कई रूप मिलते हैं। वेद मनु को कर्मकाण्डी ऋषि के रूप में स्वीकार करते हैं। वे यज्ञ करते हैं तथा प्रथम अग्निहोत्र को प्रज्वलित करते हैं।[4] वे 'विश्वदेव' हैं। ऋग्वेद में कहा गया है:

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनु समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ १०-६३-७.

---

१. तद्यज्ञस्य यदन्तरा प्रयाजानुयाजान्—शतपथ-८-१-७
२. 'वेदान्त सूत्र'—शांकर-भाष्य—४०७
३. K. C. Pande—Abhinavagupta, 1935, Page 231.
४. ऋग्वेद—१-४४-११; ३-३४-३; १०-६३-१५.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये 'श्राद्धदेव' मनु मानवता के जन्मदाता भी हैं। पुराणों में वैवस्वत मनु का आख्यान मिलता है। 'शिव', 'हरिवंश', 'श्रीमद्भागवत', 'देवी भागवत' आदि में इनकी चर्चा है। 'मनुस्मृति' के मनु ऋषि, जन्मदाता और नियामक भी हैं। 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग तांड्य, ब्राह्मण आदि में भी मिलता है। 'महाभारत' के मनु भी प्रजा का पथ-प्रदर्शन करते हैं। मनु का वर्णन प्रायः सभी भारतीय धार्मिक ग्रन्थों में किसी-न-किसी रूप में मिलता है। उनके समन्वय से हम जन्मदाता, पालनकर्ता, रक्षक और आदि पुरुष का रूप सहज ही पा सकते हैं। प्रलयकालीन मनु का इन सभी से साम्य स्थापित हो जाता है, क्योंकि वे ही सृष्टि का नव-सृजन करते हैं।[1]

'कामायनी' में मनु के चरित्र के कई रूप मिलते हैं। प्रलयकालीन मनु का स्वरूप 'शतपथ ब्राह्मण' आदि ग्रन्थों में प्राप्त हो जाता है। इसीके अनन्तर वे कर्म की ओर अग्रसर होते हैं। मनु का यह रूप वैदिक कर्मकाण्डी मनु के अधिक समीप है। वे आदि-पुरुष हैं और ज्वलित अग्नि के पास बैठकर मनन किया करते थे। उनकी साधना तपस्वी की भाँति है।

इसीके पश्चात् मनु और श्रद्धा का मिलन होता है। श्रद्धा मनु को भावी मानवता के लिए कर्म में नियोजित करती है। 'शतपथ ब्राह्मण' के 'श्रद्धादेवौ वै मनुः' सातवें मन्वन्तर ही हैं, इसकी कोई पुष्टि नहीं। 'भागवत पुराण' में वर्णन आता है :

> ततो मनुः श्राद्धदेवः संज्ञायापयामास भारत।
> श्रद्धायां जनयामास दशपुत्रान् सआत्मवान॥

यद्यपि एक-दो स्थलों पर अपवाद भी हैं, तथापि मनु प्रायः श्रद्धा के पति रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। इड़ा के साथ उनके सम्बन्ध की पुष्टि करने के लिए 'कामायनी' के मनु को 'शतपथ' के निकट ही रखना होगा। श्रद्धा और इड़ा वहाँ लगभग बहनें ही हैं।[2]

'कर्म' सर्ग में मनु की हिंसात्मक प्रवृत्ति जाग उठती है। किलात-आकुलि के साथ वे पशु-बलि करते हैं। अन्य पौराणिक गाथाओं में मनु को इतना नीचे नहीं गिराया गया जितना 'कामायनी' में। 'शतपथ ब्राह्मण' में अवश्य वे इड़ा के साथ व्यभिचार करना चाहते हैं। 'कामायनी' के मनु सोम का प्रयोग करते हैं। उनके कर्म का क्षेत्र ही परिवर्तित हो जाता है। 'ईर्ष्या' सर्ग में मनु मृगया में व्यस्त पुत्र से ही ईर्ष्या करने लगते हैं। अन्त में श्रद्धा को छोड़कर चल देते हैं। यह कवि की कल्पना है। उसने मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को अंकित करने के लिए ही ऐसा किया है। प्राचीन ग्रन्थों की भाँति ही 'कामायनी' के मनु से सृष्टि का विकास होता है।[3]

मनु 'इड़ा' सर्ग में पश्चाताप करते हैं। उनका आन्तरिक झंझावात प्रबल हो उठता है। यहीं काम के शाप में कवि ने आधुनिक दुर्दशा का चित्रण किया है। इड़ा का मिलन मनु को प्रजापति बना देता है। मनु का यह स्वरूप मनुस्मृति की भाँति है। 'शतपथ' और 'ऋग्वेद' दोनों की इड़ा इस स्थल पर आकर उपस्थित हुई हैं। 'ऋग्वेद' के अनुसार इड़ा मनुष्यों पर शासन करती है।[4] यहाँ भी मनु उसके बुद्धिवाद के सम्मुख समर्पण करते हैं। 'स्वप्न' सर्ग में मनु

1. P. Thomos—Epics, Myths and Legends of India—Ist chapter.
२. शतपथ ब्राह्मण ११-२७-२०
३. The human race was renewed through Manu. M. Winternitz—A History of Indian Literature (1927) Vol. I, Page 210.
४. ऋग्वेद—१-३१-११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियमों का उल्लंघन करके इड़ा का आलिंगन करना चाहते हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में तो इस अपराध के लिए देवताओं ने केवल शाप दिया था, किन्तु यहाँ समस्त प्रजा ही विद्रोह कर उठती है।

मनु का अन्तिम रूप श्रद्धा की सहायता से आनन्द का सृजन है। इस स्थल पर वे श्रद्धादेव, श्राद्धदेव तथा सफल प्रजापति के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। यही नहीं प्रसादजी ने उन्हें वेदों के ऋषि के रूप में चित्रित कर दिया है, जिनके दर्शन से मानवता का सारा श्रम दूर हो जाता है। 'दर्शन', 'रहस्य' और 'आनन्द' के मनु आत्मवादी, आनन्दवादी इन्द्र की भाँति हैं। इस प्रकार 'कामायनी' के मनु भारतीय ग्रन्थों से अनुप्राणित कवि की कल्पना के सफल मानव हैं। उनका सम्बन्ध जल-प्लावन से लेकर मानवता के विकास तक है।

'कामायनी' का जल-प्लावन भारतीय आधार पर होते हुए भी सार्वभौमिक हो गया है। पौराणिक पक्ष का परित्याग कर देने से वह वैज्ञानिक दृष्टि से भी सार्थक है। जल-प्लावन के इन मूल स्रोतों से कवि का परिचय अनुमित होता है। भारतीय कथानक को लेकर प्रसादजी ने 'कामायनी' में भावी मानवता का निरूपण किया है। यही कारण है कि 'चिन्ता' का विक्षुब्ध प्रलयकालीन मनु आनन्दवाद तक चला जाता है—और यही जीवन का चरम लक्ष्य है।[1]

१. इस लेख के 'क' भाग के लेखक श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव तथा 'ख' भाग के लेखक डॉक्टर प्रेमशंकर तिवारी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर रामरतन भटनागर

रचना के स्रोत और समीक्षा के मानदण्ड

काव्य-सृजन और काव्यालोचन एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं और सम्पूर्ण प्रक्रिया को पूर्णतया समझने के लिए इन दोनों के गम्भीरतम स्रोतों को समझ लेना अनिवार्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रसानुभव अथवा रस-ध्वनि के सिद्धान्त के अन्तर्गत कवि, काव्य और सहृदय श्रोता अथवा रसज्ञ को एक केन्द्र-विन्दु पर लाने का प्रयत्न किया गया है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सहृदय अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर रस का मानस -- आस्वादन करता है। वह अपनी दैनन्दिन अनुभूतियों को पीछे छोड़ देता है और भावना तथा अनुभूति की एक असामान्य, उदात्त और तटस्थ स्थिति को ग्रहण कर लेता है। रस के अलौकिकत्व को हमें इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में ढूँढ़ना होगा। रसानुभूति मन की आनन्दमयी प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में पाठक ऐसे भाव-लोक में पहुँच जाता है कि वह स्वयं अपने को और अपनी भौतिक स्थिति को भूलकर एक अतीन्द्रिय स्वप्न में विचरण करने लगता है। जिस अतीन्द्रिय आनन्द का उसे अनुभव होता है उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। उसका अपना वैयक्तिक अस्तित्व तिरोभूत हो जाता है और वह चेतना के ऐसे स्तरों में प्रवेश करता है जहाँ उसकी अपनी चेतना सार्वभौम चेतना का अंश बन जाती है। व्यंजना के द्वारा इस व्यापक रसानुभूति की कल्पना भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की सबसे ऊँची उड़ान है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि काव्य का पाठक या श्रोता सहृदय हो, उसमें ऐसे संस्कार हों जिनसे वह कला-कृति से पूर्ण रूप से संयोजित हो सके और उसकी अभिरुचि परिमार्जित हो।

परन्तु हमारे काव्य-शास्त्री 'रस' पर रुक जाते हैं। वह काव्य-सृजन की प्रकृति और उसके विभिन्न स्तरों की खोज नहीं करते। भारतीय साहित्य में कवि-प्रतिभा और कवि-व्यापार की विवेचना अवश्य मिलती है; परन्तु रस, ध्वनि, अलंकार, नायिका-भेद, छन्द-शास्त्र और इन विभिन्न काव्यांगों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही अधिक लिखा गया है। पश्चिम में काव्य-सृजन की प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व को कृति से संयोजित करके काव्य-विवेचन के लिए एक नया मार्ग ही अन्वेषित हो गया है।

पण्डितों ने काव्य-सृजन का मूल स्रोत प्रतिभा को माना है। प्रतिभा का अर्थ है वह कल्पना-शक्ति, वह अन्तर्दृष्टि, जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तु-स्थिति और संयोजना में अपने वैयक्तिक और आकर्षक ढंग से किसी मूर्त वस्तु, परिस्थिति, घटना, विचार अथवा भावोद्रेक की स्थापना करता है। कवि-प्रतिभा की स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, विविध और अदमनीय चेतना ही काव्य के रूप में मूर्तिमान होती है। उसकी स्वतन्त्र और सर्वोपरि सत्ता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। वास्तव में उसे शब्दों में पूर्णतया बाँधना कठिन है, इसीसे पूर्वजों ने उसे लोकोत्तर अथवा वरदान के रूप में माना है। अपने यहाँ वाग्देवी की कल्पना की गई है और काव्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य को उसीका प्रसार बतलाया है। कवि-प्रतिभा के इस लोकोत्तर रूप के समर्थक कवि को माध्यम-मात्र मानते हैं।

परन्तु क्या कवि-प्रतिभा सचमुच लोकोत्तर है? क्या कहीं कवि के बाहर उसका अस्तित्व है? सृजन के क्षण इतने स्फूर्ति-प्राण, केन्द्रीभूत और आनन्दमय होते हैं, उस समय कवि नाम के प्राणी में भौतिक (शारीरिक) और स्नायविक चेतना कुछ इतनी नवीन और वैयक्तिक होती है और उन सृजन के क्षणों का फल कवि की कृति ऐसी अद्‌भुत है कि उसे और कुछ न कहकर लोकोत्तर कह दिया जाता है। काव्य-सृजन साधारण पाठक के लिए विस्मय की ही वस्तु है, अतः रूपक-रूप में उसे लोकोत्तर कहें तो कुछ भी अनुचित नहीं है। साधारण मनुष्य की प्रतिक्षण की काम-काजी अनुभूति से यह इतनी भिन्न है कि उसे विचक्षण ही कहा जा सकता है। परन्तु मनोविज्ञान की नई खोजों से यह स्पष्ट है कि इस अनुभूति में दैवी कुछ भी नहीं है।

काव्य-सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है; जिसमें भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्त्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुम्फित हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संलिश्ष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्त्व भी मिले होते हैं। अभिव्यंजना काव्य-सृजन का ही एक अंग है। काव्य-प्रेरणा के भावुक क्षणों में कवि की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, उसकी निर्मात्री प्रतिभा उद्दीप्त हो उठती है, उसकी अन्तर्दृष्टि के विस्तार के साथ उसकी कल्पना-शक्ति दुःसाहसी बन जाती है और पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्रकृति-वैभव उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। कवि की अन्तश्चेतना के अनेक अदृश्य स्रोत उन्मुक्त हो जाते हैं और उसकी पूर्व स्मृतियाँ और पूर्वानुभूतियाँ उसके मन को नई मूर्तियों, नये अप्रस्तुत विधानों, नये नाद-स्वरों, नये अर्थों, नई लयों और नये संकेतों से भर देती हैं। कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में जिन तत्त्वों ने भाग लिया है, वे सब—उसके घृणा-द्वेष, उसका सूक्ष्म चिन्तन और उसकी चुहलें—एक ऐसी कला-कृति को जन्म देते हैं, जो कवि को भी अपने व्यक्तित्व से भिन्न एकदम नई लगती है। संक्षेप में, कवि के मन का सौन्दर्य उसके अपने अस्तित्व से स्वतन्त्र सत्ता ग्रहण कर लेता है।

यह प्रक्रिया एक साथ सौन्दर्यनिष्ठ, सृजनात्मक और व्यवहारात्मक अर्थात् टेकनिकल है। इसका आरम्भ, मध्य और अन्त सुनिश्चित है। आरम्भ को हम प्रेरणा कह सकते हैं। इस अवस्था में कवि—कलाकार किसी माध्यम के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है। दूसरी अवस्था में वह अभिव्यंजना-कला की ओर विशेष जागरूक रहता है और अन्त में वह निश्चित कला-कृति के निर्माण में समर्थ हो जाता है। यह सारी सृजनात्मक प्रक्रिया एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है। परन्तु कला-कृति पूर्ण होने पर भी अपने बाहर प्रसारित होती है। कलाकार भी मनुष्य है, साधारण प्राणी है और वह भी अपनी परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उसका माध्यम है शब्द, जिनके पीछे अर्थों, भावनात्मक सम्बन्धों, ऐतिहासिक प्रकरणों, सन्दर्भों और भंगिमाओं एवं दृष्टि-कोणों की एक विस्तृत भूमि है। फलस्वरूप जिन शब्दों का प्रयोग कवि अपनी अनुभूति की पूर्णतम व्यंजना के लिए करता है, वही दूसरे के लिए विशेष अर्थ देने में भी समर्थ होते हैं। इस प्रकार सृजन के द्वारा कवि आत्माभिव्यंजना में ही समर्थ नहीं होता, वह पर-बोधक भी बन जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवि का पूरा व्यक्तित्व सृजन में डूब जाता है, माध्यम का उपयोग और उसकी सम्भावनाएँ उसे अद्‌भुत आनन्द से भर देती हैं और जब वह इस प्रक्रिया में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफल होता है तो उसकी सारी अनुभूति ही कला-कृति का रूप ग्रहण कर लेती है। कुछ भी अवशिष्ट नहीं बचता। परंतु फिर भी उस कला-कृति को एक ओर उसके मूल स्रोत, उसकी पृष्ठभूमि और उसकी सर्जन-प्रक्रिया से और दूसरी ओर उसके साहित्यिक, सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित किया जा सकता है। हम उसे परम्परा से आबद्ध कर सकते हैं, अथवा परम्परा की दी हुई उसकी चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। या तो हम उस रचना से आनन्द ग्रहण कर सकते हैं, या उसके गुण-दोषों को उन्मुक्त कर सकते हैं। इस तरह कला-कृति के एक ओर कवि है, दूसरी ओर जागरूक सहृदय पाठक या आलोचक।

कला-कृति का विश्लेषण करते हुए भी हमें पहले कवि की प्रतिभा, उसके रूप, उसकी स्फूर्ति के सम्बन्ध में विचार करना होता है। क्यों प्रतिभा विशेष अवसर पर विशेष प्रकार से क्रियाशील होती है, क्यों वह सदैव क्रियाशील नहीं रहती, क्यों विशेष कवियों और कलाकारों का व्यक्तित्व सदैव प्रवहमान रहता है, जड़ीभूत नहीं हो जाता—ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना आज कुछ कठिन है। हमारे देश में प्रतिभा को संस्कार अथवा वासना की उपज माना गया है और उसको पूर्व जन्मों से सम्बन्धित किया गया है। परन्तु क्या हम आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इस सृजनात्मक प्रतिभा की व्याख्या नहीं कर सकते? प्रत्येक प्राणी में सर्जनात्मक स्फूर्ति का निवास है। इसका एक रूप प्रजनन है। क्या रस इसी प्रकार की कोई सर्जनात्मक स्फूर्ति नहीं है? सामान्य मनुष्य को कला-कृति से जो रसानुभूति मिलती है, वह क्या इससे नितान्त भिन्न है?

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के मन को दो भागों में बाँट दिया है—चेतन और अवचेतन। फ्राइड का कहना है कि चेतन मन अक्रियाशील है, अवचेतन मन विशेष क्रियाशील है। मनुष्य की चेतन क्रियाओं के भीतरी तल में अवचेतन की प्रेरणाओं, स्फूर्तियों और क्रियाओं का ही विस्फोट है। प्रतिभाशाली कवि और कलाकार भी सामान्य मनुष्य है यद्यपि उसे विशेष सर्जन-शक्ति प्राप्त है। उसके परिवेष्टन के तत्त्व अर्थात् उसकी आवश्यकताएँ, स्फूर्तियाँ, सीमाएँ, परिस्थितियाँ इत्यादि उसकी अभिरुचि के निर्माण में भाग लेते हैं। उसका अपना परिवार रहता है और इस परिवार की जातिगत अथवा वर्गगत एवं स्थानीय कुछ विशेषताएँ रहती हैं। उसकी प्रतिक्रिया, उसका ज्ञान, उसका विशेषत्व, उसका व्यवहार और जीवन-दर्शन सब निश्चित रहता है। इसमें से अधिकांश के पीछे उसका वैयक्तिक अथवा समाजगत इतिहास रहता है। यह परिवेष्टन ही उसके मन को गढ़ता है। फिर उसकी शिक्षा दीक्षा, उसका अध्ययन, उसके ज्ञात-अज्ञात निरोध उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। कवि-कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी कला-कृति को विशिष्टता प्रदान करता है।

परन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुत-कुछ है, जो कलाकार अपने परिवेष्टन से ग्रहण करता है। उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर अथवा उसके उपचेतन और अवचेतन मन पर अज्ञान, स्मृति, करण-कारण-सम्बन्ध, भाव-भंगिमा (दृष्टिकोण), व्यवहार और अनुभूति की अनेकानेक छापें छिपी या उभरी रहती हैं। ये कवि की अन्तःप्रेरणा के अदृश्य स्रोत हैं। ये जातिगत या सार्वभौमिक तत्त्व एक अव्यक्त सत्त्व के रूप में कलाकार के व्यक्तित्व में सदैव अन्तर्हित रहते हैं। कवि के अन्तर्जगत् का यह भाग साधारणतः सुषुप्ति की अवस्था में रहता है, परन्तु जब वह एक बार जाग्रत हो जाता है तो वह कवि को अदमनीय स्फूर्ति से भर देता है और उसकी कल्पना में ऐसे तत्त्व समाविष्ट हो जाते हैं, जिनका उसे आभास भी नहीं होता या जो सामान्यतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके ज्ञान, व्यवहार और चिन्तन के विषय नहीं होते। सर्जन के क्षणों में कवि–कलाकार इन्हीं अदृश्य स्रोतों में डुबकी लगाता है। इससे वह अपने व्यक्तिगत बन्धनों से मुक्ति पा जाता है और निर्बन्ध, उन्मुक्त जीवन-चेतना उसकी अनुभूति को नया रूप देने से समर्थ होती है। उसकी कल्पना निर्बाध गति से बहने लगती है। 'निर्झरेर स्वप्नभंग' नाम की कविता में श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर ने जिस स्वच्छन्द, निर्द्वन्द जागृति का चित्रण किया है कुछ उसी प्रकार की जागरण-स्फूर्ति कवि को पकड़ लेती है। यही अद्भुत विस्फोट कवि की अशरीरी सर्जन-प्रतिभा को काव्य-शरीर देता है। इन क्षणों में कवि का पुनर्जन्म होता है—उसकी चारित्रिक परिसीमा टूट जाती है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही क्रियमाण हो उठता है। इस अवस्था में कल्पना, तथ्य, गीति, लक्षणा के तत्त्व एक परिपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र में बँधकर नई कला-कृति के अविच्छिन्न अंग बन जाते हैं। सर्जन के अन्त में संसार को जो नई भेंट मिलती है, वह कवि का मानस-पुत्र होने पर भी उसके अपने व्यक्तित्व से बहुत-कुछ भिन्न होती है। उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। जिस अवस्था में यह सर्जन-प्रक्रिया गतिमान रहती है उसे परिपूर्ण समाधि की अवस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में ध्येता और ध्येय में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। यदि समाधि शिथिल है तो रचना में आत्मचेतन, शैथिल्य और असन्तुलन रहता है। निस्सन्देह सर्जन के क्षणों में कवि भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र में तटस्थ बन जाता है। उसकी इसी स्थिति को हम 'लोकोत्तर' कह सकते हैं।

यह सर्जन कला-कृति का एक छोर है। दूसरा छोर है उसके सौन्दर्य का उद्घाटन, उसका अनुभव, कला-कृति के अर्थों की व्याख्या और उसका मूल्य-निर्धारण। यह आलोचना का क्षेत्र है। श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिए शिक्षा, अनुभूति, सहवेदन, कला-निष्ठा, जीवन और साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, नई प्रतिभा को पहचानने की शक्ति और नये मूल्य-निर्धारण का साहस अपेक्षित हैं। समीक्षक की स्थापनाएँ उसकी अभिरुचि की उच्चता और विशिष्टता पर निर्भर रहती हैं और उसके निर्माण में वे कलागत मूल्य सहायक होते हैं जिन्हें वह मापदण्ड बनाकर चलता है। श्रेष्ठ समीक्षक जब किसी कला-कृति की विवेचना करता है तब वह कला-कृति सामाजिक तत्त्व बन जाती है। उसे उस कला-कृति तक अनेक प्रकार से पहुँचना होता है। कला-कृति के पीछे जो जीवन-सन्देश या तथ्य-स्थापना है, उसमें कलाकार का जो स्वप्न मूर्तिमान हुआ है, उसमें अभिव्यंजना के जिन नये साधनों का उसने प्रयोग किया है और इन विभिन्न उपकरणों में वह जिस प्रकार सन्तुलन स्थापित करने में समर्थ हुआ है—ये समीक्षक के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय हैं। इसके अतिरिक्त वह विशेष कृति की अन्य समान कृतियों से तुलना करता है, उसे नये-पुराने मूल्यों पर परखता है, उसे वर्गनिष्ठ करता है अथवा युग और परम्परा से सम्बन्धित करता है। कला-कृति का रसास्वादन यदि महत्त्वपूर्ण वस्तु है तो उसका मूल्य-निर्धारण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि समीक्षक अपने क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी हो, वह पक्षपात-रहित हो, कला-कृति में वह अपने अर्थों की स्थापना न करे। ऐसे निष्पक्ष अधिकारी समीक्षक ही कला-कृति को नया संवेदन देने में समर्थ हो सकते हैं।

कला के मानों और समीक्षक के मूल्य-निर्धारण में सार्वभौमिकता हो, यह आवश्यक नहीं है। यह सम्भव भी नहीं है। प्रत्येक युग अपने साहित्यिक दाय के परखने के लिए नये मानों का निर्माण करता है। प्रत्येक नये युग का अपना दृष्टिकोण, अपना स्वप्न, अपना पहलू होता है। फलतः किसी एक श्रेष्ठ कला-कृति के चारों ओर समीक्षा के अनेक परत जम जाते हैं। यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं, सैद्धान्तिक समीक्षा भी सदैव अपरिवर्तनशील नहीं रहती। कला के जन्म, उसकी प्रकृति, उसके प्रकार, उसके माध्यम और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति आदि के सम्बन्ध में भी विचार बदलते रहते हैं। परन्तु बदलते हुए मानों और विचारों से श्रेष्ठ कला-कृतियों को हानि नहीं पहुँचती। श्रेष्ठ कला-कृतियाँ जड़ नहीं होतीं। वह जीवन और चेतना से ओत-प्रोत रहती हैं। उनका अपना इतिहास बन जाता है। प्रत्येक युग में उनका सौन्दर्य वृद्धिमान हो जाता है और प्रत्येक नया युग उनमें नया जीवन-सन्देश ढूँढ़ लेता है। काव्य-समीक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह कला-कृति के इस प्रवहमान सत्य को अपने युग की वाणी दे। कलाकार के मन की प्रारम्भिक अस्पष्ट रसानुभूति से लेकर परिपूर्ण कला-कृति तक का बृहद् क्षेत्र उसके लिए दर्पण की तरह उज्ज्वल होना चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि कला-कृति का सौन्दर्यात्मक, रचनात्मक, कलात्मक और समीक्षात्मक मूल्यांकन वस्तुतः उसके अर्थ, सौन्दर्य और रूप का प्रसार-मात्र है।

वस्तुतः कला-कृति को कई कोणों से देखा जा सकता है। कलाकार के लिए वह उसके व्यक्तिगत जीवन का एक अंश, उसका एक अविभाज्य अनुभव, उसके मानस का एक अखण्डित अंग है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को उसमें मन की विभिन्न प्रक्रियाओं का संयोजन महत्त्वपूर्ण जान पड़ेगा। साहित्यिक, सहृदय या समीक्षक के लिए वह वाणी का एक विशिष्ट प्रयोग है और उसकी सफलता-असफलता को वह रस, अलंकार, छन्द, गुण, वृत्ति और ध्वनि की कसौटी पर आँकता है। समाज-विज्ञानी उसमें सामाजिक चेतना देखता है अथवा उसे समसामयिक जीवन से सम्बन्धित करता है। वह वर्ग-प्रेरणा को साहित्य-प्रेरणा से कहीं अधिक महत्त्व देता है। उसके लिए कलाकार और उसकी कला-कृति परिवेष्टन से बाहर की उपज नहीं है और इस परिवेष्टन में कभी-कभी मानव-जाति का सारा विकास सिमट आता है। समीक्षक की दृष्टि से वह ऐसा केन्द्र विन्दु है, जो उसे नये तथ्यों की ओर उन्मुख करता है अथवा पुराने तथ्यों और अभिरुचियों के लिए कंचन-कसौटी का काम करता है। इन सब दृष्टिकोणों से स्वतन्त्र भी कलाकृति का अस्तित्व है। उसमें एक अति भावुक, प्रबुद्ध, जागरूक आत्मा का संवेदन आलेखित है। वह स्वयं एक विशिष्ट इकाई है।

फलतः काव्यालोचन के लिए किसी विशेष दृष्टिकोण का आग्रह वांछनीय नहीं है। उसमें काव्य-सृजन की प्राथमिक अनुभूति से लेकर कवि के व्यक्तित्व, रचना के साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष, उसके सामाजिक परिवेष्टन, उसकी ऐतिहासिक और मूल्यगत विशेषता और उसकी युग-निष्ठा तक सब-कुछ ग्राह्य है। एक तरह से वह कवि के मन का पुनर्निर्माण है। साहित्य-समीक्षा में रचना के विविध शास्त्रीय उपकरणों को विश्लेषित और संश्लेषित किया जाता है, परन्तु यह वस्तुतः कृति के आलोचन का एक अंग-मात्र है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा से बाहर जायँ और रचना में साहित्यकार की मनःप्रवृत्ति, उसकी वर्ग-चेतना और युग-धर्म का प्रतिबिम्ब खोजें और उसे परम्परा और परिवेष्टन से पूर्णतया सम्बन्धित करते हुए भी उसमें कवि की स्वतन्त्र, उदात्त और मौलिक स्फूर्ति की स्थापना करें। परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम नये-नये 'वादों' में कृति के साहित्यिक सौन्दर्य को खो न दें और हमारे लिए कवि का भौतिक परिवेष्टन ही सब-कुछ न हो जाय। प्रत्येक क्षेत्र की तरह समीक्षा के क्षेत्र में भी सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर एजाज़हुसेन

उर्दू-कविता में राष्ट्रीय भावना

उर्दू के जन्म के पूर्व और शताब्दियों बाद भी हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता का वह दृष्टिकोण नहीं था जिसको आज दुनिया राष्ट्रीय जीवन समझती है। स्वयं यूरोप में राष्ट्रीयता की आधुनिक कल्पना १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मानी जाती है। इसकी नींव कुछ पहले पड़ चुकी थी, लेकिन राष्ट्रीयता की इस नई कल्पना को फ्रान्सीसी क्रान्ति से शक्तिशाली सहारा मिला। उसके स्वरूप के लिए किसी देश की जनता का, एक उद्देश्य के साथ एक केन्द्र पर एकत्र होकर शासन-प्रबन्ध के लिए सक्रिय कदम उठाना आवश्यक समझा गया। इसके अतिरिक्त और दूसरी शर्तें भी राष्ट्रीय कल्पना के लिए आवश्यक समझी गईं, जिनसे सम्प्रति हमारा कोई प्रयोजन नहीं। कहना तो केवल यह है कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता की वर्तमान कल्पना उस समय प्रस्तुत न थी, जब उर्दू-साहित्य की उत्पत्ति हुई। उस समय राष्ट्रीय भावना के लिए स्वदेश-प्रेम बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। एक हिन्दुस्तानी के लिए हिन्दुस्तान से प्रेम रखना, यहाँ की ऋतुओं, दृश्यों, फल-फूलों आदि में दिलचस्पी लेना, यहाँ के लोगों को प्यार करना, यहाँ की भाषाओं को अपनाना और इसी प्रकार की कुछ दूसरी मान्यताएँ थीं, जिन्हें हम उस समय की राष्ट्रीयता के तत्त्व मानकर उर्दू की जाँच-पड़ताल करना चाहते हैं।

उर्दू की उत्पत्ति और उसके विकास के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए यह अनुभव होता है कि जब बाहर से आने वाले मुसलमान यहाँ आये और आकर बस गए तो उनको लोगों से मिलने-जुलने और बातचीत करने की आवश्यकता पड़ी। यहाँ के लोगों को भी उनकी भाषा समझने की आवश्यकता पड़ी। कालान्तर में बाहर से आने वालों की भाषा और शब्दों से मिलकर हिन्दुस्तान में एक नई बोली का रूप बनने लगा, जिसकी नींव हिन्दुस्तान ही के बनाये हुए व्याकरण पर रखी गई। धीरे-धीरे एक मुद्दत के बाद भाषा तैयार हो गई। चूँकि भारत में बाहर से आने वालों का प्राधान्य उत्तर की ओर था इसलिए इस बोली का प्रारम्भ उत्तर भारत से हुआ, परन्तु कुछ ऐसे संयोग उपस्थित हुए कि एक अरसे के बाद उत्तर के स्थान पर यह बोली दक्षिण में फलने-फूलने लगी। दक्षिण में इस बोली को फैलाने वाले ऐसे सूफ़ी बुज़ुर्ग और उदार हृदय बादशाह थे जिनके विचार बड़े व्यापक थे। सूफ़ी अपने सिद्धान्तों के कारण धर्म के पाश में ऐसे नहीं बँधे थे जैसे ग़ैर सूफ़ी। वे सदा से स्वतन्त्र विचार वाले और मिलनसार थे। अपने विचारों को फैलाने के लिए उन्होंने दक्षिण की भाषाओं में फारसी शब्द मिलाकर तेजी के साथ दक्षिणी भाषाओं में अपने सिद्धान्तों का वर्णन प्रारम्भ किया। वे सिद्धान्त क्या थे इसका वर्णन करना बेकार है। अभीष्ट केवल यह बताना है कि उन्होंने और बातों के अतिरिक्त धर्म में रूढ़ियों से विद्रोह किया। दूसरे धर्मों की भी सराहना की। उनके दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा की। उनके यहाँ से भी विचारों का अवगाहन किया और उनकी विशेषताओं पर अपने यहाँ मान्यताएँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित कीं। बादशाहों की भी यही दशा थी। वे सचमुच बादशाह थे, विशेषतः सुल्तान मुहम्मद अली कुतुबशाह शाहनशाह, जो अकबर का समकालीन था और उर्दू का पहला ग्रन्थकार कवि। इस वंश के बादशाह भारतीय थे। वे बाहर से नहीं आये थे। इसलिए भी उन लोगों को अपने देश से प्रेम, उसके प्राकृतिक दृश्यों से प्यार और उसमें बसने वालों के प्रति आकर्षण था। अतः कवि-बादशाह के काव्य-संग्रह में भारत के फलों—खजूर, नारियल, जामुन आदि—का उल्लेख बड़े ज़ोर-शोर से किया गया है। ऋतुओं में वसंत और ग्रीष्म पर विशिष्ट कविताएँ मिलती हैं। भारत की विशेष स्त्रियों का भी मनोरंजक उल्लेख है। इसी भाँति उसके समकालीन और परवर्ती सूफ़ी कवियों ने कट्टर धार्मिक मुसलमानों के विरुद्ध बहुत-कुछ आवाज उठाई। भारत के दूसरे धर्मों का भी सम्मान किया और उनको समझाने की कोशिश की कि वे अन्य धर्मों को भी समझें। तात्पर्य यह कि कविता और गद्य दोनों का ही पोषण इसी वातावरण में हुआ। प्रारम्भ से ही उर्दू भाषा भारत के विभिन्न तत्त्वों के प्रति आकर्षित होने लगी थी। सूफ़ियों ने अपनी मिलनसारी और उदारता से इस वृत्ति को बहुत विस्तृत कर लिया था। जब इस भाँति नींव पड़ी तो यह कैसे सम्भव था कि उर्दू अपनी इस उत्तम परम्परा को भी न आगे बढ़ाती? परन्तु इन परम्पराओं को अधिक विकसित करने का अवसर इसलिए न मिला कि यहाँ के लोग किसी विशेष राष्ट्रीय दृष्टिकोण या आन्दोलन के साथ उस समय नहीं चल रहे थे; फिर उर्दू कविता में गज़ल का दौर इस प्रकार चलता गया कि साहित्य की अन्य प्रवृत्तियाँ उसके प्रकाश में धुँधली पड़ गईं। गज़ल का विशिष्ट विषय सौन्दर्य और प्रेम था। उसको राष्ट्रीयता अथवा राजनीति से कोई विशेष सम्बन्ध न था। परन्तु प्रेम के ही सिलसिले में अथवा अन्य कारणों से प्रभावित गज़लों में ऐसे तत्त्व मिल जाते हैं जिनमें देश-प्रेम, जन-साधारण के प्रति आकर्षण, मानवता का सम्मान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। पुराने कवियों के कुछ उदाहरण निम्न हैं :

१. **मुफ़लिसी सब बहार खोती है।**
मर्द का एतबार खोती है। (वली)

२. **मत सहल हमें समझो फिरता है फ़लक बरसों,**
तब खाक के परदे से इन्सान निकलते हैं। (मीर)

३. **मीर के दीनो मजहब को अब पूछते क्या हो, इनने तो**
क़शक़ा खींचा, दैर में बैठा, कब का तर्क-इस्लाम किया। (मीर)

४. **दुनियाँ तमाम गर्दिश इफ़्लाक से बनी।**
माटी हज़ार रंग की इस चाक से बनी। (सौदा)

५. **मदरसा या दैर था या काबा या बुतखाना था।**
हम सभी मेहमाँ थे वाँ एक तू ही साहेबखाना था॥

उत्तर भारत में जब उर्दू के फलने-फूलने का समय आया तो राजनीतिक उत्पातों ने सारे देश की शान्ति ही नष्ट कर दी। औरंगजेब के पश्चात् सन् १७०७ से इस देश में वह राजनीतिक घुड़दौड़ रही कि सारा वातावरण अन्धकारमय हो गया। कभी भारत की सल्तनत के लिए शहज़ादों का आपस में युद्ध करना, एक भाई का दूसरे भाई को मार डालना, कभी राजपूतों से हाथापाई, कभी सिखों से लड़ाई, कभी मराठों का आक्रमण—ये सब आये दिन की घटनाएँ ऐसी हो गईं थीं कि सारे देश में लपटें उठ रही थीं। अमीर-गरीब, मर्द-औरत सभी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्दगी दूभर हो गई थी। केन्द्रीय सत्ता का इस प्रकार बिखर जाना कोई साधारण बात न थी। और सबसे बड़ा वज्रपात तो नादिरशाह का आक्रमण था, जो सन् १७३९ ई० में प्रलय बनकर भारत में आया। उसकी लूट-मार, हत्या और विध्वंस ने दिल्ली की जो दुर्दशा की वह सबको ज्ञात है। उत्तरी भारत के अधिकतर भाग और विशेषतः दिल्ली तक के लिए तो नादिरशाह एटम-बम से कम न था। उसके आने से राज्य और देश की तबाही कई प्रकार से अपनी सीमा को पहुँच गई। इस पृष्ठभूमि में दिल्ली का साहित्यिक-समाज क्या रह गया होगा और साहित्य किस प्रकार फूला-फला होगा, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है। परन्तु इस वातावरण में भी उर्दू-साहित्य बढ़ता रहा, तूफ़ानों में पलता रहा। जीवन की करवटें क्रान्ति के झूले में उसे लोरियाँ देती रहीं। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति में खुदा के अतिरिक्त और कौन याद आया होगा? देश के विनाश ने लोगों की आँखें खोल दी थीं। कितना भी पाषाण-हृदय व्यक्ति क्यों न होता अपने देश की बरबादी पर अफ़सोस किये बग़ैर न रह सकता। और कवि तो अत्यन्त कोमल हृदय वाला और अनुभूतिशील होता है। वह आठ-आठ आँसू रोने से कब रुक सकता था। इस परेशानी में शायद कविता ही अधिकतर लोगों का दर्द भुला सकती थी। अतः लोग कवियों से सान्त्वना प्राप्त करने के लिए बहुत-कुछ निकट आते जा रहे थे और हमारे कवि भी समयानुसार देश की दुर्दशा पर कविताएँ लिखते रहे। इन कविताओं में केवल देश का मर्सिया नहीं था; बल्कि लोगों की अवनति, चरित्र के पतन, शासन की दुर्बलता हर बात पर इन कविताओं में आलोचना प्रस्तुत रहती थी। यह नहीं कि किसी एक कवि ने काम किया, बल्कि हर उल्लेखनीय कवि ने इस प्रकार कविताएँ लिखीं। इन कविताओं को उन्होंने 'शहर आशोब' कहा, जिसमें अपने शहर के परदे में सारे देश की दुर्दशा का दुःख मौजूद है। हातिम, मीर, सौदा, नजीर, जुरअत आदि हर एक के यहाँ ऐसी कविताएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए सौदा की प्रसिद्ध कविता के कुछ शैर देखिए तो अन्दाज हो कि इन लोगों ने उस ज़माने में, जब राष्ट्रीयता का कोई संगठित विचार भी न था, क्या क्या कहा है। इस कविता में उन्होंने बताया है कि शरीफ़ों और बुद्धिमानों की क़द्र खत्म हो गई है। लोगों का स्वाभिमान नष्ट हो चुका है। प्रेम और सौहार्द का पता नहीं, स्वार्थ और षड्यन्त्रों का दौर है। चैन ज़माने से उठ गया है। इस कविता को उन्होंने इस प्रकार प्रारम्भ किया है:

कहा मैं आज ये सौदा से क्यों तू डावाँडोल।
फिरे हैं, जा कहीं नौकर हो ले के घोड़ा मोल।
लगा वो कहने, वे उसके जवाब में दो बोल।
जो मैं कहूँगा तो समझेगा तू कि है ठिठोल।
बता कि नौकरी बिकती है ढेरियों या तोल॥

....

कवी है मुल्क में मुफसिद, अमीर हैं सो जईफ,
टके कहाँ जो हमें दे के हों उन्हींके हरीफ,
न कुछ रबीअ में हासिल न, दरमियाने खरीफ,
जो आमिल अब हैं मुहालात पर सो यों हैं जईफ,
कि जिस तरह किसी हाकिम के घर गँवार हो ओल।

इसी तरह तबाही बयान करते-करते अमीरों का उल्लेख करते हैं तो कहते हैं:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो कोई मिलने को गाहै उन्होंके घर आया,
मिले ये उससे गर अपना दिमाग खुश पाया,
जो जिक्रे सल्तनत उसमें को दरमियाँ लाया,
उन्होंने फेर के अधर से मुँह ये फ़रमाया,
खुदा के वास्ते भाई कुछ और बातें बोल।

कुछ आगे चलकर सेना की दुर्दशा का वर्णन वे यों करते हैं :

पड़े जो काम उन्हें तब निकल के खाई से,
रखें वो फौजें जो मोटी फिरे लड़ाई से,
पियादा है सो डरे सर मुड़ाते नाई से,
सवार गिर पड़े सोते में चारपाई से,
करे जो ख्वाब में घोड़ा किसी के नीचे अलोल।
न सर्फे खास में आमद न खालसा जारी,
सिपाही जा मुतसद्दी सभों को बेकारी,
अब आगे दफ्तरे तन की में क्या कहूँ ख्वारी,
सवाले दस्तखती फाड़ करके पंसारी—
किसी को आँवले दे बाँधकर किसी को कटोल।
सो क्या वो नौकरी, कटती है जिसमे यों औक़ात,
मिले है पेट को रोटी सो रो-रो आधी रात,
जो चाहें तन ढपे इसमें सिर आगे पीछे हात,
और उसपे यह कि वो तब ठहरे रोजे मौजूदात,
जो पाँचों बाँधे हैं हथियार और छठी पिस्तौल॥

किसी के याँ न रहा आसिया से ताब उजाग,
हजार घर में से एक घर में अब जले हैं चिराग,
सो क्या चिराग वो घर है घरों के ग़म से दाग़,
और उन मकानों पे हर सिम्त रेंगते हैं उलाँग,
जहाँ बहार में सुनते थे बैठकर हिंडोल।
खराब है वो इमारत क्या कहूँ तुम पास,
कि जिनके देखे से जाती रही थी भूख और प्यास,
और अब जो देखो तो दिल होवे जिन्दगी से उदास,
बजाये गुल, चमनों में कमर कमर है घास,
कहीं सतून पड़ा है कहीं पड़े मिरग़ोल।
ये बाग खा गई किसकी नज़र नहीं मालूम,
न जाने किनने किया इस जमी पै मक़दमें शूम,
जहाँ थे सवो सनोबर अब उस जगह है जकूम,
मची है जाग जगन सेते अब चमन में धूम,
गुलों के साथ जहाँ बुलबुलें करें थी किलोल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहानाबाद तू कब इस सितम के काबिल था,
मगर कभू किस आशिक़ का यह नगर दिल था,
कि यों उठा दिया गोया कि नक्शे बातिल था,
अजब तरह का ये बहरे जहाँ पै साहिल था,
कि जिसकी खाक से लेती थी खल्क मोती रोल।

स्थानाभाव के कारण यहाँ पूरी कविता नहीं दी जा सकती, इधर-उधर के कुछ टुकड़े आपके सम्मुख प्रस्तुत हैं। इससे आपको अन्दाज हो सकता है कि उस समय के कवियों ने भी देश के हर वर्ग को दृष्टि के सामने रखा था। अन्तिम बन्द में जहानाबाद के जिस स्तर का उल्लेख है उसके महत्त्व को कोई भुला नहीं सकता। सम्भवतः यह प्रश्न उठे कि जहानाबाद अर्थात् दिल्ली का ही उल्लेख क्यों किया गया। उत्तर यह है कि उस समय दिल्ली की तबाही सारे देश की बरबादी का चित्र प्रस्तुत कर रही थी। जहाँ केन्द्रीय शासन था, जहाँ अधिक-से-अधिक शान्ति होनी चाहिए थी जब वहाँ की दशा यह हो तो दूसरे भागों का अनुमान इससे कर लीजिए। सौदा। (जिनके ये शेर हैं।) संयोगवश शाही सेना में भी नौकर रह चुके थे। इसलिए उनको सेना आदि की दशा भली भाँति ज्ञात थी। इन काव्यों के अतिरिक्त उर्दू के अन्य साहित्यिक रूपों में भी स्थान-स्थान पर समय की दशा का परिचय मिलता है। और कवियों के स्वतन्त्र विचारों का पता चलता है। उदाहरणतः वली ने सूरतनगर पर एक कसीदा कहा। नजीर अकबराबादी ने हिन्दुओं के त्यौहारों पर उसी जोर के साथ कविताएँ रचीं जैसे मुसलमानों की ईद आदि पर। होली, वसन्त और इसके अतिरिक्त मेले-ठेले पर, जिनका जनता से सम्बन्ध है, बराबर कुछ-न-कुछ कहते रहे। कृष्णजी की प्रशंसा में उन्होंने बड़ी लम्बी और अच्छी कविता लिखी है। इनके अतिरिक्त समाज की दूसरी विशेषताओं को भी उन्होंने अपनी रचनाओं में स्थान दिया। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत में उत्पातों के साथ उर्दू अपना रंग बनाये हुए आगे बढ़ती रही रही। साथ ही इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसे तत्त्व भी आते रहे जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीयता से नहीं बल्कि व्यक्तित्व से है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन अथवा ऐसी विचार-धाराएँ किसी संगठित रूप में भारत में प्रचलित थीं। अपने-अपने ढंग से लोग सोच और लिख रहे थे। साहित्य में भी इसी तरह की झलक मिलती है।

इस युग के कवियों का देश-प्रेम इस सीमा तक था कि जब तक सम्भव हुआ राजाओं को भी यह अवसर न दिया कि मात्र रुपये के कारण अपनी भूमि छोड़कर चले जाने के लिए उन्हें आकृष्ट कर सकें। सौदा ने उजड़ी हुई दिल्ली को वैभवशाली लखनऊ से श्रेयस्कर माना, बादशाह के बुलाने पर भी काफी अरसे तक दिल्ली में पड़े रहे। नजीर अकबराबादी को आगरा से कहीं जाना जिन्दगी-भर पसन्द न हुआ। हैदराबाद के दरबार से बुलावा आया पर वह न गये। अपनी फकीरी में मस्त रहे। मीर ने जब विवश होकर दिल्ली छोड़ी और लखनऊ की राह ली तो उनकी भावनाओं की कल्पना इस छोटी-सी कविता से की जा सकती है, जिसको कहा जाता है कि लखनऊ पहुँचने पर उन्होंने मुशायरे में पढ़ा था। लखनऊ वालों की छेड़-छाड़ पर उन्होंने सबको सम्बोधित करके कहा :

क्या बूदोबाश पूछो हो, पूरब के साकिनों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमको गरीब जान के हँस-हँस पुकार के।
दिल्ली जो एक शहर था आलम में इन्तिखाब,
रहते थे मुन्तखिब ही जहाँ रोजगार के।
जिसको फलक ने लूट के वीरान कर दिया,
हम रहने वाले हैं उसी उजड़े दयार के।

स्वदेश-पूजा का यह दृष्टिकोण पुराने समय में कुछ विचित्र-सा था। जो जिस जगह रहता था उतने ही को अपना देश समझता था; जिस शहर में, और कभी-कभी जिस कस्बे में लोग रहते थे उसीको अपनी मातृभूमि मानते थे। उसके साथ स्वदेश में रहकर भूखों मरना, देश छोड़कर दूसरे नगर में खाने-कमाने के लिए जाने से अच्छा समझते थे। अतः मीर, नजीर, सौदा आदि (जिनका उल्लेख हमने ऊपर किया) जहाँ अपनी मातृभूमि समझते थे वहाँ से हिलना अनुचित मानते थे। इस दृष्टिकोण को आज संकुचित समझें या उसका मजाक उड़ाएँ, किन्तु बात कुछ इसी प्रकार की थी। आधुनिक युग में हाली ने इस बुराई को दूर करने की चेष्टा की। उन्होंने अपनी मसनवी 'हुब्बे वतन' में बहुत अच्छे ढंग से समझाया है कि देश-प्रेम इसे नहीं कहते कि अपने घर में बेकार पड़े रहिए और दूसरी जगह जाने की न सोचिए। देश-प्रेम की अभिव्यक्ति विभिन्न रीतियों से हो सकती है। हाली के बाद इकबाल ने प्रारम्भ में इस दृष्टि को बनाये रखने की चेष्टा की, बाद में उन्होंने इसका अत्यन्त विरोध किया और कहने लगे कि स्वदेश कोई विशिष्ट स्थान नहीं, दुनिया का प्रत्येक भाग स्वदेश है। वे पुकारने लगे कि **"मुसलिम हैं हम वतन है सारा जहाँ हमारा।"** मैं यहाँ स्वदेश-पूजा के दृष्टिकोण पर बहस नहीं करना चाहता। बताना केवल यह है कि पुराने समय में विचार-धारा क्या थी और अब क्या है। जिस युग में जिस कवि ने स्वदेश-प्रेम की अभिव्यक्ति की है वह अपने समय के अनुसार सही हो सकता है और हमारे पुराने कवियों ने जो कुछ लिखा है वह देश-प्रेम के दृष्टिकोण के विवाद से अलग, अपने स्थान पर सराहनीय वस्तु थी। वे अपनी मातृभूमि की रीतियों, उसके दृश्यों आदि से प्रभावित थे और दिल खोलकर उस पर कविताएँ लिखते थे तथा किसी विशेष धर्म अथवा सम्प्रदाय से आक्रान्त होकर चुप न हो जाते थे।

प्राचीन एवं आधुनिक युग की सीमान्त-रेखा भारत की एक जबरदस्त ऐतिहासिक घटना है, जो सन् १८५७ में विदेशी राज्य के विरुद्ध हुई। इस विद्रोह में सदा से अधिक भारत की जनता ने विदेशी राज्य के विरुद्ध एकदिल होकर आवाज या तलवार उठाई थी। बिना किसी विवाद के हम इसे राष्ट्रीय आन्दोलन मानते हैं और समझते हैं कि जो प्रयास किया गया था वह राष्ट्र-व्यापी था। जन-साधारण एवं विशिष्ट वर्ग दोनों ही समान रूप से इसमें भाग ले रहे थे। परिणाम जो-कुछ हुआ वह सब जानते हैं। पर यह भी समझते हैं कि पराजय के बावजूद भी भारतवासियों को एक केन्द्र पर किसी राष्ट्र-व्यापी कार्य के लिए इकट्ठा करने का रास्ता खुल गया। इस आन्दोलन की प्रतिक्रिया उर्दू-साहित्य में कहाँ तक मिलती है इसको आँकना यहाँ तो सम्भव नहीं परन्तु विहंगम दृष्टि से हमें यह अवश्य देखना है कि उर्दू की राष्ट्रीयता ने कहाँ तक अपनी भुजाओं को इस आन्दोलन से सशक्त किया और इस सिलसिले में उर्दू-साहित्य को क्या लाभ हुआ।

सन् १८५७ या उसके आस-पास के काल का प्रभाव उर्दू-साहित्य पर न पड़ना असम्भव था, क्योंकि उर्दू की प्रकृति और वृत्ति के अतिरिक्त ऐसे शासक भी थे, जो उर्दू के कवि और भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लोकप्रिय बादशाह थे। उनके जीवन पर सीधे इस घटना का प्रभाव पड़ा। दिल्ली में बहादुरशाह 'ज़फ़र' और लखनऊ में वाजिदअलीशाह विदेशी राज्य के साथ जिस तरह तबाह हुए उसके बताने की आवश्यकता नहीं। उनका राज्य गया, स्वतन्त्रता गई, देश छूटा, घर से बेघर हो गए। इन दुर्घटनाओं के बाद भी इन कवि-बादशाहों की वाणी बन्द कैसे हो सकती थी। इन लोगों ने अपनी विपत्ति का वर्णन किया और अपनी प्रजा तथा अपने देश का भी दर्दनाक हाल सुनाया। उनके शेरों के अतिरिक्त भी हमको उर्दू-साहित्य में ऐसा काव्य मिलता है जो १८५७ के हत्याकाण्ड, लूट-मार और तबाही का चित्र उपस्थित करता है। इसी ज़माने में मुन्शी मुनीर शिकोहाबादी बड़े प्रसिद्ध कवि हुए। उनको भी राज-द्रोह में अंग्रेजों ने काला पानी भेज दिया था। उनकी जबान से कुछ उस समय की दशा की कल्पना कीजिए कि हमारे कवियों का सोचने का ढंग क्या था:

अमीरों से बलायें ग़द्र पहुँची उन ग़रीबों तक,
कि बेदरदी व ज़ोफ़ेहाल में जिनका नहीं सानी।
अदालत इन दिनों ऐसी बढ़ाई है ज़माने ने,
कि शमशीरों गुलू पीते हैं एक ही घाट पर पानी।
बनाई बेड़ियाँ तलवार को तुड़वा के गर्दू ने,
किया अरबाबे जौहर को हरेक हीले से ज़िन्दानी।
बहादुर नौहागर है मातमें मरगे शुजाअत में,
बजाये नारये शेराना सीखे मरसिया ख़ानी।
जहाँ देखो सड़क पर मजमये वहशत की कसरत है,
नज़र आता है हर मेले में अंबोहे परेशानी।
अदालत से मिली है चुग़ दो, बूमो जाग़ की डिगरी,
हुई है ज़ब्त मिलके बुलबुलो ताऊसे बुस्तानी।
गुलिस्ताने अरम में धूम है मरघट की दावत की,
तकल्लुफ से हैं कैसरबाग में घूरे की मेहमानी।

इसके बाद वह चित्र खींचते हैं कि सारे भारत में मौत नज़र आती है, जहाँ देखो लोगों को फाँसी दी जा रही है। खून बहने का यह हाल है कि:

कुटी सुरखी सड़क पर जानते हैं देखने वाले,
हुआ है खूने नाहक से यह फ़रशे ख़ाक अफ़शानी।

आगे चलकर बताते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे किस तरह मौत की नींद सुलाये गए। औरतों को गेहूँ क्या भूसी भी न मिल सकी। इस प्रकार के वर्णन उर्दू-साहित्य में भरे पड़े हैं। स्थानाभाव के कारण हम अधिक उदाहरण नहीं दे सकते।

सन् १८५७ तक उर्दू में गज़लों का प्राधान्य था, और वस्तुएँ अपेक्षाकृत कम हैं। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय और गजल की विषय-वस्तु पर विचार किया जाय तो साहित्य में राष्ट्रीयता के तत्त्व काव्य के इस रूप में अन्य रूपों से कम नहीं। गजल का विशिष्ट विषय प्रेम था और प्रेम भी वह जो प्रकाशमान हो, जिसके द्वारा मनुष्य संकुचित दृष्टि की परिधि से छूट जाता है। मानव-मात्र के प्रति अनुरिक्त होती है और धर्म एवं सम्प्रदाय की रुकावटें दूर हो जाती हैं। प्रेम का अंश इतना बढ़ जाता है कि वह हर वस्तु को प्रेम की ही दृष्टि से देखने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगता है। सामाजिक रूढ़ियाँ, जो मनुष्य को मनुष्य से मिलने नहीं देतीं, उनसे वह विद्रोह करता है। इसके अतिरिक्त गज़ल की टेकनीक और विषय-वस्तु दोनों ऐसी थीं कि वे अपनी परिधि में अधिक-से-अधिक मानवता को समेटती रहीं। विभिन्न विचारों और प्रवृत्तियों के लोग एक जगह होकर इस घाट पर पानी पीते रहे। उर्दू का सबसे बड़ा केन्द्र गज़ल ही था, जहाँ अधिक-से-अधिक हिन्दू, मुसलमान, ईसाई एक होकर काव्य का रसास्वादन करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह से गजल भी बिखरे हुए दानों को एक माला में गूँथती रही और राष्ट्रीय तत्त्वों का एक बड़ा मोर्चा बनकर राष्ट्रीयता की रक्षा करती रही।

सन् १८५७ के बाद से भारत में राजनीतिक पद्धतियाँ तेजी से जागने लगीं। लोग अपने को सावधान और संगठित करने के लिए तैयार हो गए। परन्तु काम करने का ढंग अच्छा न था। अधिकतर धर्म के ही ढाँचे पर राष्ट्रीयता का निर्माण होता रहा। सुधारवादी आन्दोलन को लोग राजनीतिक आन्दोलन मानने लगे। साहित्य में भी इस प्रकार के आन्दोलन परिलक्षित हुए। अपने-अपने वर्ग को उभारने के लिए हर नेता ने अपने ढंग से काम करना और सोचना आरम्भ कर दिया। उर्दू-काव्य में मुहम्मद हुसैन आज़ाद, इकबाल और हाली ऐसी कविताएँ लिखने लगे जो लोगों को क्रियाशीलता की ओर प्रेरित करें अर्थात् ये लोग धारणाओं एवं वृत्ति में परिवर्तन करना चाहते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ पाश्चात्य प्रभावों से तथा कुछ इन लोगों के विचारों से प्रभावित होकर धारणाएँ प्रतिदिन बदलती रहीं। विदेशी राज्य की उपस्थिति और अपनी दासता की अनुभूति ने भारतीयों को राष्ट्रीय बनने की चिन्ता में व्यस्त कर दिया। राष्ट्रीयता के विभिन्न तत्त्व विभिन्न रीतियों और दिशाओं से एकत्र होने लगे। उर्दू-साहित्य में अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त स्वदेश के महत्त्व और प्रेम पर अधिक और उत्तम कविताएँ आने लगीं। हाली, आज़ाद, इकबाल सबने बढ़कर देश-भक्ति का नारा उठाया। हाली ने पूरी एक किताब 'हुब्बे वतन' के नाम से लिख डाली। आज़ाद ने कई कविताएँ देश-प्रेम पर लिखीं और इसी पर्दे में समस्त भारतवासियों को एक स्थान पर एकत्र होने का निमन्त्रण देने लगे। उदाहरणार्थ इकबाल का वह शेर लीजिए जो अपने काव्यारम्भ में उन्होंने कहा था :

सच कह दूँ ऐ बिरहमन गर तू बुरा न माने
तैरे सनमकदे के बुत हो गए पुराने।
अपनों से बैर रखना तूने बुतों से सीखा
जंगो जदल सिखाया वाइज़ को भी खुदा ने।
तंग आके उसने आखिर दैरो हरम को छोड़ा
वाइज़ का वाज़ छोड़ा, छोड़े तेरे फसाने।
आ ग़ैरियत के पर्दे एक बार फिर उठा दें
बिछड़ों को फिर मिला दें नक्शेदुई मिटा दें।

सन् १८५७ के बाद जैसे-जैसे हिन्दुस्तान का राजनीतिक वातावरण बदलता गया वैसे ही उर्दू-साहित्य में भी बदली हुई प्रवृत्तियों की झलक दिखलाई पड़ने लगी। हाली, आज़ाद, अकबर, इकबाल, चकबस्त, आदि सबका मानसिक झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर होने लगा। हर-एक ने आवश्यकता और अपनी समझ के अनुसार राजनीतिक आन्दोलन पर सम्मति दी और उसकी अभिव्यक्ति साहित्य में समय के साथ बढ़ती गई। कांग्रेस की स्वायत्त शासन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माँग के साथ, जो सन् १९०६ में उठी थी, उर्दू-कविता पूर्णतः घुल-मिल गई थी। अतः १९१६ से जब होमरूल का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो उर्दू-कविता ने बड़े जोश, उत्साह और सचाई के साथ इसमें भाग लिया। इससे पहले के राजनीतिक आन्दोलन न तो इतने व्यापक थे, न उनमें इतना जोर ही था। इस कारण उर्दू-कविता में अब सदा से अधिक जोश-खरोश आया। चारों ओर वातावरण में स्वतन्त्रता की भावना देखकर उर्दू ने भी राष्ट्रीय भाषा होने की हैसियत से इस आन्दोलन के प्रसार में भाग लेना अपना कर्तव्य समझा। पं० बृजनारायण 'चकबस्त' इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त नजर आए। उनको उर्दू-कविता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर होमरूल के राजनीतिक आन्दोलन में उतार दिया। 'चकबस्त' ने भी अपना कर्तव्य इस खूबी से निबाहा कि समाज के सभी वर्गों में उनकी कविता फैल गई। उनकी नज़्में हर राजनीतिक अथवा अर्धराजनीतिक अधिवेशन के लिए आवश्यक हो गईं। सत्य तो यह है कि वह इस सचाई और कलात्मकता के साथ अपना काव्य प्रस्तुत करते रहे कि हर समझने वाले के दिल में आग लग जाती थी। इनके कुछ शेर नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं :

ये खाके हिन्द से पैदा हैं जोश के आसार, हिमालिया से उठे जैसे अब्रे दरिया बार
लहू रंगों में दिखाता है बर्क की रफ़्तार, हुई हैं खाक के पर्दे में हड्डियाँ बेदार
जमीं से अर्श तलक शोर होमरूल का है
शबाब कौम का है ज़ोर होमरूल का है

है आजकल की हवा में वफ़ा की बरबादी, सुने जो कोई तो सारा चमन है फरियादी
कफस में बन्द हैं जो आसमाँ के थे आदी, उड़ा है बाग़ से बू होके रंगे आज़ादी
हवाये शौक में गुन्चे विकस नहीं सकते
हमारे फूल भी चाहें तो हँस नहीं सकते।

इस आन्दोलन के साथ सारा भारत जाग उठा। उर्दू वाले भी जोर-शोर से इसमें भाग लेते रहे। 'चकबस्त' के पहले से ही 'इकबाल' ने उर्दू-कविता में राष्ट्रीय तत्त्वों को बड़े चातुर्य से प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके काव्य में दार्शनिक रंग था। उन्होंने अपने ढंग से बताना प्रारम्भ किया कि गिरे हुए राष्ट्र कैसे उभर सकते हैं, व्यक्ति को क्या करना चाहिए, शासक और शासित का सम्बन्ध क्या और क्यों होता है, यूरोप क्यों तबाह हो रहा है, स्वदेश क्या वस्तु है; तात्पर्य यह कि ये सभी बातें विद्वत्तापूर्ण ढंग से राष्ट्रीय आवरण में 'इकबाल' कहते रहे। राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीयता का साधारण दर्शन शीघ्रता से उर्दू में व्यक्त होने लगा। इन लोगों से सहमति अथवा असहमति का विवाद छोड़कर हम यह देखते हैं कि उर्दू-साहित्य में राष्ट्रीयता और राजनीति का मूल्यवान कोष इकट्ठा होता रहा।

१९१४ से १९१८ तक का काल दुनिया के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था। पहले विश्व-युद्ध के फलस्वरूप दुनिया के राष्ट्र बन-बिगड़ रहे थे। युद्ध समाप्त होते-होते भारत भी बिलकुल बदलने लगा। १९१८ से भारत के क्रान्तिकारी जीवन की शृङ्खला प्रारम्भ हो जाती है। एक ओर सत्याग्रह, रौलट-बिल, खिलाफ़त आदि के आन्दोलन हुए दूसरी ओर महात्मा गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। हवा में 'गांधीजी की जय' के नारे गूँजने लगे। १९ अप्रैल १९१९ का दिवस पहली बार भारत-व्यापी हड़ताल और सत्याग्रह के लिए चुना गया। एक नया ही वातावरण देश में छा गया। चारों ओर से लोगों के साथ उर्दू-कविता भी बढ़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने लगी। असहयोग के साथ लोगों को जेल जाने का भी डर न रह गया। इसीलिए पूरी स्वच्छन्दता से उर्दू-कवि अंग्रेजी राज्य की बुराई करने और स्वतन्त्रता के आन्दोलन में भाग लेने लगे। उर्दू-कविता की वृत्ति इतनी शीघ्रता से बदली कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेने लगी। कार्लमार्क्स के दर्शन और रूस के व्यावहारिक जीवन से प्रभावित होकर समाजवाद की ओर भी झुकाव पैदा हुआ। इस काल में विदेशी राज्य का विरोध करते-करते उर्दू में कई ऐसे कवि आगे आये जिन्होंने अपने स्वतन्त्र विचारों के आधार पर उर्दू में ऐसे तत्त्व प्रस्तुत किये जिनमें समाजवाद की झलक थी। इन लोगों में 'जोश मलीहाबादी' का नाम सर्वोच्च और उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी कला और निर्भीकता से ऐसी कविता प्रारम्भ की, जो युग की पुकार बन गई। प्रगति और स्वतन्त्रता के सिलसिले में उन्होंने हर ऐसी रीति और प्रवृत्ति से विद्रोह की घोषणा की, जो रास्ते में रुकावट पैदा करे—चाहे उसका सम्बन्ध धर्म से हो या सामाजिक रीतियों या शासन से। उन्होंने पूरे ओज से राजनीतिक आन्दोलन के साथ अपनी कविता के स्वर को मिला दिया। उनकी कला में इतना चमत्कार था कि बड़े-से-बड़े और छोटे-से छोटे आदमी उनकी कविता की ओर आकृष्ट हो गए। उनके प्रभाव से हर ओर के लोग इसी प्रकार की कविता लिखने लगे। 'जोश' ने पूरी-पूरी कविता की प्रवृत्ति ही बदल दी। आवश्यकता और महत्त्व के विचार से आज उर्दू का हर उल्लेखनीय कवि राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर कुछ-न-कुछ लिख रहा है। अतः १९४७ के विभाजन के बाद जिस हत्या-काण्ड और साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई उसके विरुद्ध आवाज उठाने में उर्दू से अधिक शायद ही भारत की किसी भाषा ने प्रयास किया हो। परिणाम यह है कि आज हमारे साहित्य में राष्ट्रीय तत्त्वों का वह भाग एकत्र हो गया है जिस पर किसी भी बड़ी भाषा को गर्व हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध-सार

डॉक्टर रामसिंह तोमर

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

प्राकृतों का भारतीय आर्य भाषा के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। देश की संस्कृति का माध्यम प्राकृतें बहुत समय तक रही हैं। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई मत हैं। हेमचन्द्र के अनुसार 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्' अर्थात् प्रकृति या मूल आधार संस्कृत है, उससे जो उत्पन्न है वह प्राकृत है। कुछ अन्य के अनुसार 'प्राक्-कृत' अर्थात् जो पूर्व में हुई, वह प्राकृत है। कहना न होगा कि प्रथम मत अपूर्ण है तो दूसरा निराधार।

आज का उपलब्ध प्राकृत-साहित्य ६०० ई० पू० से आरम्भ होकर १८०० ई० तक आता है, जिसका विभाजन निम्न ढंग से किया जा सकता है—

१. धार्मिक प्राकृत-साहित्य—
   (अ) विशुद्ध धार्मिक, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन, पालि में रचित बौद्ध-साहित्य तथा अर्ध मागधी एवं शौरसेनी में रचित जैन-धार्मिक साहित्य।
   (आ) धार्मिक, साहित्यिक पालि कथा-साहित्य, जैन महाराष्ट्री तथा जैन शौरसेनी में रचित साहित्य एवं जैनों द्वारा रचित अपभ्रंश-साहित्य।
२. साहित्यिक (ललित) प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश-साहित्य।
   (अ) स्वतन्त्र कृतियों के रूप में, तथा
   (आ) अन्य ग्रन्थों में उद्धरणों के रूप में प्राप्य प्राकृत-साहित्य।
३. नाटकों में प्राप्त प्राकृत-साहित्य।
४. भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त-प्रदेशों में प्राप्त साहित्य—प्राकृत धम्मपद, निय प्राकृत तथा खोतान एवं मध्य एशिया आदि में प्राकृत-साहित्य।
५. शिला-लेखों का प्राकृत
६. मिश्र संस्कृत—'गाथा डायलेक्ट'

पालि यद्यपि भाषा की दृष्टि से प्राकृत का ही एक रूप है, पर प्रायः उसे प्राकृत से पृथक माना जाता है, अतः यहाँ पालि-साहित्य नहीं सम्मिलित किया गया है। अर्ध मागधी और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शौरसेनी के धार्मिक जैनागमों को भी शुद्ध साहित्य की श्रेणी में न आने के कारण छोड़ दिया गया है।

जैन-प्राकृत साहित्य

जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा गया है। दिगम्बरों ने शौरसेनी प्राकृत में लिखा है तो श्वेताम्बरों ने महाराष्ट्री में। जैन-प्राकृत-साहित्य के प्रधान कवियों एवं लेखकों और उनकी रचनाओं का परिचय संक्षेप में निम्न है—

विमल सूरि—इस क्षेत्र में प्रथम कृति विमलसूरि की 'पउमचरिय' है। इसमें राम-कथा को जैन रूप दिया गया है। बालि का विरक्त होना तथा रावण का लक्ष्मण के हाथों मारा जाना आदि इसकी नवीनताएँ हैं। इसकी भाषा बड़ी सरल और प्रवाहयुक्त महाराष्ट्री है। इसमें गाथा छन्द विशेषतः प्रयुक्त हुआ है। इसके लेखक विमलसूरि के विषय में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि इसकी रचना चौथी सदी से पूर्व की नहीं हो सकती।

पादलिप्ताचार्य—इनका रचित 'तरंगवती' एक कथा-ग्रन्थ कहा जाता है। यह ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण 'तरंगलीला' नाम का प्राप्त हुआ है। इसके संक्षिप्त-कर्ता नेमिचन्द्र ने बतलाया है कि मूल कृति बड़ी भारी, सुन्दर और कठिन थी। विद्वानों का अनुमान है कि पादलिप्ताचार्य का समय ५ वीं सदी से कुछ पूर्व होगा।

संघदास गणि—इन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत में 'वसुदेव हिंडि' नाम की गद्य-पुस्तक लिखी है। इसमें वसुदेव के भ्रमण की कथा है। इसका आधार 'महाभारत' और 'हरिवंश' हैं। इसे धर्मदास और संघदास ने पूरा किया है। रचना-काल सातवीं सदी से कुछ पूर्व ज्ञात होता है।

हरिभद्र—'समराइच्च कहा' इनकी गद्य-कृति है, जिसमें नायक गुणसेन और प्रतिनायक अग्निशर्मा के ९ जन्म की कथाएँ वर्णित हैं। इनकी भी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। बीच-बीच में इसमें पद्य भी हैं। हरिभद्र की दूसरी कृति 'धूर्तारव्यान' है, जो ब्राह्मणों पर एक कटु व्यंग्य-काव्य है। हरिभद्र की और भी कई कृतियाँ कही जाती हैं। इनका समय ७०० से ७८० ई० माना जाता है।

उद्योतनसूरि—इनकी प्रसिद्ध कथा-कृति 'कुवलयमाला कथा' जैन महाराष्ट्री में रचित एक धर्म-कथा है। कृति का रचना-काल कवि ने शक सं० ७०० दिया है।

लौकिक कथा-कृतियों के प्रधान ग्रन्थ और उनके रचयिताओं के परिचय के बाद हम लोग धर्मोपदेश-प्रधान कथाएँ ले सकते हैं, जिनमें साहित्यिक सरसता उपर्युक्त ग्रन्थों की भाँति नहीं है।

जयसिंह सूरि—उपदेशों से युक्त मूल गाथाओं को स्पष्ट करने के लिए अनेक कथाएँ लिखी हैं। सूरि ने भी १५६ कथाओं की गद्य-पद्य-मिश्रित रचना की, जिसका नाम 'धर्मोपदेश माला-विवरण' है। इसका रचना-काल सं० ९१५ है।

शीलाचार्य—इनका एक नाम शीलांक सूरि भी था। इन्होंने जैन-सम्प्रदाय के ६३ महा-पुरुषों के चरित्रों का वर्णन अपनी विशाल कृति 'महापुरुष चरित' में किया है। ग्रन्थ का रचना-काल ८६८ ई० है।

विजयसिंह सूरि—सन् ९१७ में इन्होंने 'भुवन सुन्दरी कथा' नाम के चम्पू-ग्रन्थ की रचना की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसवीं सदी के आस-पास की एक अज्ञात कवि की रचना 'कालकाचार्य कथानक' मिलती है, जिसमें उज्जैन के एक राजा की पराजय वर्णित है।

धनेश्वर मुनि—इन्होंने 'सुरसुन्दरी चरिय' नाम का एक सुन्दर प्रेमाख्यान लिखा है। इसका रचना-काल सं० १०६५ वि० है।

महेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञान पंचमी कथा' है, जिसमें २००० गाथाओं में दस कथाएँ हैं। इनके समय का ठीक पता नहीं है।

जिनेश्वर सूरि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथा कोशप्रकरण' है, जिसमें श्रावकों के लिए उपदेश हैं। इनकी दूसरी रचना 'लीलावती कथा' कही जाती है, पर अभी तक यह कहीं मिल नहीं सकी है। इनका रचना-काल सम्वत् की १२वीं सदी का प्रथम चरण है।

हेमचन्द्र—हेमचन्द्र ऊपर के अन्य लेखकों और कवियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुमारपाल चरित' है, जिसका आरम्भ का दो तिहाई भाग संस्कृत में और शेष प्राकृत एवं अपभ्रंश में है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि कुमारपाल के चरित के साथ-साथ संस्कृत और प्राकृत के सिद्ध रूपों के प्रयोग भी इसमें हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन-सिद्धान्त, काव्य-समीक्षा, व्याकरण, छन्द, पुराण और कोष आदि अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। प्राकृत से सम्बन्धित उनकी दो कृतियाँ—'देशीनाममाला और' 'छन्दानुशासन' हैं। पहला शब्द-संग्रह है और दूसरा छन्द-ग्रन्थ। इनका समय सं० ११४५-१२२६ तक है।

लक्ष्मण मणि—इन्होंने ८७०० गाथाओं में 'सुपार्श्वनाथ चरित' की रचना की, जिसमें सातवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र है। कृति का रचना-काल संवत् ११९६ वि० है।

सोमप्रभाचार्य—इनके दो प्राकृत-ग्रन्थ 'सुमतिनाथ चरित्र' और 'कुमारपाल प्रतिबोध' उपलब्ध हैं। पहली कृति पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ से सम्बद्ध है और दूसरी कुमारपाल से। इनका रचना-काल विक्रम की १३ वीं सदी का मध्यकाल है।

जिन हर्षगणि—पौषध व्रत के दृष्टान्त के रूप में कथित 'रयणसेहरी कहा' इनका एक प्रेमाख्यान है, जिसमें जायसी के रत्नसेन की भाँति रत्नशेखर रत्नवती का रूप-वर्णन सुन मुग्ध होकर सिंहल द्वीप पहुँचता है और कठिनाइयों के बाद परिणय होता है। जिनहर्षगणि का समय विक्रम की १५वीं शती का अन्तिम चरण है।

अनन्तहंस—इनकी 'कुर्मा पुत्र कथा' प्राकृत-गाथाओं की छोटी-सी कृति है, जिसमें भाव-शुद्धि की महिमा वर्णित है।

यह जैन प्राकृत-साहित्य के कुछ थोड़े-से लेखकों तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय है। अभी इस प्रकार की बहुत अधिक सामग्री है, पर प्रकाश में न आने से इतने से ही सन्तोष करना पड़ रहा है।

इस साहित्य पर दृष्टिपात करने से कथा के अनेक प्रकारों के दर्शन होते हैं, साथ ही धार्मिक, लौकिक, स्वतन्त्र तथा अवान्तर कथाएँ एकसूत्र में पिरोने के ढंग आदि अनेक विशेषताएँ भी मिलती हैं। धार्मिकता और उपदेशात्मकता के साथ-साथ कल्पना आदि साहित्यिक तत्त्व तथा सामाजिक चित्र भी पर्याप्त मात्रा में इन ग्रन्थों में मिलते हैं।

साहित्यिक प्राकृत

प्राकृत में विशुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी हुई हैं। रूपकों-उपरूपकों में तो सभी प्राकृतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग मिलता है पर मुक्तक तथा प्रबन्धात्मक काव्यों की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में हुई है। महाराष्ट्री प्राकृत में प्राप्त साहित्य १. मुक्तक और २. प्रबन्धात्मक, दो वर्गों में रखा जा सकता है।

मुक्तक साहित्य-संग्रह और अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पद्य इन दो रूपों में मिलता है। संग्रह अभी तक केवल दो प्राप्त हुए हैं—१. 'गाथा सप्तशती' और २. 'वज्जालग्ग'।

गाथा सप्तशती—इसमें ७०० प्राकृत-गाथाएँ हैं, जो अलग-अलग अपने-आपमें पूर्ण हैं। इसमें कहीं तो शृङ्गार से ओत-प्रोत स्त्रियों के चित्र हैं और कहीं प्रकृति के। नीति, सुभाषित और लोकोक्तियाँ भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाती हैं। शृङ्गार-रस की गाथाएँ इसमें अधिक हैं, जिनमें अनेक प्रकार की नायिकाओं के कार्य-कलाप या उनके हृदय के भाव वर्णित हैं। इसके संग्रहकर्ता हाल या सातवाहन हैं। इसका संग्रह-काल बड़ा विवादग्रस्त है। यदि आन्ध्र देश के सातवाहन को संग्रहकर्ता माना जाय तो ६९ ई० के आस-पास ग्रन्थ का संग्रह-काल माना जा सकता है।

वज्जालग्ग—इसमें ७०४ प्राकृत-गाथाएँ हैं। इसमें सुभाषितों की भाँति विभिन्न विषयों की गाथाएँ शीर्षकों में बाँटकर रखी गई हैं। यहाँ भी शृङ्गार का अभिरूप है; पर साथ ही नीति, सज्जन-दुर्जन-निन्दा, तथा प्रकृति-चित्र भी हैं। यह भी 'गाथा सप्तशती' की भाँति संग्रह-ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्ता जयवल्लभ के विषय में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। इसका संग्रह सं० १३६३ वि० के पूर्व हुआ माना जाता है।

बहुत-से प्राकृत-छन्द संस्कृत और प्राकृत के विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत मिलते हैं। इस दृष्टि से भरत के 'नाट्य-शास्त्र' (ई० पू० २०० से २०० ई० के बीच) के ध्रुव-गीत, आनन्दवर्धन (९०० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत ४५ प्राकृत-छन्द, भोज (११वीं शती ई०) के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के ३५० छन्द तथा हेमचन्द्र (११४५-१२२९ वि०) के 'काव्यानुशासन' एवं उसकी वृत्ति के ८० छन्द प्रधान हैं। इसी प्रकार 'दशरूपक', 'काव्यालंकार', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रस-गंगाधर' आदि में भी बहुत-से प्राकृत के छन्द मिलते हैं।

इन प्रसिद्ध ग्रन्थों में प्राकृत-छन्दों के उद्धृत किये जाने से यह अर्थ निकाला जा सकता है कि प्राकृत का महत्त्व संस्कृत के पण्डितों द्वारा भी उस युग तक स्वीकार कर लिया गया था।

प्राकृत में मुक्तक-साहित्य की भाँति ही प्रबन्ध-काव्यों की धारा भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। आज इसके बहुत-से प्रबन्ध-काव्य लुप्त हो गए हैं, फिर भी जो आज हैं, बहुत उत्कृष्ट हैं और अपनी धारा की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं। यहाँ कुछ प्रमुख प्रबन्ध-काव्यों और उनके लेखकों का संक्षिप्त परिचय देखा जा सकता है—

प्रवरसेन—इनका प्रसिद्ध महाकाव्य 'सेतु-बन्ध' या 'रावण-वध' १५ आश्वासों में विभक्त १२९१ छन्दों का है। इसमें सीता-हरण के आगे से आरम्भ होकर रावण-वध के बाद राम-लक्ष्मण के अयोध्या लौटने तक की कथा संक्षेप में दी गई है। कृति का अधिक भाग सेतुबन्ध से सम्बन्धित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। साहित्यिक दृष्टि से कृति सुन्दर है। इसके रचयिता प्रवरसेन के सम्बन्ध में काफी विवाद है। अधिक प्रामाणिक मत यही ज्ञात होता है कि वे काश्मीर के राजा थे और उनका समय सन् १२३ से १८३ तक था। सम्भवतः 'गौड वध' या 'शिशुपाल वध' आदि बाद के काव्यों के नाम भी इसीके अनुकरण पर रखे गए।

REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्पतिराज—इनका प्रबन्ध-काव्य 'गौडवध' महाराष्ट्री प्राकृत में रचा गया है। इसमें कन्नौज के राजा यशोवर्मा की विजय-यात्रा तथा गौड़-नृप का वध वर्णित है। १२६० छन्दों की यह कृति अध्यायों में विभक्त नहीं है। विभिन्न वर्णन कहीं-कहीं कुलकों में विभक्त है। वाक्-पतिराज यशोवर्मा के मित्र और कवि थे। इनका समय यशोवर्मन के आधार पर ७वीं सदी के अन्तिम चरण और आठवीं के प्रथम चरण के बीच में है।

श्रीकृष्ण लीला शुक—इनका प्रबन्ध-काव्य 'चिह्न काव्य' है। इसमें बारह सर्गों में श्रीकृष्ण की लीला-वर्णन के साथ-साथ त्रिविक्रम देव के प्राकृत-सूत्रों की व्याख्या की गई है। इसी कारण इसकी प्रबन्धात्मकता त्रुटिपूर्ण हो गई है। रचयिता का समय १३वीं शती ई० है।

कौतूहल—इनकी रचना 'लीलावती-कथा' एक प्रेम-काव्य है। इसमें सातवाहन और लीलावती का प्रेम वर्णित है। भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। कवि ने स्पष्ट रूप से अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है किन्तु कुछ छन्दों में 'कौतूहल' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही कवि का नाम ज्ञात होता है। कवि का समय १००० ई० के पूर्व माना जा सकता है।

नाटकीय प्राकृत

नाट्य-शास्त्र के विशारदों ने रूपकों में भी प्राकृतों के प्रयोग का विधान किया है। प्रायः स्त्रियाँ और सेवक आदि संस्कृत-नाटकों में भी स्वाभाविकता के लिए प्राकृत का ही प्रयोग करते हैं। ये प्राकृतें प्रायः शौरसेनी या महाराष्ट्री हैं। रूपकों में प्राकृतों के आंशिक प्रयोगों के अतिरिक्त कुछ सट्टक भी मिलते हैं, जो आद्यन्त प्राकृत में हैं। प्राचीनतम प्राप्त सट्टक राजशेखर (८८०-६२० ई०) की 'कर्पूर मंजरी' है। इसमें शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। इस श्रेणी की कुछ अन्य रचनाएँ नयचन्द्र की 'रंभा मंजरी' (१५वीं सदी ई०), रुद्रदास की 'चन्द्रलेखा सट्टक' (१७वीं सदी ई०), विश्वेश्वर की 'शृङ्गार मंजरी सट्टक' (१८वीं सदी) तथा घनश्याम की 'आनन्द सुन्दरी सट्टक' (१८वीं सदी) आदि हैं। वस्तु और शैली दोनों दृष्टियों से ये सभी सट्टक 'कर्पूर मंजरी' से प्रभावित हैं।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की प्राकृत

सन् १८६२ ई० खोतान में खरोष्ठी लिपि में लिखित एक 'धम्मपद' मिला है, जो प्राकृत में है। इस प्राकृत धम्मपद की भाषा को विद्वानों ने उत्तरी-पश्चिमी देश की बोली कहा है। इसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान में भी कुछ लेख मिले हैं। इनकी भाषा भी यही है। निय स्थान पर विशेष रूप से मिलने के कारण कुछ लोगों ने इसे निय प्राकृत कहा है। इस प्राकृत का विशेष महत्त्व भाषा की दृष्टि से है। साहित्यिकता इसमें प्रायः नहीं के बराबर है।

शिला-लेखों की प्राकृत

प्राकृत में प्राप्त प्राचीनतम शिला-लेख अशोक के हैं। उसके बाद के भी बहुत से शिला-लेख विभिन्न प्रान्तों में ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में मिलते हैं। देश के अनुसार इनकी भाषा भिन्न है। इनमें भी साहित्यिकता नहीं के बराबर है।

प्राकृत-साहित्य की यही संक्षिप्त रूप-रेखा है। प्राकृतों का प्रयोग ई० पू० तीसरी शती से लेकर १८वीं शती तक विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूपों में होता रहा है। गद्य, पद्य, कथा, गीति, मुक्तक, प्रबन्ध तथा नाटक आदि सभी इसमें मिलते हैं, जो साहित्यिकता की दृष्टि से पर्याप्त सुन्दर और प्रौढ़ हैं तथा जिन्होंने अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं के साहित्य को ही नहीं एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत अंशों में संस्कृत-साहित्य को भी प्रभावित किया है। कितनी ही नवीन परम्पराएँ एवं छन्द आदि इसके अपने हैं।

अपभ्रंश-साहित्य

संस्कृत के साधु शब्दों के अतिरिक्त शब्द-रूपों को पतंजलि ने अपशब्द या अपभ्रंश (=पतित) कहा है। पर इन शब्दों से 'अपभ्रंश' का कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का उल्लेख करने वाले प्रथम व्यक्ति भामह हैं। आगे फिर दंडी ने भी इसका उल्लेख किया है और इसे आभीरों से सम्बद्ध बतलाया है। इसका अर्थ यह है उस समय अपभ्रंश में रचना होने लगी थी। देश-भेदों के अनुसार पहले-पहल रुद्रट ने अपभ्रंशों के भेदों का उल्लेख किया है। राजशेखर (८८०-९२०) के समय तक अपभ्रंश पतित भाषा न समझी जाकर राज-दरबारों में सम्मान पाने लगी थी। आभीरों और गुर्जरों का अपभ्रंश के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये अनार्य थे, अतः इनके संसर्ग में यहाँ की भाषा नई दिशा में चली गई। बाद में इन लोगों ने इसमें रचना आरम्भ की तथा इसे साहित्यिक महत्त्व दिलाया।

अपभ्रंश के लोगों ने तरह-तरह से भेद किये हैं। किसी ने ३ भेद तो किसी ने ११, और किसी ने २७। 'अपभ्रंश' के 'अपभ्रंश' के अतिरिक्त अवहट्ट, अवहंस तथा पटमंजरी आदि और भी कई नाम मिलते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य का आरम्भ विक्रम की ८वीं शती के पहले तक जाता है, यों इसकी क्षीण रेखा ईसा की तीसरी शती तक भी मिल जाती है। इधर १६वीं-१७वीं तक इसकी सीमा-रेखा है।

इस पूरे साहित्य को जैन, बौद्ध, सिद्ध, शैव और ऐहिकतापरक इन चार धाराओं में देखा जा सकता है।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य

इसकी धारा वि० की ८वीं सदी से १६वीं सदी तक मिलती है। इसमें भी प्राकृत की भाँति मुक्तक और प्रबन्ध दो प्रकार की रचनाएँ हुई हैं।

मुक्तक शाखा की एक उपशाखा 'रहस्यवादी धारा' कही जा सकती है। योगीन्द्र, रामसिंह तथा सुप्रभाचार्य इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

योगीन्द्र—योगीन्द्र की 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' दो कृतियाँ मिलती हैं। इनमें ईश्वर, आत्मा तथा मोक्ष आदि के विषय में प्रश्नोत्तर हैं तथा कहीं-कहीं नैतिक उपदेश हैं। इनके कुछ और भी ग्रन्थ कहे जाते हैं पर उनकी भाव-धारा इन ग्रन्थों से नहीं मिलती। योगीन्द्र के सम्बन्ध में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है।

रामसिंह मुनि—इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पाहुड़-दोहा' है। इसमें गुरु, आत्मसुख, आत्मा और देह, समरसी भाव तथा मोक्ष आदि का विवेचन है। स्त्रियों की निन्दा तथा कुछ नीति की अन्य बातें भी इसमें मिलती हैं। विद्वानों का मत है कि इनका समय १००० ई० के लगभग है। 'पाहुड़-दोहा' की भाषा शौरसेनी अपभ्रंश है। इसमें कुछ छन्द संस्कृत तथा प्राकृत के भी हैं।

सुप्रभाचार्य—इनकी एक छोटी-सी रचना 'वैराग्य सार' मिलती है। इसमें संसार के सुखों से बचकर और मन मारकर वैराग्य भाव अपनाने का आदेश है। माया, ममता आदि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर रहने को भी कहा गया है। कवि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। भाषा के आधार पर उनका समय १००० ई० के आस-पास माना जा सकता है।

इस धारा के अन्य ग्रन्थों में महाणंदि (१००० ई० से १४०० ई० के बीच) का 'आनन्दा' तथा महचन्द (१६०२ के लगभग) का 'दोहा पाहुड़' आदि प्रधान हैं। इन दोनों का विषय भी प्रायः वही है।

इस धारा में और भी बहुत-सा साहित्य होगा पर आज या तो वह नष्ट हो गया है या भंडारों में पड़ा है। इस धारा की प्रधान विशेषताएँ साम्प्रदायिक साहित्य होते हुए भी अन्य सम्प्रदायों के प्रति उदारता, मन्दिर, मूर्ति तथा तीर्थ-सम्बन्धी रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोध तथा चारित्रिक शुद्धता पर जोर आदि हैं।

मुक्तक काव्य की दूसरी उपशाखा 'उपदेशात्मक धारा' की है। इसके प्रधान कवि और उनकी रचनाएँ निम्न हैं—

देवसेन—इनका ग्रन्थ 'सावयधम्म दोहा' इस धारा की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है। आरम्भ में 'गुरु-वन्दना' तथा 'दुर्जन-स्मरण' आदि भूमिका के बाद श्रावक-धर्म के ११ भेदों का विवेचन है। इसमें प्रवृत्ति-मार्ग द्वारा धर्म का पालन करते हुए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव मानी गई है। देवसेन का समय संवत् ९९० के आस-पास है।

जिनदत्त सूरि—इनके तीन ग्रन्थ 'चर्चरी', 'उपदेश रसायन' और 'कालस्वरूप कुलक' हैं। प्रथम का सम्बन्ध गुरु-प्रशंसा आदि से, दूसरे का मनुष्य-जन्म, आत्मोद्धार से तथा कुछ लौकिक-पारलौकिक शिक्षाओं से एवं तीसरी का गुरु-महिमा तथा कुटुम्ब-संगठन से है। इन्होंने परलोक पर विशेष ध्यान न देकर लोक पर दिया है। कवि का समय संवत् ११३२ से १२१० तक है।

महेश्वर सूरि— इन्होंने एक छोटी-सी रचना 'संयम-मञ्जरी' लिखी है, जिसमें संयम को सर्वोत्तम साधन बतलाया है। इसमें साहित्यिकता कम है। इनका समय संवत् १५६१ के पहले होना चाहिए।

इस धारा की अन्य प्रधान रचनाएँ जयदेव मुनि (संवत् १०५४ के आस-पास) की 'भावना-सन्धि-प्रकरण' तथा विनयचन्द्र मुनि की 'कल्याणकरासु' एवं 'चूनड़ी' आदि हैं।

इस धारा की विशेषताएँ नीतिपूर्ण उपदेश, कुटुम्ब का ध्यान तथा संसार में रहते हुए निर्लिप्तता आदि हैं।

जैन-अपभ्रंश-साहित्य में प्रबन्धात्मक रचनाओं का भी अभाव नहीं है। इनका प्रधान स्वर तो धार्मिक है पर साहित्यिक छटा भी इनमें कम नहीं है। इस धारा के प्रमुख कवि ये हैं—

स्वयंभू—इनके अभी तक तीन ग्रन्थ मिले हैं—'पउम चरिउ', 'रिट्ठणेमिचरिउ' और 'स्वयंभू छन्द'। 'पउम-चरिउ' में राम की कथा है। उसमें ५ काण्ड हैं। आरम्भ में गुरु की प्रार्थना आदि के बाद कथा आरम्भ होती है। इसमें सभी पात्र जिन-भक्त हैं। दूसरी कृति का सम्बन्ध 'हरिवंश' तथा 'महाभारत' की कथा से है। तीसरी कृति छन्दों पर है। इनका समय ८०० और ९०० ई० के बीच में है।

पुष्पदन्त—इनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'महापुराण' है। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवों की कथाएँ हैं। 'महापुराण' की भाषा और साहित्यिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी सुन्दर है। कवि की दूसरी कृति 'णायकुमार चरिउ' में मगधराज जलंधर-पुत्र की कथा है। तीसरी कृति 'जरुहर चरित्र' का सम्बन्ध यशोधरा से है। इसमें काव्यात्मकता कम है। पुष्पदन्त के वर्णन बड़े सजीव हैं। इनका समय संवत् १०४४ से कुछ पूर्व है।

पद्मकीर्ति—इनकी प्रसिद्ध रचना 'पासचरिउ' है, जिसमें पार्श्वनाथ का पूरा चरित्र वर्णित है। इनका समय संवत् ९९२ के आस-पास है।

धवल—धवल की विशाल कृति 'रिट्ठणेमिचरिउ' है। कवि का समय १०वीं या ११वीं सदी ई० ज्ञात होता है।

धनवाल—इनकी कृति 'भविदत्त कहा' है। इसमें सज्जन-दुर्जन-स्मरण तथा श्रुतपंचमी-फल की व्याख्या करते हुए कथा आरम्भ की गई है। यह एक साहसी किन्तु धार्मिक बनिए की प्रेम-कथा है। इसमें धार्मिक पात्रों का उत्तरोत्तर अभ्युदय दिखाया गया है। कवि के बारे में कुछ विशेष ज्ञात नहीं है। याकोबी का मत है इसका समय १०वीं सदी ई० होना चाहिए।

हरिषेण—इसकी कृति 'धर्म-परीक्षा' ब्राह्मण-धर्म पर एक व्यंग्य है। पुराणों की कथाओं पर इसमें प्रहार किया गया है। इसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। कवि का समय वि० सं० १०४० के आस-पास है।

वीरकवि—जैन-सम्प्रदाय के अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के जीवन को लेकर इन्होंने 'जम्बू स्वामी चरित' लिखा है। इनका समय सं० १०७६ वि० के आस-पास है।

नयनन्द—इन्होंने 'सुदर्शन-चरित' में पंच नमस्कार फल के दृष्टान्त रूप में सुदर्शन की कथा प्रस्तुत की है। इसके कथानक में कसाव नहीं है। इनकी दूसरी कृति 'सकल विधि विधान' काव्य है। नयनन्द का समय ११०० वि० के लगभग है।

इस धारा के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ—कनकाभर (१०५० वि० के लगभग) का 'करकंडुचरिउ', धाहिल (सं० ११९१ से पूर्व) का 'पंउमसिरचरिउ', श्रीचन्द (११-१२ सदी) के 'कथाकोश' तथा 'रत्नकरंडशास्त्र', देवसेनगणि (१२वीं या १४वीं सदी वि०) की 'सुलोचना चरित', हरिभद्र (सं० १२१६ के आस-पास) का 'सनत्कुमार चरित', लक्खण (सं० १३१३ के लगभग) का 'अणुवयर यणपईउ', लक्खमदेव (सं० १५१० के आस-पास) का 'नेमिनाथ चरित', रयूथ (१५ वीं सदी के आस-पास) के 'आदि पुराण', 'यशोधरचरित' तथा 'सिद्ध चक्रचरित' आदि २३ ग्रन्थ, जयमित्रहल (सं० १५४५ के पूर्व) का 'वर्द्धमान चरित्र' तथा हरिदेव (सं० १५७६ के पूर्व) का 'मदन पराजय' आदि हैं।

संक्षेप में, जैन-अपभ्रंश-साहित्य प्रत्येक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा अपभ्रंश-साहित्य की बाह्य और आन्तरिक सभी प्रकार की विशेषताएँ इसमें हैं। इसके विशेषतः कथा-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि धर्म-प्रधान काव्य होते हुए भी चरित्रों को अतिमानवीय रूप कहीं भी नहीं प्रदान किया गया है। शुभ कर्म करने वालों को शुभ फल मिलता है। यही इनका सबसे बड़ा सन्देश है। इनका जगत् और जीवन के प्रति बड़ा स्वस्थ और सन्तुलित दृष्टिकोण है। इनमें परलोक से कम लोक का ध्यान नहीं है।

रूप की दृष्टि से इन प्रबन्ध-काव्यों में खण्ड और महाकाव्य दोनों हैं। कडवक-बद्ध शैली का सभीमें प्रयोग किया गया है। अलंकार की दृष्टि से परम्परा अपनाने के अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन जीवन से नये उपमान भी खोजे हैं। समकालीन इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ कृतियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

धार्मिक अपभ्रंश : बौद्ध-सिद्धों की अपभ्रंश-रचनाएँ

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा की परिणति वज्रयान, मन्त्रयान, कालचक्रयान, सहजयान तन्त्रयान आदि के रूप में हुई। आचार्यों ने इनके सिद्धान्तों के विवेचन के लिए अपभ्रंश को ही माध्यम बनाया। इनके प्राप्त ग्रन्थों का विद्वानों ने बड़े उत्साह के साथ अध्ययन किया है। हरप्रसाद शास्त्री ने 'बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित कराया है। डॉ० चटर्जी ने इनकी भाषा पर विचार किया है। डॉ०शहीदुल्ला, डॉ० बागची और सुकुमार-सेन ने भी इस पर कार्य किया है और पुस्तकें भी लिखी हैं।

सिद्धों की इन रचनाओं में दो प्रकार की भाव-धारा मिलती है। एक तो सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवेचन की तथा दूसरी उपदेश और खण्डन-मण्डन की। वज्रयान का प्रमुख तत्त्व शून्यवाद है। उनकी दूसरी विशेषता सर्ववाद की भावना है। बाद में इनमें और भी आचार आ गए, जिनमें पंच मकार (मत्स्य, मांस, मद्य, मुद्र और मैथुन) प्रधान हैं।

अब तक इनका जितना साहित्य मिला है। कान्हूपाद, भुसुकपाद तथा सरकपाद आदि २३ सिद्धों की रचनाएँ हैं। यों इनकी संख्या ८४ बताई गई है। सभी रचनाओं में प्रायः मिलती-जुलती बातें व्यक्त की गई हैं। अविद्या से मुक्त होकर अपने ही अन्तर्गत रहने वाले सहजानन्द की प्राप्ति इनका परम लक्ष्य है। अन्य मार्गों को टेढ़ा बतलाकर सहज मार्ग को सीधा कहा गया है। कुछ ने गुरु की आवश्यकता पर भी जोर दिया है।

सिद्धों के छन्दों में विविधता नहीं है। 'चर्यागीत' में गेय पद हैं। 'दोहा-कोष' में प्रधान छन्द दोहा है। कुछ सोरठे तथा और छन्द भी हैं। सिद्धों की भाषा के दो रूप हैं। एक तो पूर्वी अपभ्रंश, जिसमें पार्श्व भी अपभ्रंश के रूप हैं और दूसरा शौरसेनी अपभ्रंश। इनका समय सन् ८०० से १००० तक ज्ञात होता है।

तन्त्र-शास्त्र से सम्बन्धित दूसरी अपभ्रंश-कृति 'डाकार्णव तन्त्र' है। इसमें वज्रयान के सिद्धान्तों का विवेचन है। इसमें गुरु का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भाषा शौरसेनी अपभ्रंश पर आधारित पूर्वी से प्रभावित अपभ्रंश है। इसमें चौपाई आदि प्रमुख छन्द हैं। इनका रचना-काल ११ वीं सदी ई० के आस-पास है।

धार्मिक अपभ्रंश : शैवों की अपभ्रंश-रचनाएँ

कश्मीरी शैव-सम्प्रदाय की भी कुछ रचनाएँ अंशतः अपभ्रंश में मिलती हैं। अभिनव गुप्त के 'तन्त्र सार' का इनमें प्रमुख स्थान है। इसमें शैव-मत की व्याख्या है। इसमें व्यक्ति ही परम शिव माना गया है। वह अशुद्धि के कारण अपने-आपको नहीं देख पाता। 'तन्त्र सार' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में प्राकृत अपभ्रंश में पूरे अध्याय का सार दिया गया है। यों यह ग्रन्थ संस्कृत में है। इसका रचना-काल १०१४ ई० के आस-पास है।

दूसरी उल्लेख्य कृति भट्ट वामदेव महेश्वराचार्य की 'जन्म-मरण-विचार' है। इसमें परम शिव की शक्ति और उनके प्रसार का विवेचन है। इसमें एक दोहा अपभ्रंश में है। इसका रचना-काल ११ वीं शती ई० का अन्तिम भाग ज्ञात होता है।

गोरखनाथ के 'अमरौघशासन' में भी एक अपभ्रंश-पद्य मिलता है। कश्मीरी भाषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे प्राचीन नमूना लल्ला के 'लल्ला वाक्पानि' में मिलता है। इसे लिखित रूप पीछे दिया गया, अतः भाषा की प्राचीनता अब ज्यों-की-त्यों नहीं मिल सकती। शिति कण्ठाचार्य की कृति 'महानय प्रकाश' में ९४ अपभ्रंश-पद्य हैं। इसका रचना-काल १५ वीं सदी ई० उत्तरार्द्ध है।

शैव-सम्प्रदाय की इन रचनाओं में साहित्यिकता का अभाव है। केवल भाषा की दृष्टि से इनका महत्त्व है। साथ ही इनकी भाव-धारा भी महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुगीन साधकों की भाव-धारा की पृष्ठभूमि उन्हींकी सहायता से स्पष्ट हो सकती है।

ऐहिकतापरक अपभ्रंश-साहित्य

इस श्रेणी का साहित्य दो वर्गों में रखा जा सकता है। एक वर्ग में तो वे पद्य आते हैं, जो अलंकार, छन्द या व्याकरण आदि के ग्रन्थों में उद्धृत हुए मिलते हैं। इनमें साहित्यिक सौन्दर्य बहुत अधिक है। दूसरे वर्ग में प्रबन्धात्मक कृतियाँ रखी जा सकती हैं।

प्रथम वर्ग के लिए कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक के अपभ्रंश-पद्य, जिनमें प्रकृति-वर्णन आदि बड़े सुन्दर और सजीव हैं। चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' के दो दोहे, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में प्राप्त एक दोहा, भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' के १८ अपभ्रंश पद्य। हेमचन्द्र के 'अपभ्रंश व्याकरण' में उद्धृत नीति, शृङ्गार, प्रेम तथा नायक-नायिकाओं के रूप-वर्णन आदि अनेक विषयों के छन्द, प्राकृत पैंगल के कुछ पद्य तथा पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में प्राप्त छन्द देखे जा सकते हैं। ये मुक्तक छन्द संख्या में अधिक नहीं हैं पर शृङ्गार, प्रेम, वैराग्य, नीति, सूक्ति आदि की विविधता एवं आलंकारिक छटा से ये अपूर्ण हैं। यही मुक्तक धारा रीति-काल तक आई और आध्यात्मिक स्वर मन्द हो जाने पर केवल शृङ्गारपूर्ण रह गई।

दूसरे वर्ग—प्रबन्धात्मक कृतियों—में आज केवल दो-तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। 'सन्देश रासक' 'मेघदूत' की तरह २२३ पद्यों में समाप्त एक सन्देश-काव्य है। विजयपुर की एक विरहिणी नायिका एक पथिक द्वारा अपना सन्देश भेजती है। इसमें ऋतु-वर्णन आदि बड़ा सुन्दर है। विरहिणी के भावों का भी चित्रण बड़ा आकर्षक हुआ है। इसकी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। इसका रचयिता अब्दुल रहमान था। इसकी रचना सं० १४६५ के पूर्व की गई होगी। विद्यापति की 'कीर्तिलता' एक ऐतिहासिक चरित-काव्य है। इसमें कीर्तिसिंह के वंश तथा वीरता, और विजय तथा अभिषेक आदि का वर्णन है। 'कीर्तिलता' में काव्य-वैभव बहुत कम है। इसकी भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। विद्यापति का समय ई० १४वीं १५वीं सदी है। इनकी दूसरी पुस्तक 'कीर्ति पताका' में भी कुछ अपभ्रंश के पद्य निकले हैं।

हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

काव्य-रूपों पर प्रभाव

पीछे के अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि अपभ्रंश-काव्यों की रचना प्रधान रूप से हिन्दी के प्रारम्भ काल तक होती रही, या यों कहिए कि अपभ्रंश की ही काव्य-धाराएँ धीरे-धीरे परिवर्तित होकर हिन्दी में भी प्रवाहित हो रही हैं। हिन्दी के मध्ययुगीन प्राचीन साहित्य में जो साहित्यिक रूप और शैलियाँ मिलती हैं उनका अनायास आरम्भ नहीं हुआ। उस समय तक साहित्य के क्षेत्र में प्रवाहित रूप ही पुष्ट होकर इस रूप में आए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य-रूप संक्षेप में इस प्रकार थे—

प्राकृत

(१) प्रबन्ध काव्य

(१) साहित्यिक महाकाव्य—सेतुबन्धादि

(२) जैनों के धार्मिक प्रबन्ध-काव्य—महावीर चरित आदि

(३) गद्य-पद्य-मिश्रित कथा-कृतियाँ—वसुदेव हिण्डी आदि

(२) मुक्तक

(१) गाथा सप्तशती आदि मुक्तक

(२) अन्य कृतियों में उद्धृत छन्द

(३) रूपकों में प्रयुक्त पद्य तथा सट्टक रचनाएँ

अपभ्रंश

(१) प्रबन्धात्मक काव्य

(अ) विशाल चरित-काव्य—महापुराण आदि

आखण्ड काव्य— (क) कल्पना-प्रधान—सन्देश रासक आदि

(ख) ऐतिहासिक—कीर्तिलता

(ग) व्रतादि की पद्यबद्ध कथाएँ

(२) मुक्तक (१) दोहाबद्ध उपदेश-प्रधान धारा

(२) दोहाबद्ध शृङ्गार-प्रधान धारा

(३) पद-शैली के गीति

अपभ्रंश के विविध काव्य-रूपों में कुछ का सम्बन्ध सीधा जनता से था। समयानुसार उन्हींके लिए परिवर्तित भाषा का प्रयोग होने लगा। यह परिवर्तित भाषा ही हिन्दी थी। भाव-धारा के लिए बहुत-से लोगों ने संस्कृत की ओर देखा, पर बाह्य रूपों के लिए वे अपभ्रंश की ओर ही झुके।

उत्तर मध्यकालीन तक के हिन्दी-काव्य-रूपों की प्रधान धाराएँ इस प्रकार हैं—

(क) प्रबन्धात्मक रूप

(१) चारण काव्य—रासो ग्रन्थ तथा राजाओं के चरित-काव्य

(२) धार्मिक साहित्यिक चरित काव्य—रामचरित मानस आदि

धार्मिक साहित्यिक शिथिल प्रबन्धात्मक काव्य—सूरसागर आदि

(३) आध्यात्मिक झलक की प्रेम-गाथाएँ—पद्मावत आदि

(४) ऐहिकतामूलक प्रेम-कथाएँ—ढोला मारू का दूहा आदि

(५) साहित्यिक प्रबन्ध-काव्य—रामचन्द्रिका आदि

(ख) मुक्तक रूप

(१) विषय-प्रधान मुक्तक पद-शैली—गोरख, कबीर आदि के पद

विषय-प्रधान मुक्तक दोहा-शैली—बिहारी आदिक दोहे

विषय-प्रधान मुक्त विविध छन्दबद्ध काव्य—सवैया आदि

(२) उपदेश, नीति, शृङ्गार, सुभाषित आदि—रहीम, मतिराम आदि के दोहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) गीति-काव्य—विद्यापति, सूर, मीरा आदि के पद

अपभ्रंश में दृश्य-काव्य नहीं था, अतः मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में भी यह धारा नहीं मिलती।

चारण-साहित्य की परम्परा ब्राह्मण-ग्रन्थों में देवताओं की स्तुतियों तक ले जाई जा सकती है। एक देव और ईश्वर का यश गाते थे तो दूसरे वीरों का। हिन्दी-चारण-साहित्य के पिंगल और डिंगल भाषा में लिखे होने से दो रूप हो जाते हैं। पिंगल रचनाओं की फिर दो उपशाखाएँ (१. अजैन और २. जैन) की जा सकती हैं।

अजैन के भी स्वाभाविक और साहित्यिकता से लदे हुए दो भेद किये जा सकते हैं। पहले का सुन्दर उदाहरण 'बीसलदेव रासो' तथा दूसरे के 'पृथ्वीराज रासो', 'वीरसिंह देव चरित', 'जंगनामा' तथा 'शयमरासा' आदि हैं। ये सभी ऐतिहासिक पुरुषों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हैं। सभी का रूप भी प्रायः एक है।

जैन-रचनाओं में रास नाम से बहुत-सी रचनाएँ व्रज में मिलती हैं। धर्म सूरि की 'जम्बू-स्वामी रास', श्वेताम्बर साधु की 'गोतम रासा' तथा पृथ्वीपाल की 'श्रुतपंचमी रास' आदि उदाहरण के लिए ली जा सकती हैं। इन सबमें एक अपूर्व समानता है। अपभ्रंश में पाए जाने वाले जैन-काव्यों से ये सभी मिलते-जुलते हैं। इनमें चौपाई, दोहा तथा छप्पय आदि के अतिरिक्त लोक-प्रचलित गेय पदों का प्रयोग हुआ है यह प्रवृत्ति भी प्राकृत तथा अपभ्रंश के भी इस श्रेणी के काव्यों में मिलती है। 'बीसलदेव रासो' भी इसी परम्परा में आता है। अन्य 'पृथ्वीराज रासो' आदि ग्रन्थ उसी परम्परा के कृत्रिम साहित्यिक रूप हैं।

डिंगल में रचित इस प्रकार के काव्य 'छन्दराउ जलसीरउ', 'वचनिका रतन सिंघरी' तथा 'राणा रासो' आदि हैं। ये भी रूप तथा विषय आदि में उपर्युक्त ग्रन्थों के समान ही हैं। गुजराती रास भी भाव-धारा आदि में इसी प्रकार हैं। इस तरह क्या गुजराती, क्या हिन्दी सभी अपभ्रंश और प्राकृत की अनुरूप धारा की ही परम्परा में है।

रास या रासो नामक काव्य-रूप का प्रथम स्पष्ट उल्लेख बाण (८वीं शती वि०) ने 'हर्ष-चरित' में किया है। वहाँ इसका अर्थ मंडलाकार नृत्य तथा अश्लील पद है। उद्योतन सूरि ने भी 'कुवलय माला कथा' में प्रायः इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। आगे चलकर इसका अर्थ जन-मन को आनन्द देने वाला हो गया। जैन-कवियों द्वारा रचित रास धर्म के समीप होने से ऐहिकता से कुछ अलग होते भी पर्याप्त सरस है। इसका आरम्भ में मूल आधार लोक-प्रचलित रास या नृत्य रहा होगा। अपभ्रंश में कुछ रास-कृतियों के तो केवल नाम मिलते हैं पर दो—'उपदेश-रसायन रास' तथा 'सन्देश रासक' उपलब्ध भी हैं। प्रथम कृति तो गुरु-निन्दा या स्तुति आदि से सम्बन्धित है, पर दूसरी 'बीसलदेव रासो' की भाँति एक वियुक्ता नायिका का सन्देश है। आगे यही हिन्दी तथा गुजराती आदि में शृङ्गारपूर्ण जीवन-चरित्र या वीर और शृङ्गार से मिश्रित हो गया।

प्रेमाख्यानक-काव्यों के दो वर्ग किये जा सकते हैं। एक वर्ग तो उन रचनाओं का है, जिनमें प्रेमाख्यान के साथ जीवन के गम्भीर पक्ष की ओर ध्यान है और आध्यात्मिकता का भी पुट है। दूसरे वर्ग में प्रेम की परीक्षा कराते हुए प्रेमी-प्रेमिका का संयोग-मात्र है पहले वर्ग में 'पद्मावती', 'मृगावती', 'मधुमालती' तथा 'पुहुपावती' आदि हैं। दूसरे वर्ग में चतुर्भुजदास निगम कायस्थ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मधुमालती' गणपति की 'कामकन्दला' तथा 'ढोलामारू' आदि हैं। 'ऊषा-अनिरुद्ध' आदि पौराणिक प्रेमाख्यान भी इसीमें आते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाएँ प्रेम-कथाएँ तो हैं ही, साथ ही अध्यात्म भी उनके साथ है; पर दूसरी कोरी ऐहिकतामूलक हैं और प्राकृत-अपभ्रंश के इस प्रकार के काव्यों की परम्परा में हैं। जैन-लेखकों की 'वसुदेव हिण्डी' आदि इसी प्रकार की हैं। वहाँ इन्हें धर्म का पतला आवरण अवश्य पहनाया गया है। जैनेतर पद्यबद्ध कथा-ग्रन्थ अभी तक नहीं मिले हैं, पर जैन-कृतियों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हिन्दी-प्रेमाख्यानकों की दोहा-चौपाई-शैली का पूर्ववर्ती रूप अपभ्रंश में रहा होगा।

अपभ्रंश-चरित-काव्यों का जैसा बाह्य रूप मिलता है वही 'रामचरित मानस' आदि का भी है। अपभ्रंश में स्वयम्भू का 'पउमचरिउ' भी राम-कथा है। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में भी यह कथा है। नहीं कहा जा सकता कि तुलसी को इन रचनाओं का पता था या नहीं। स्वयम्भू ने राम-कथा को नदी की समता दी है, विनय के साथ अपनी अयोग्यता प्रकट की है, सज्जनों-दुर्जनों के बारे में लिखा है और तुलसी ने उसे सरोवर कहा है तथा और बातें प्रायः स्वयम्भू की भाँति लिखी हैं। तुलसी के मानस की छन्दों की रूप-रेखा अपभ्रंश के चरित-काव्यों के समान है।

हिन्दी में विशुद्ध महाकाव्य लिखने का प्रयास 'रामचन्द्रिका' में है। नयनन्दि का 'सुदंशन-चरिउ' तथा लालू का 'जिनदत्त चरिउ' भी प्रायः ऐसे ही हैं। 'रामचन्द्रिका' की छन्द-विविधता इन दोनों में मिलती है।

सूर के 'सूरसागर' का भी हल्का सूत्र मिलता है। बौद्ध-सिद्धों के गानों का यही रूप है। वे भी रागबद्ध हैं। हाँ, उनमें कथा अवश्य नहीं है। सम्भव है कोई वैसी भी कृति रही हो, जो आज उपलब्ध नहीं है।

मुक्तक पद गोरख, विद्यापति, कबीर, तुलसी, मीरा, आदि में हैं। सिद्धों के गीतों में और इनमें इतना ही अन्तर है कि उनमें गीति-तत्त्व कम और विषय का विवेचन अधिक है। गोरख और कबीर के नाद, बिन्दु, रवि, शशि तो 'दोहा-कोष' से ही हैं। इनकी खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति भी स्पष्टतः वहीं से आती दिखाई पड़ती है।

हिन्दी में दोहों का प्रयोग शृङ्गार, नीति, मत-विवेचन आदि में भी बहुत हुआ है। सन्त तुलसी, बिहारी आदि इसके प्रमाण हैं। प्राकृत के 'गाथा सप्तशती' और 'वज्जालग्ग' इन्हीं विषयों के संग्रह हैं। 'गाथा सप्तशती' और बिहारी में तो भावसाम्य भी खूब है। सन्तों की साखियों का रूप योगीन्द्र तथा रामसिंह आदि के छन्दों में मिलता है।

सवैया-कवित्त की धारा प्राचीन अपभ्रंश-साहित्य में नहीं मिलती। सम्भव है भविष्य में अपभ्रंश का विस्तृत अध्ययन इस कमी को पूरा कर दे।

रचना-शैली और छन्दों का प्रभाव

प्राकृत और अपभ्रंश की रचना-शैलियों में अन्तर है। साहित्यिक के प्राकृत की कुछ कृतियों में संस्कृत-काव्यों की शैली का अनुकरण किया गया है, जैसे 'सेतुबन्ध' में। किन्तु 'गौडव्य'-जैसी कृतियों में मौलिकता भी मिलती है। हिन्दी की कुछ काव्य-धाराओं की रचना-शैली और जैन-अपभ्रंश के चरित-काव्यों में रचना-शैली में कुछ-कुछ साम्य आरम्भ में वन्दना, सज्जन-दुर्जन स्मरण तथा विनम्रता आदि—मिलता है। स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' तथा तुलसी के 'मानस' या जायसी के 'पद्मावत' में यह समानताएँ देखी जा सकती हैं। जायसी ने देशादि तथा ऋतुओं के जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णन किये हैं वे भी अपभ्रंश के चरित-काव्यों में हैं। जायसी का वियोग-वर्णन 'सन्देशरासक' के वियोग-वर्णन के बहुत समीप है।

हिन्दी-काव्य पर सबसे अधिक प्रभाव अपभ्रंश-छन्दों का पड़ा है। प्राकृत-अपभ्रंश में विशेष रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुए हैं, पर साथ ही वर्ण-वृत्तों के भी कुछ सफल प्रयोग हैं। प्राकृत के प्रिय छन्द गाथा तथा उसके अनेक भेद हैं। अपभ्रंश के चरित या आख्यान-काव्यों में कडवक-बद्ध छन्द प्रयुक्त हुए हैं। कुछ अपवाद भी अवश्य मिलते हैं। कुछ ने केशव की भाँति अनेक छन्दों के भी प्रयोग किये हैं। अपभ्रंश में पुराने छन्दों को मिलाकर नवीन छन्द बनाने की भी प्रवृत्ति है। छप्पय, वस्तुरड्डा तथा कुण्डलिया आदि इसी प्रकार के छन्द हैं। अपभ्रंश की एक प्रवृत्ति यह भी है कि कवियों ने चतुष्पदी तथा षट्पदी के द्विपदी की भाँति प्रयोग किये हैं। कुछ संस्कृत के छन्द भी नवीन विशेषताओं के साथ प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में गेय छन्द भी हैं। हिन्दी में अपभ्रंश-छन्दों की सभी विशेषताएँ मिल जाती हैं। यहाँ भी चरितकाव्यों 'पद्मावत' तथा 'मानस' आदि में अपभ्रंश की भाँति कडवक शैली का प्रयोग मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'सुजान-चरित' आदि में प्राकृत छन्द 'गाहा' के प्रयोग मिलते हैं। यह छन्द 'सन्देशरासक' आदि अपभ्रंश-ग्रन्थों में भी प्रयुक्त हुआ है।

समद्विपदी के अपभ्रंश में पुष्पदन्त आदि ने सुन्दर प्रयोग किये हैं। हिन्दी में सूदन ने इसका प्रयोग किया है। २८ मात्रा की द्विपदी के उल्लाला, धत्ता आदि प्रमुख भेद हैं। उल्लाला का हिन्दी में बहुत प्रयोग हुआ है। सम चतुष्पदी छन्दों में मधुभार, विजोहा, दीपक, चौपाई, आभीर, मालती, विज्जुमाला, अरिल्ल, पादाकुलक तथा हरीदुरद आदि छन्दों का अपभ्रंश में प्रयोग हुआ है। इनमें कइयों का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो', 'सुजान-चरित', 'हम्मीर रासो' आदि कृतियों में मिलता है। कुछ अपभ्रंश-छन्दों के नाम बदलने की प्रवृत्ति हिन्दी में रही है। अपभ्रंश में भी कुछ प्राकृत छन्दों के नाम परिवर्तित मिलते हैं। अर्द्ध सम चतुष्पदी छन्दों में दोहा, सोरठा तथा हरिपद आदि हैं। दोहा अपभ्रंश का प्रिय और प्राचीन छन्द है। 'कीर्तिलता', 'सन्देश रासक' तथा अन्य बहुत-सी स्फुट रचनाओं में दोहे का प्रयोग हुआ है। हिन्दी-प्रबन्ध-काव्यों तथा मुक्तक (नीति तथा शृङ्गार आदि) में दोहे का अपना विशिष्ट स्थान है। सोरठे का प्रयोग अपभ्रंश की 'परमात्म प्रकाश' आदि कृतियों में मिलता है। हिन्दी में भी भक्ति और रीतिकाल में इसके प्रयोग हुए हैं। हरिपद प्रचलित न होने पर भी अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में प्रयुक्त हुआ है। मिश्र छन्दों में प्रधानता छप्पय तथा कुण्डलिया को दी जा सकती है। कुण्डलिया प्राचीन अपभ्रंश-ग्रन्थों में प्रयुक्त नहीं है, पर 'छन्दकोश' आदि में इसके उदाहरण मिलते हैं। छप्पय का प्रयोग कुमारपाल-प्रतिबोध के अपभ्रंश-अंश में मिलता है। कहना न होगा कि हिन्दी में ये दोनों पर्याप्त प्रचलित छन्द रहे हैं।

वर्णवृत्तों का प्रयोग अपभ्रंश के चरित-काव्यों में विशेष रूप में मिलता है। फिर भी पूरे अपभ्रंश-साहित्य को देखने पर मात्रिकों की तुलना में इनकी संख्या अत्यन्त न्यून है। हिन्दी में भी आधुनिक प्रयोगों को छोड़ दिया जाय तो रासो-ग्रन्थ तथा 'रामचन्द्रिका' आदि कुछ ग्रन्थों में ही वर्ण वृत्तों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। मानस में केवल ३ या ४ ही वर्णवृत्त मिलते हैं। अधिक विस्तार में न जाकर कुछ हिन्दी-छन्दों के नाम दिये जा सकते हैं, जो प्राकृत विशेषतः अपभ्रंश की परम्परा से आए हैं—चौपाई, पादाकुलक, दोहा, सार, ताटंक, रूपमाला तथा सोरठा, भुजंगप्रयात, सवैया, छप्पय, वीर, रोला, गीतिका, तथा मनहरण आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के पदों का यही रूप अपभ्रंशादि में नहीं मिलता। अपभ्रंश में दो छन्दों के मेल से निर्मित मित्रबन्ध या द्विभंगी, त्रिभंगी आदि प्रयुक्त हुए हैं। साथ ही अपभ्रंश में कडवकों के पश्चात् लघु रचनाओं को गाते समय ध्रुवक को दुहराने की पद्धति रही होगी। इन्हीं तत्वों का विकसित या मिश्रित रूप पद ज्ञात होता है। पद रागों के अनुसार विभक्त होते हैं। ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इससे मिलती-जुलती परम्परा अपभ्रंश में भी रही है। अलंकारों के क्षेत्र में प्राकृत-अपभ्रंश-कवियों ने परम्परा से प्राप्त अप्रस्तुत विधान को तो अपनाया ही, साथ ही अपने चारोंओर के जीवन सेन वीन सामग्री भी ली। यह प्रवत्ति हिन्दी-कवियों में भी रही है। कबीर के जुलाहे आदि के रूपक इसी प्रकार की नवीनताओं की श्रेणी में आते हैं। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की विशेष प्रवृत्ति सर्वप्रथम अपभ्रंश में मिलती है। भौंरों की गुञ्जार, संगीत की ध्वनि तथा वर्षा-वर्णन के लिए प्रायः ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है। हिन्दी में भी युद्ध, वायु, वर्षा आदि के वर्णनों में इन शब्दों का प्रयोग बहुतायत से मिलता है।

कथानकों का प्रभाव

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य में प्रयुक्त कथानकों को दो वर्गों में रखा जा सकता है, एक तो पौराणिक (जैसे राम, कृष्ण आदि) और दूसरा लोक-प्रचलित (जैसे सूफी कवियों की पद्मावती, मृगावती आदि)। प्राकृत और अपभ्रंश में भी यही दो प्रधान भेद मिलते हैं। जहाँ तक हिन्दी में इन कथानकों को लेने का प्रश्न है पौराणिक कथानक तो विशेष रूप से प्राकृत-अपभ्रंश से न लिये जाकर संस्कृत से लिये गए हैं, पर लोक-कथानक अवश्य अपभ्रंश से विशेष रूप से प्रभावित हैं। सूफी-काव्यों में सिंहल द्वीप की सुन्दरियों का वर्णन आया है। प्राकृत तथा अपभ्रंश में 'भविष्यदत्त कथा', 'करकण्डुचरिउ', 'जिनदत्त चरित', 'रत्नशेखर नरपति कथा' तथा 'श्रीपाल-चरित' आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख आए हैं। जायसी के जोगी-खंड का जोगी-वर्णन भी बहुत अंशों में 'जसहरचरिउ' तथा शैलाचार्यों के वर्णनों से मिलता-जुलता है। कृष्ण-काव्य की राधा को पढ़कर कभी-कभी 'गाथा सप्तशती' के कुछ छन्द याद आ जाते हैं। कृष्ण के भी कुछ चित्र पुष्पदन्त आदि में मिल जाते हैं। हिन्दी की जैन-काव्य-धारा के कथानक तो अधिकांशतः प्राकृत तथा अपभ्रंश जैन-काव्य के कथानकों से प्रभावित हैं। इस प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश-कथानकों का हिन्दी के कथानकों पर पर्याप्त प्रभाव है।

इन समानताओं के अतिरिक्त भाव-धारा की समानताएँ भी कुछ हिन्दी तथा अपभ्रंश-साहित्य में मिल जाती हैं। जैन, बौद्ध तथा शैव-साधकों का स्वर बाद में नाथ-पंथ तथा सन्तों में दिखाई पड़ता है। ये सभी जप, तप, पूजा, अर्चना, तीर्थ, वर्ण, अवतार तथा शास्त्र के विरोधी थे। विद्वानों का कहना है कि वैदिक युग से ही इस प्रकार के विरोधी लोग यहाँ थे और वही परम्परा अब तक किसी-न-किसी रूप में आ रही है। 'गुरु' के विषय में भी हिन्दी-साहित्य प्राकृत-अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है। बिहारी आदि की शृङ्गार-धारा के भाव भी 'गाथा सप्तशती', 'वज्जालग्ग' तथा हेमचन्द्र में मिल जाते हैं। इस प्रकार मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य बाह्य और आन्तरिक सभी रूपों में प्राकृत, विशेषतः अपभ्रंश से बहुत प्रभावित है।[1]

---

१. लेखक के डी० फिल० के अप्रकाशित थीसिस का संक्षिप्त रूप, श्री भोलानाथ तिवारी द्वारा प्रस्तुत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

९

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र

हिन्दी में इस समय काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। एक तो रीतिकालीन आचार्यों के ग्रन्थ; जैसे केशवदास-कृत 'कविप्रिया', भिखारीदास-कृत 'काव्य-निर्णय' आदि तथा दूसरे पश्चिमी साहित्य-शास्त्र के आधार पर लिखे गए आधुनिक ग्रन्थ; जैसे बा० श्यामसुन्दरदास-कृत 'साहित्यालोचन'। प्रश्न यह है कि क्या इन दो श्रेणियों के ग्रन्थों में से किन्हीं को भी हम हिन्दी काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ मान सकते हैं।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों के परिभाषा के भाग प्रायः इस विषय के संस्कृत-ग्रन्थों के इन अंशों के स्वतन्त्र अनुवाद हैं अथवा उन्हें आदर्शस्वरूप सामने रखकर लिखे गए हैं। उदाहरण के अंशों में भी हिन्दी के प्रसिद्ध पूर्ववर्ती भक्तिकालीन कवि—जैसे तुलसीदास, सूरदास आदि के ग्रन्थों से उपयुक्त उद्धरण संकलित करने का प्रयास नहीं किया गया बल्कि कल्पित उदाहरण गढ़ कर दिये गए हैं। कहीं-कहीं संस्कृत उदाहरणों का ही छायानुवाद दे दिया गया है।

हिन्दी का आधुनिक साहित्य-शास्त्र अथवा समालोचना-शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य अंग्रेजी के चार-छः चुने हुए ग्रन्थों का सार है; न इस विषय के संस्कृत अथवा रीतिकालीन साहित्य से ही इसका सम्बन्ध है और न वास्तविक हिन्दी ललित-साहित्य से ही। उदाहरण के लिए इन हिन्दी-ग्रन्थों में नाट्यकला-सम्बन्धी अध्याय में हडसन अथवा इसी श्रेणी के किसी अंग्रेजी लेखक के विचारों का अनुवाद अथवा भावार्थ मिल जायगा। हिन्दी-लेखक न इस रूप के सिद्धान्तों का परिचय देने का यत्न करेगा और न हिन्दी नाटकों के आधार पर किन्हीं मौलिक सिद्धान्तों के निर्माण का ही यत्न करेगा।

इस प्रकार हम उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के ग्रन्थों को हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र अथवा आलोचना-शास्त्र नहीं मान सकते। इसका निर्माण अभी होना है। इस टिप्पणी में मैं इसी ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्रश्न यह किया जा सकता है कि हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र कैसे निर्मित हो। उत्तर सीधा है। इसका निर्माण हिन्दी-साहित्य के आधार पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए सूरदास अथवा तुलसीदास आदि के ग्रन्थों में प्रयुक्त समस्त अलंकारों के वास्तविक संकलन तथा विश्लेषण के आधार पर हिन्दी-अलंकार-शास्त्र की नींव डाली जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह विशेष ध्यान रखना आवश्यक होगा कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सूरसागर' अथवा 'मानस' के अलंकारों को संस्कृत अथवा रीतिकालीन अलंकार-सम्बन्धी ग्रन्थों में पाई जाने वाली परिभाषाओं की कसौटी पर न कसा जाय बल्कि उन्हें मौलिक प्रयोग मानकर उनका वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय। इसी प्रकार से हिन्दी में रस, नायिका-भेद, गुण-दोष, छन्द-शास्त्र आदि के ग्रन्थ तैयार होने चाहिएँ।

हिन्दी के आधुनिक साहित्य का भी इसी प्रकार विश्लेषण करने की आवश्यकता होगी। प्रसाद के नाटकों के शास्त्रीय विश्लेषण के आधार पर ही हिन्दी के अपने नाट्य-शास्त्र की नींव पड़ सकेगी और इसी नींव पर इस विषय के भवन का निर्माण करना होगा। प्रेमचन्द की कहानियों का शास्त्रीय अध्ययन हमें अपनी कहानी-कला के सिद्धान्तों की मौलिक सामग्री दे सकेगा। थोड़ी देर के लिए संस्कृत तथा अंग्रेजी साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को भुलाकर हमें यह कार्य करना होगा।

हिन्दी के अपने काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के निर्माण के कार्य को हमें दो भागों में बाँटना होगा। व्यक्तिगत हिन्दी कवियों तथा लेखकों की कृतियों का शास्त्रीय विश्लेषण करना, क्रमबद्ध करना तथा उससे निष्कर्ष निकालना। इसमें खोज-कार्य में दिलचस्पी रखने वाले सैकड़ों विद्यार्थियों को लगाया जा सकता है। यह कार्य पूरा हो जाने पर इस सामग्री के आधार पर हिन्दी के विद्वान् हिन्दी काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ लिख सकेंगे जो हिन्दी-साहित्य से संकलित उदाहरणों से पूर्ण रहेंगे—एक प्रकार से उन्हीं का निचोड़ होंगे। यह हिन्दी का काव्य-शास्त्र संस्कृत अथवा अंग्रेजी काव्य-शास्त्र से किस अंश में प्रभावित है तथा किस अंश में मौलिक है यह कार्य अन्त में तीसरी खेप के विद्वानों के लिए छोड़ देना चाहिए। हिन्दी के अपने साहित्य-शास्त्र के निर्माण की वास्तविक सीढ़ियाँ तो पहली और दूसरी हैं जिनमें हिन्दी आलोचना-शास्त्र के विद्यार्थियों तथा विद्वानों को शीघ्र कदम उठाना है।

चन्द्रबली पांडे

जायसी की भूल

'जायसी-ग्रन्थावली' में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त का कहना है—

"यद्यपि मार्गशीर्ष-पौष मास हेमन्त के माने गए हैं, किन्तु 'हेम' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असंभव नहीं माना जा सकता है।"

साथ ही यहाँ इतना और भी समझ लें कि इसके ठीक पश्चात् अगले ही 'छन्द' में फिर आपकी ही टिप्पणी है—

"माघ-फालगुन मास शिशिर के ही माने गए हैं, किन्तु 'सिसिर' पाठ केवल प्र० १, २, द्वि० ७ में मिलता है, और केवल इन प्रतियों में प्राप्त पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठहरते हैं, इसलिए यहाँ पर भी वह अग्राह्य होगा। कवि से भूल होना भी असम्भव नहीं माना जा सकता है।"

बात ठीक ही कही गई है। विरोध इसका कोई क्योंकर कर सकता है? परन्तु क्या सम्पादक का यही कहना पर्याप्त समझा जायगा? प्र० १, २, द्वि० ७ का पाठान्तर सर्वत्र अप्रामाणिक ठहरता है, इसलिए यहाँ भी वह अप्रामाणिक ही होगा, इसका प्रमाण क्या? यहाँ तो 'प्रामाणिक' है न? यदि नहीं तो कृपाकर अपने इस 'प्रामाणिक पाठ' पर ध्यान दें। यहाँ 'सिसिर' की स्थिति क्या है? पूर्वराग की दशा में—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।
भएउ हुलास नवल रितु माँहाँ। खिनु न सोहाइ धूप औ छाहाँ।
पदुमावति सब सखीं हँकारीं। जाँवत सिंघल दीप की बारीं।
आजु बसंत नवल रितुराजा। पंचिमि होइ जगत सब साजा।
नवल सिंगार बनाफति कीन्हा। सीस परासन्ह सेंदुर दीन्हा।
बिगसि फूल फूले बहु बासाँ। भँवर आइ लुबुधे चहुँ पासाँ।
पियर पात दुख झरे निपाते। सुख पालौ उपने होइ राते।
अवधि आइ सो पूजी जो ईंछा मन कीन्ह।
चलहु देव गढ़ गोहने चहौं सो पूजा दीन्ह॥१८३॥

प्रश्न उठता है कि कवि की दृष्टि में 'सिसिर' के बाद 'वसन्त' का आगमन होता है अथवा 'हेमन्त' के बाद। समाधान के पहले ही इतना और भी जान लें कि कवि का कथन है 'सिरी पंचमी' के विषय में ही इस 'संस्करण' में स्पष्ट, स्फुट और निर्विवाद

माघ मास पाछिल पख लागें। सिरी पंचिमी होइहि आगें।
उघरिहि महादेव कर बारू। पूजिहि जाइ सकल संसारू।
पदुमावति पुनि पूजै आवा। होइहि एहि मिसु दिस्टि मेरावा।
तुम्ह गवनहु मंडप ओहि हौं पदुमावति पास।
पूजैं आइ बसंत जौं पूजै मन कै आस॥१६२॥

अतएव यह सरलता से कहा जा सकता है कि कवि को 'सिरी पंचमी' और 'वसन्त' का यथार्थ बोध है और फलतः वह 'वसन्त पंचमी' का ठीक निर्देश करता है। परन्तु ऋतु के विचार से तो अभी 'वसन्त' ऋतु है नहीं। माघ-फाल्गुन की गणना तो 'शिशर' ऋतु में है न? फिर यह प्रमाद कैसा? क्या हम इसे जायसी की भूल कह सकते हैं? जायसी कहते हैं, किस ठिकाने से, ठीक अवसर पर—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो जायसी का अर्थ क्या है? स्मरण रहे 'प्रामाणिक' संस्करणानुसार जायसी की दृष्टि में 'शिशिर' का भोग है अगहन और पूस। कहते हैं, रत्नसेन और पद्मावती के सम्भोग को लक्ष्य कर

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ। अगहन पूस जहाँ घर पीऊ।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहुँक अंग एक मिली लागा।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।
जानहुँ चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी।
जूझै दुहुँ जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै भागा।
दुई घट मिलि एकै होइ जाहीं। ऐस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं।
हंसा केलि करहिं जेउँ सरवर कुंदहि कुरलहिं दोउ।
सीउ पुकारै दाद भा जस चकई क बिछोउ ॥३३९॥

और 'हेमन्त' की स्थिति है ठीक इसके पश्चात् ही—

रितु हेवंत संग पीउ न पाला। माघ-फागुन सुख सीउ सियाला।
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती।
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहुँ दुख कर खोजू।
जहँ धनि पुरुख सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा।
जाइ इन्द्र सौं कीन्हु पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा।
एहि रितु सदा सँग मैं सोवा। अब दरसन हुत मारि बिछोवा।
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा जो सीउ बीच हुत मेंटा।
भएउ इन्द्र कर आएसु प्रस्थावा यह सोइ।
कबहुँ काहु कै प्रभुता कबहुँ काहु कै होइ ॥३४०॥

जायसी ने ऋतु-वर्णन को यहीं समाप्त कर दिया है, कारण कि उसका आरम्भ हुआ था—

प्रथम वसन्त नवल ऋतु आई। सुरितु चैत बैसाख सुहाई।
चन्दन चीर पहिरि धनि अंगा। सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा।
कुसुम हार औ परिमल बासू। मलयागिरि छिरका कविलासू।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी। धनि औ कन्त मिले सुख बासी।
पिउ संजोग धनि जोबन बारी। भँवर पुहुप सँग करहिं धमारी।
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी। बिरह जराइ दीन्ह जसि होरी।
धनि ससि सियरि तपै पिउ सूरू। नखत सिंगार होइ सब चूरू।
जेहि घर कंता रितु भली आउ बसंता नित्तु।
सुख बहरावहिं देवहरै दुक्ख न जानहिं कित्तु ॥३३५॥

जायसी ने 'हेमन्त' के बाद 'शिशिर' को नहीं माना ऐसा यहाँ सिद्ध होता है। यह कवि की भूल कही गई है। किन्तु यह भूल कैसी और क्यों है? इसके पहले ही तो कवि ने १८३ में ही कह दिया था—

दैय दैय कै सिसिर गँवाई। सिरी पंचिमी पूजी आई।

तो फिर इसका अर्थ क्या? क्या कवि यहाँ भी 'सिसिर' का अर्थ अगहन-पूस ही समझता है? और फिर 'सिसिर' का पाठ क्यों? प्रामाणिक संस्करण का पाठान्तर है न—

"द्वि० १, २, ३, ६, ७, तृ० ३, च० १ सो रितु, द्वि० ४, ५, पं० १ सुरितु।"

तो हम जानना चाहते हैं कि वास्तव में 'सो रितु' क्यों ठीक नहीं और इसके स्थान पर 'सिसिर' क्यों ठीक है। और यदि यह ठीक है तो इस पर कोई टिप्पणी क्यों नहीं? क्या 'सिसिर' के बाद 'सिरी पंचमी' का आगमन होता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉक्टर कामिल बुल्के

'रामचरितमानस' का रचना-क्रम

'रामचरितमानस' की कथावस्तु तथा उसके विभिन्न अंगों के आधार-ग्रन्थों का पूरा विश्लेषण करने के बाद सुश्री सी० वोद्वील[1] उसके रचना-क्रम के ये तीन सोपान निर्धारित करती है—१. रामचरित; २. शिवरामायण; ३. भुशुण्डी रामायण।

१. *'रामचरित'* : प्रथम पाण्डुलिपि के विषय में डाक्टर माताप्रसाद गुप्त का मत स्वीकार किया गया है, जिसके अनुसार इसमें बालकाण्ड का उतरार्द्ध (१८४ ३६१) तथा सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड था।[2] सुश्री वोद्वील का विचार है कि उस सामग्री के अतिरिक्त 'रामचरित' में अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ (१-६) तथा बालकाण्ड की प्रस्तावना का पूर्वार्द्ध (१-२६) भी रहा होगा। प्रस्तावना के पूर्वार्द्ध में 'रामचरितमानस' नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है, और न किसी संवाद का। कवि ही वक्ता हैं; यद्यपि शिव का नाम कई बार आया किन्तु रामकथा के वक्ता अथवा रचयिता के रूप में नहीं।

बालकाण्ड (१८४-२०५) के कई स्थलों पर शिव वक्ता के रूप में आते हैं। उसके विषय में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त के अनुसार माना गया है कि द्वितीय पांडुलिपि तैयार करते समय कवि ने इस अंश में कुछ परिवर्तन किया होगा। यह अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ पर भी लागू है, क्योंकि इसमें शिव तथा कवि[3], दोनों ही वक्ता हैं।

सम्भव है गोस्वामी तुलसीदास के अयोध्या से चले जाने के कारण रामचरित की रचना स्थगित कर दी गई हो।

२. *'शिवरामायण'* : रामचरितमानस के शेष अंगों से स्पष्ट है कि रामचरित के स्थगित करने के बाद कवि का दृष्टिकोण बदल गया है। अब वे अपनी रचना को शिव-पार्वती-संवाद के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। काव्य-ग्रन्थ (रामचरित) मात्र न रहकर, एक साम्प्रदायिक रामायण (शिवरामायण) का रूप धारण कर लेता है। सम्पूर्ण प्रथम पाण्डुलिपि के अतिरिक्त, इस रामायण में निम्नलिखित सामग्री थी—बालकाण्ड १०५–१८४, अरण्यकाण्ड से युद्धकाण्ड तक, उत्तरकाण्ड का पूर्वार्द्ध (१-५२)।

'शिवरामायण' में भुशुण्डी का बहुत से स्थलों पर उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त[4] का मत है कि जब कवि ने अन्त में काक भुशुण्डी को रामायण के वक्ता के रूप में रखा तब उन्होंने यह आवश्यक समझा कि अन्य काण्डों में भी वक्ता के रूप में भुशुण्डी की चर्चा कर दी जाय। सुश्री वोद्वील का विचार है कि 'शिवरामायण' प्रारम्भ करते समय कवि

---

१. आपका अध्ययन पेरिस विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है और वहाँ छप रहा है।
२. देखिए, 'तुलसीदास' पृष्ठ २६४।
३. देखिए, 'पर नर भरत प्रीति मैं भाई'।
४. देखिए, 'तुलसीदास', पृष्ठ २६५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मन में भुशुण्डी को वक्ता के रूप में रखने की बात नहीं आई। अतः बालकाण्ड पूर्वार्द्ध[1] तथा बालचरित में भुशुण्डी अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित है।[2] द्वितीय पाण्डुलिपि के अन्य काण्डों में वक्ता के रूप में जो भुशुण्डी के उल्लेख मिलते हैं इसका कारण यह होगा कि तुलसीदास के पास 'भुशुण्डी रामायण' था ही। ये उल्लेख सम्भवतः उस भुशुण्डी रामायण की सामग्री की ओर निर्देश करते हैं और कवि पर भुशुण्डी रामायण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रमाणित करते हैं; यहाँ तक कि उत्तर काण्ड में उस रामायण का एक विस्तृत उद्धरण भी दिया गया है।[3] उस अंश में शिव अन्य पुरुष के रूप में उल्लिखित हैं।

३. *'भुशुण्डी रामायण'* : शिव रामायण सात काण्डों में विभक्त था और स्वतःपूर्ण भी था। लेकिन भुशुण्डी रामायण का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा था कि उन्होंने बाद में भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को भी अपनी रचना में जोड़ दिया है। उस संवाद में भुशुण्डी शिव से स्वतन्त्र वक्ता है। शिव स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि मैंने रामकथा काक भुशुण्डी से सुनी थी।[4] फिर भी अपने काव्य की एकता सुरक्षित रखने के लिए तुलसीदास ने अन्त में शिव को प्रधान वक्ता के रूप में माना है[5] तथा प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध में भी लिखा है कि शिव ही रामचरितमानस के रचयिता हैं और उन्होंने काक भुशुण्डी को अधिकारी समझकर उसे रामकथा सुनाई थी।

बहुत सम्भव है कि मूल भुशुण्डी रामायण का नाम 'रामचरितमानस' ही था। अतः भुशुण्डी-गरुड़-संवाद को अपनी रचना में जोड़ देने के बाद ही तुलसीदास ने उसे 'रामचरितमानस' का नाम दिया है। यह नाम विभिन्न काण्डों की पुष्पिका तथा बालकाण्ड के प्रक्षिप्त तीन सोरठों (१२०) को छोड़कर, केवल प्रस्तावना उत्तरार्द्ध तथा उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध में आया है; ये अंश तृतीय पाण्डुलिपि के ही हैं। सुश्री सी० वोदवील के अनुसार तृतीय पाण्डुलिपि का रचना-क्रम इस प्रकार है—(अ) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०, (आ) शिवचरित, बाल काण्ड ४४-१०४; (इ) प्रस्तावना उत्तरार्ध, ३०-४३।

'शिवचरित' पहले नहीं रखा गया था, इसका प्रमाण यह है कि रामचरितमानस की कथावस्तु का जो सिंहावलोकन उत्तर काण्ड में दिया गया है[6], उसमें शिवचरित का उल्लेख नहीं है।

समालोचना

रामचरितमानस के रचना-क्रम के उपर्युक्त तीन सोपान स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। मेरी समझ में इस प्रकार का विभाजन सुश्री वोदवील के अध्ययन का एक बहुमूल्य परिणाम है। फिर भी अन्तिम दो की सामग्री में कुछ परिवर्तन अपेक्षणीय हैं, तथा विकास के तीसरे रूप का नाम 'रामचरितमानस' रखना अधिक उचित प्रतीत होता है।

मेरा विश्वास है कि जिस प्रकार उत्तरकाण्ड में भुशुण्डी-गरुड़-संवाद की भूमिका के रूप

१. देखिए, पृष्ठ १४६।
२. बालकाण्ड के तीन सोरठे १२० क ख ग स्पष्टतया बाद में जोड़ दिये गए हैं।
३. देखिए, पृष्ठ १२-२२।
४. देखिए, 'उत्तरकाण्ड' पृष्ठ ५२-५७।
५. देखिए, पृष्ठ १२६-१३०।
६. देखिए, पृष्ठ ६४-६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में शिव-पार्वती-संवाद रखा है।[1] इस प्रकार बालकाण्ड में भी शिव-पार्वती-संवाद की भूमिका स्वरूप याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पाण्डुलिपि में प्रारम्भ से ही विद्यमान था।[2] सुश्री वोदवील के रचना-क्रम के अनुसार याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद बिलकुल अन्त में, प्रस्तावना के उत्तरार्द्ध के पहले जोड़ दिया गया है। द्वितीय पाण्डुलिपि में[3] याज्ञवल्क्य के जितने उल्लेख मिलते हैं, वे सब-के-सब बाद के प्रक्षेप हैं। अवतार-हेतु की विभिन्न कथाओं में सम्बद्धता का अभाव था, अतः तुलसीदास ने बाद में याज्ञवल्क्य को उनका वक्ता बनाकर उन्हें एक सूत्र में ग्रथित किया है। यह तर्क बहुत चिन्त्य है, और अनावश्यक भी; यदि मान लिया जाय कि याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद द्वितीय पांडुलिपि का अंश था, तो सारी समस्या हल हो जाती है।

'शिवचरित'[4] के विषय में मेरा अपना विचार है कि यह एक स्वतन्त्र रचना है; उसकी शैली, भाषा और छन्द-योजना यह अनुमान दृढ़ करती है कि वह प्रथम पाण्डुलिपि के समय ही लिखा गया था। 'सिय-रघुवीर विवाह'[5] तथा भरत-चरित[6] के समान ही उसकी अपनी फलस्तुति है। उत्तरकाण्ड में जो 'रामचरितमानस' का सिंहावलोकन है, उसमें 'शिवचरित' का उल्लेख नहीं है। अतः तुलसीदास ने उसे बाद में, प्रस्तावना उत्तरार्द्ध (उसमें 'शिवचरित' का उल्लेख है) के पहले अपने काव्य में जोड़ दिया है।

एक बात और विचारणीय है। उत्तर काण्ड में 'रामचरितमानस' के सिंहावलोकन में[7] मानस-रूपक का उल्लेख है। अतः बहुत सम्भव है कि प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का एक पूर्वरूप उत्तरकाण्ड से पहले लिखा था। इसके अतिरिक्त बालकाण्ड के दोहे ३१-३२, जिनमें राम-चरित का उल्लेख है, सम्भवतः प्रथम पाण्डुलिपि के अन्तर्गत थे। इस प्रकार 'रामचरितमानस' की निम्न लिखित रचना अधिक समीचीन प्रतीत होती है—

क. रामचरित : (१) बालकाण्ड १-२६, ३१-३२ प्रस्तावना पूर्वार्द्ध
(२) बालकाण्ड १८४-२०५ का पूर्वरूप, २०६-३६१
(३) अयोध्याकाण्ड सम्पूर्ण

ख. शिव रामायण : (१) बालकाण्ड ४४-४७, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ
(२) बालकाण्ड १०५-१८३, शिव-पार्वती-संवाद, अवतार-हेतु
(३) बालकाण्ड १८४-२०५ का प्रस्तुत रूप
(४) अरण्यकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक
(५) उत्तरकाण्ड उतरार्द्ध १-५२

---

1. देखिए, पृष्ठ ६२
2. प्रस्तुत विवेचन के दृष्टिकोण से बालकाण्ड की कथा-वस्तु का निम्नलिखित विभाजन सुविधाजनक है : (१) १-४३ प्रस्तावना; (२) ४४-४७ याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद का प्रारम्भ; (३) ४८-१०३ शिवचरित; (४) १०४-१२० शिव-पार्वती-संवाद का प्रारम्भ; (५) १२१-१८३ अवतार-हेतु की कथाएँ; (६) १८४-३६१ रामचरित।
3. देखिए, पृष्ठ १०५-१७६।
4. बालकाण्ड, ४८-१०३। ५. देखिए, बालकाण्ड, ३६१। ६. देखिए, अयोध्याकाण्ड पृष्ठ ३२६
7. देखिए, पृष्ठ ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग. रामचरितमानस : (१) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का पूर्वरूप—मानसरूपक
(२) उत्तरकाण्ड उत्तरार्द्ध ५२-१३०
(३) पूर्वरचित 'शिवचरित' ज्यों का त्यों बालकाण्ड में (४८-१०३) जोड़ दिया जाता है।
(४) प्रस्तावना उत्तरार्द्ध का प्रस्तुत रूप। बालकाण्ड, ३३-४३।
(५) गौण प्रक्षेप—जैसे बालकाण्ड के सोरठे १२० (ख, ग, घ) तथा प्रस्तावना का विविध संवादों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न।[1]

---

१. देखिए, चौ० दो० ३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

पॉल वेलरी

भविष्यत्-साहित्य[1]

: १ :

मानव-चेतना ने भौतिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की और आज भौतिक परिस्थितियाँ अपनी पराजय का मूल्य पाई-पाई अदा कर देने पर उतारू हैं। भौतिक परिस्थितियाँ हमको ऐसे स्थल पर ले जा रही हैं, जहाँ पहुँचकर हम होश खो बैठे हैं। हम अपनी आदिम परिस्थितियों से प्रतिक्षण दूर होते जा रहे हैं। भयानक गति से हम ऐसी भौतिक व्यवस्था में प्रवेश करते जा रहे हैं जिनका उलझाव, अस्थायित्व, और अद्भुत विशृङ्खलता हमको स्तब्ध कर रही है, जिसने हमसे हमारी भविष्य को देख पाने वाली दृष्टि छीन ली है, जिसने हमें भविष्य के विषय में कोई भी निश्चित धारणा न बना पाने के लिए मजबूर कर दिया है।

इस सबका प्रभाव मन पर पड़ना अनिवार्य है। मानव-चेतना ने जिस दृश्यमान् जगत् को इतना बदल दिया है, स्वाभाविक है कि वह दृश्यमान् जगत् मानव-चेतना का दृष्टिकोण बदल दे। अतीत की परम्पराओं से सर्वथा पृथक्, बिलकुल नई समस्याएँ और अबूझ पहेलियों से हमें

१. आलोचना के इस अंक में भविष्यत् साहित्य के सम्भावित स्वरूप के विषय में हम दो मनीषियों के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं। भौतिक विज्ञान की चरम उन्नति चेतना को जिस रहस्यमय देश की सीमा तक ले गई है उसने हमारी आज की समस्त मान्यताओं के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी कवि और विचारक पॉल वेलरी की फ्रेन्च गद्य-कृति 'आधुनिक विश्वचिन्तन' के एक अंश पर आधारित जिन विचारों को हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं उसमें भौतिक विज्ञान के चमत्कारों ने उसे भयाकुल कर दिया है। भविष्य के प्रति उसके अनुमानों में एक निराशा और त्रास की भावना है जिससे वह उबरने का प्रयास करता है। उसके बाद श्री अरविन्द का अत्यन्त विचारोत्तेजक लेख है, जिसमें आशा का अदम्य स्वर है। उनके दर्शन से सभी सहमत हों यह आवश्यक नहीं, किन्तु काव्य के प्रति उनका मौलिक दृष्टिकोण हम गम्भीर विचार-विनिमय के लिए हिन्दी के कृतिकारों और पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। इस लेख को रूपान्तरित करने में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सुझाव और सहयोग के लिए हम आभारी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चमत्कृत कर दे।

इस स्थिति ने निस्सन्देह अपने भविष्य के प्रति हमें चिन्तित कर दिया है। जहाँ एक ओर हम अपने इस अभियान की आगामी मंजिल को पंजों के बल खड़े होकर, गरदन उठाकर देखने के लिए उत्सुक हैं, हम अपने आने वाले कल की शक्लें जान लेना चाहते हैं, वहीं दूसरी ओर हम यह महसूस करते हैं कि हमारी जीवन-दृष्टि दिन-प्रतिदिन दूर देख पाने में असमर्थ होती जा रही है। हमारी चेतना का जीवन केवल एक दिन की आयु का होता है। हर दूसरे दिन उसका नवीन जन्म होता है। युद्ध, भूकम्प, महामारी या इसी प्रकार के अप्रत्याशित संकट के दिनों में मनुष्य की भविष्यत्-चेतना जितनी संशयपूर्ण हो जाती है, वैसी ही संशयग्रस्त और केवल तात्कालिकता में केन्द्रित हमारी आधुनिक चेतना है। न केवल काल, प्रत्युत दिशा की दृष्टि से भी हम इसी प्रकार संशयग्रस्त होते जा रहे हैं। हमारे शास्त्र, हमारी आकांक्षाएँ हमारी, राजनीति, सब-कुछ स्थानीय भावनाओं से अनुप्राणित होते रहे हैं। हमारे समस्त प्रतिष्ठान इस आधार पर बने हैं कि राष्ट्रों और व्यक्तियों का क्षेत्र तथा सीमाएँ न्यूनाधिक यही रहेंगी।······लेकिन आज अकस्मात् स्थानान्तरण की प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी है, आधुनिक जीवन यायावर हो उठा है, चिर-चलायमान; यात्रा की जो सुविधाएँ और जो साधन भौतिक विज्ञान ने हमें दिये हैं उसने इस प्रवृत्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है।

इस प्रकार हमारी चेतना का वर्तमान संकट यह है कि उन्मूलित और यायावर मानव आज प्रश्न-चिह्न बनकर स्थायी और परम्पराबद्ध मानव के सम्मुख खड़ा है। हम आज एक प्राचीन परम्परागत व्यवस्था और अपनी धुरी से विचलित हो जाने वाली विकासमान सत्ता के बीच का तुमुल संघर्ष देख रहे हैं। एक ओर ये नये ढंग के खानाबदोश लोग सीमाओं को लाँघते हुए, चहारदीवारियों को तोड़ते हुए भटक रहे हैं, दूसरी ओर बार-बार किलों के परकोटों की मरम्मत कराई जा रही है, शहरपनाह की दीवारें और ऊँची कराई जा रही हैं, राष्ट्रीय सीमाओं पर कँटीले तारों का बाड़ा और घना किया जा रहा है।

मैंने अक्सर यह कहा है कि हम भविष्य के फाटकों में प्रवेश तो कर रहे हैं, लेकिन उल्टे पैरों चलकर। भविष्य की ओर हमारी पीठ ही है। इस गति से भी जीवन-संग्राम में कभी-कभी सहायता मिलती है, किन्तु बाद में कुछ विशेष जाति की मछलियों को भी इस गति का परित्याग कर देना पड़ा है। क्या आज भी हम वही गति कायम रख सकते हैं? यानी हम सोचें, जियें, और लिखें; मगर इस धारणा के साथ जो-कुछ अनागत है उसे हम अतीत की शब्दावली में बाँध नहीं सकते और जो-कुछ घटित हो चुका है उसकी पृष्ठभूमि में अघटित की व्याख्या नहीं कर सकते।

मेरी प्रार्थना है कि आप इस प्रश्न के महत्त्व को समझें। आज यह अनिवार्य है कि लेखक के मन में अदृश्य भविष्य के लिए एक त्रस्त जिज्ञासा हो।

: २ :

बीते हुए कल की स्थिति कुछ और थी। हम भविष्य के प्रति इतने आशंकित नहीं थे। आशंका के बजाय एक क्रीड़ा-भावना मन में थी, जिससे प्रेरित होकर हम अपरिचित, आकस्मिक घटनाओं का भी साहस और धैर्य से सामना करते हैं। पुनश्च हमारे जीवन की पिछली रीति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति—विवाह, सामाजिक नियम, बीमा, बैंक, लेन-देन, ये सब इसके परिचायक हैं कि मनुष्य अपने भविष्य के प्रति बहुत-कुछ आश्वस्त था, वह जानता था कि आने वाला कल आज से बहुत भिन्न नहीं होगा। पुनश्च, अगर कोई कवि हुआ, कलाकार हुआ, लेखक हुआ तो उसकी आस्था भविष्य पर और भी अधिक होती थी। वह अपनी कृतियों का लक्ष्य आगे आने वाली पीढ़ियों को मानता था इससे उसकी कृतियों में स्थायित्व, परिपक्वता और ठोसता भी आती थी। उसका समस्त जीवन तात्कालिकता की माँग के बजाय शाश्वत मूल्यों का अनुगमन करता था। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही और इसकी कोई आशा नहीं कि हमारे अस्थि-शेषों से भी अब कभी वही स्थिति पुनः वापस आये।

यह भी अब स्पष्ट होने लगा है कि विभिन्न देशों में भावी समाज-व्यवस्था की जो रूप-रेखाएँ बनाई जा रही हैं, उनमें साहित्य के संरक्षण को एक अनावश्यक बुद्धि-विलास मानकर महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा रहा है। केवल कुछ अल्पसंख्यक बुद्धिजीवियों का विकास, मुट्ठी-भर व्यक्तियों को प्रश्रय, उनका पालन-पोषण (जो भौतिक अर्थ में बहुसंख्यक लोगों को कुछ भी नहीं दे सकते) शासन-सत्ता के लिए भला क्या महत्त्व रख सकता है। इसलिए लेखकों के सम्मुख साहित्य की जीवन-व्यापी साधना, एक-एक कृति को अपनी सम्पूर्ण संचित अनुभूति से सिक्त करने की कल्पना जो गोएटे के समय सम्भव थी आज केवल अतीत की मधुर कल्पना ही प्रतीत होती है। आखिर कवि, दार्शनिक, कलाकार अभी तक कैसे जीविका उपार्जित करते रहे। उन्होंने मानव-जाति के लिए उन कृतियों का सृजन किया है जो मानव-संस्कृति के गौरव-चिह्न हैं, किन्तु किस आधार पर? सच तो यह है कि वे किसी प्रकार अस्तित्व धारण किये रहे। आर्थिक व्यवस्था में कुछ इतनी अनियमितता रही है कि कुछ भी निश्चित नहीं था। किसी को ऐश्वर्य, तो किसी को सूखी रोटी। वर्ले किसी तरह दान-दया के सहारे जिया, तो विक्टर ह्यूगो लखपती होकर मरा। कुछ ने महल खड़े कर लिये तो कुछ दीवालिये हो गए। किन्तु अब जो स्थिति है उसमें लेखन का आर्थिक भविष्य कुछ बहुत उज्ज्वल नहीं दीख पड़ता। शासन-सत्ता का यन्त्र उन पर अपने शिकञ्जे बुरी तरह कस रहा है और चाहे कोई कहे कि उन पर अनुशासन नहीं रखा जा रहा है, किन्तु फिर भी उस पर इस बात की विवशता दिन-प्रतिदिन आरोपित हो रही है कि शासन-सत्ता कोई भी हो किन्तु वह यही कहता रहे कि यही शासन-सत्ता सर्वोत्तम है, और इसीकी अधीनता में समाज का सर्वश्रेष्ठ निर्माण सम्भव है।

: ३ :

आर्थिक स्थिति के बाद अब दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष है भाषा के माध्यमों का। साहित्य की वाहिनी 'भाषा' है। मनुष्य ने अभी तक भाषा के रूप को सुरक्षित रखने के लिए लेखन-प्रणाली और लिपि का प्रयोग किया है। किन्तु इस वैज्ञानिक युग में बहुत-से महत्त्वपूर्ण साधन ऐसे विकसित हो रहे हैं जो भाषा के स्वरूप को, उसके प्रभाव को, उसके वृत्त को नये रूप देंगे, नई प्रणाली से आयोजित करेंगे। यदि अन्य साधनों को छोड़ दें तो ग्रामोफ़ोन और रेडियो, दो साधन ऐसे हैं जो स्पष्ट हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इनकी लोकप्रियता जिस प्रकार बढ़ रही है, और लिखित वाणी के स्थान पर बोली हुई वाणी को सुरक्षित रखने के जितने सरल माध्यम इन प्रणालियों ने खोज निकाले हैं उनसे अभी से यह सम्भावना उत्पन्न होने लगी है कि कहीं धीरे-धीरे पाठ्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य विलुप्त न हो जाय और केवल श्रव्य-साहित्य ही भाषा के प्रयोग की मुख्य दिशा न बन जाय।

लेखन-पद्धति का विलोप निस्सन्देह हमें मानव-संस्कृति की आदिम अवस्था की ओर वापस ले जायगा और साहित्य के शिल्प की दृष्टि से आश्चर्यजनक क्रान्तिकारी परिवर्तन होने की सम्भावनाएँ हैं। इससे यह लाभ तो अवश्य है कि काव्य-रूपों के विधान में पुनः श्रवण का विशेष महत्त्व प्रतिष्ठित हो जायगा। ध्वनि और ध्वनि-ग्रहण के बीच से लिखित अक्षर का माध्यम हट जायगा। साहित्य का रूप-विधान और उसकी प्रेषणीयता पर इसका तत्काल प्रभाव होगा। कुछ कवियों में जो दुरूहता मिलती है, वह उनके मुख से सुने जाने पर कम हो जायगी, लेकिन पाठक (जो श्रोता में बदल जायँगे) अक्सर किसी भी पद्यांश या गद्यांश को दुहरा-दुहराकर उस तरह न पढ़ पायँगे, जैसा अभी उन्हें सुलभ है।

श्रव्य के अतिरिक्त दृश्य तत्त्व में भी नवीनताएँ आयँगी। यदि टेलीविज़न का विकास हुआ तो उपन्यासों और कविताओं के तमाम प्राकृतिक दृश्य-वर्णनों की कोई भी आवश्यकता न रहेगी। उनको प्रस्तुत करने के लिए दूसरे अधिक सशक्त साधन सुलभ हो जायँगे। उनके उद्दीपन-स्वभाव का क्या होगा, यह कहना कठिन है। इसी प्रकार अरूप-चिन्तन-प्रधान साहित्य के भावी रूप का भी अभी अनुमान नहीं किया जा सकता।

: ४ :

लेकिन हमारे अभी तक के अनुमान अपनी तात्कालिक भौतिक शक्तियों पर ही आधारित रहे हैं। यह सम्भवतः एकांगी दृष्टिकोण है। साहित्य का भविष्यत्-रूप सोचने के अर्थ यह भी हैं कि हम पूर्ण मानवीय चेतना के भविष्यत्-रूप पर विचार करें। भविष्यत्-साहित्य में भविष्यत्-चेतना को ही तो अभिव्यक्त होना है। चिन्तन का यह स्थल अत्यन्त जटिल है। क्योंकि भविष्यत् स्वयं अभी रूप ग्रहण कर रहा है और हमारी आज की भविष्यत्-कल्पना हमारी चेतना की आज की सीमाओं से बँधी हुई है। पहले हम भाग्य से दाँव लगाते समय सभी पासों को पहचानते थे, लेकिन आज स्थिति यह है कि पासे बिलकुल अपरिचित हैं और हर बाजी को लगाते समय निर्णय के नियम एकाएक बदल जाते हैं। वास्तव में हम जिस युग में जी रहे हैं वह बौद्धिक संकटों का युग है। नूतनता आज के युग में एक स्वतःसिद्ध गुण बनती जा रही है। यह नूतनता सांस्कृतिक परम्परा के विकास में सदैव सहायक ही हो, यह बात नहीं है। वह घातक भी सिद्ध हो सकती है, पुराने मूल्यों को निर्ममता से उखाड़ फेंक सकती है। किन्तु एक दूसरी सम्भावना भी है।

मैं आपको यह चेतावनी इस स्थल पर दे दूँ कि अब हम एक मानसिक दिवा-स्वप्न-शृङ्खला में डूबने जा रहे हैं; जो एडगर एलन पो, वेल्स या बर्न के लिए भी सम्भव नहीं थी। सच तो यह है कि विज्ञान की कई शताब्दियों की प्रगति के बाद सभी आज इस परिणाम पर पहुँच रहे हैं कि वे न चेतना के विषय में कुछ जानते हैं और न संवेदनाओं के विषय में। भौतिक तत्त्व वेत्ताओं से बात करने पर अक्सर यही पता चला है कि वे भौतिक जगत् का रहस्य सुलझा पाने में असमर्थ हैं। तत्त्व, शक्ति, विकास—सभी अर्थहीन से होते जा रहे हैं।

स्मृति तथा वे अन्य मानसिक शक्तियाँ, जिनके समवेत पुञ्ज को सम्भवतः हम 'चित्त'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं, और भी अधिक अज्ञात हैं। सम्भव है कि जैसे पिछले ४० वर्षों में भौतिक जगत् के विषय में हमारे सारे विचार बदल गए हैं, चित्त के विषय में भी हम सर्वथा नई भूमि पर जा पहुँचें। विज्ञान की प्रगति ने आज भौतिकता और मानसिकता का भेद मिटा दिया है। वे केवल एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रयुक्त होते हैं, विज्ञान में उनका कोई अलग अर्थ नहीं रह गया है।

अन्ततोगत्वा होगा क्या ?

मेरे एक महान् वैज्ञानिक घनिष्ठ मित्र का, जिनका विश्वास अभी विकासवाद में है, यह कथन है कि अन्त में मनुष्य की परिणति यह होगी कि उसे बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ उपलब्ध होंगी जिनसे उसके वर्तमान अन्तर्विरोधों का शमन हो सकेगा; फिर दो-तीन हजार वर्षों में मानवीय चेतना बिलकुल एक नये जगत् को देख सकेगी जिसमें दिशा और काल के नये तत्त्व होंगे, आज जो केवल गणित के प्रतीक समाधान-मात्र हैं वे कल के यथार्थ होंगे। आज जो अत्यन्त दुरूह कल्पनाएँ हैं वे कल (अर्थात् हजारों वर्ष बाद) मानव की सहज प्रेरणाएँ बन जायंगी। भविष्यत्-साहित्य भी इसीके अनुरूप होगा।

अरविन्द

भविष्यत्-काव्य

: १ :

युग-परिस्थितियों पर दृष्टिपात करने से पहली बात यह समझ में आती है कि सम्भवतः अभी भी नये युग का पदार्पण नहीं हुआ है, किन्तु मानवता के इतिहास का एक नया युग हमारे द्वार खट-खटा रहा है, यह काल प्रतीक्षा और तैयारियों का काल है, संक्रान्ति-काल है। हर जगह, हर दिशा में लोग कुछ-न-कुछ नया खोजने की चिन्ता में हैं। पिछले ढाँचे, पिछले आदर्श, पिछली शक्तियाँ आज सन्तोष नहीं दे पातीं; आविष्कार और अन्वेषण की प्यास; भाषा, छन्द, रूप-विधान की अन्तर्निहित अनजानी शक्तियों को खोज निकालने की कामना आज सभी में जाग उठी है; क्योंकि एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और अधिक विराट् जीवन-चेतना जन्म ले रही है; अभी बहुत-सी ऐसी गूढ़ और अर्थमयी बातें कही जानी शेष हैं जो अभी तक नहीं कही गईं—और भाषा की उच्चतम वाहिका कविता को उस भविष्यत्-वस्तु-तत्त्व के लिए उपयुक्त वाणी खोजनी है।

लय (rhythm) की एक नई शक्ति खोज निकालने का अथक प्रयास—यह इस आगामी क्रान्ति का प्रथम संकेत प्रतीत होता है। समग्र मानव जाति अपने चिन्तन में एक नये दर्शन की ओर प्रगति कर रही है, और यह अनिवार्य है कि कविता में इस आन्तरिक प्रगति की व्याख्या और प्रतिध्वनि मिले। निकट भविष्य में आने वाली इस नवीन जीवन-चेतना की आतुर और अधीर प्रेरणा अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक सम्पूर्णतः नवीन लय-विधान ढूँढ़ रही है और इसीलिए चारों ओर हमें कई व्यवस्थित अथवा अव्यवस्थित आन्दोलन मिलते हैं, जो काव्यात्मक लय-विधान की मूलभूत पद्धति में एक सर्वव्यापी, अकल्पनीय क्रान्ति के लिए अथक प्रयास करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लगे हुए हैं।

यह स्वाभाविक भी है, मनुष्य की अन्य अभिव्यक्तियों की भाँति कविता भी चिरविकासशील है। काव्य एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का परिणाम है और काव्य-प्रेरणा मनुष्य के मानस और आत्मा की अतुल शक्तिमयी अभिव्यक्ति पिपासा है। चूँकि काव्य-प्रेरणा आत्मा की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति-पिपासा है, अतः अन्तर्जीवन के विकास के साथ-साथ काव्य-प्रेरणा का भी विकसित होना आवश्यक है। इस विकास की कई क्रमिक अवस्थाएँ हैं।

पहली अवस्था में मनुष्य बाह्य भौतिक संसार पर दृष्टिपात करता है और उसकी जीवन-प्रक्रिया भी बाह्य महत्कार्यों में अभिव्यक्त होती है—जैसे युद्ध, अभियान, अपहरण, आखेट। इस प्रकार के जीवन में भी उसकी काव्य-प्रेरणा चरमोत्कर्ष तक पहुँच सकती है। इस अवस्था की झलक हमें होमर आदि के वीर-काव्य में मिलती है।

जीवन के अधिक गहरे स्तर पर पहुँचकर उसके काम-मानस (desire Soul) में अधिक क्रियाशीलता आती है, जो प्रथम बार उसे अन्तर्विश्लेषण के लिए विवश करती है और वह अन्तर्मुख होकर अपने आन्तरिक जीवन में पैठने लगता है। इसीके साथ-साथ काव्य भी नये मोड़ लेता है, एक नई महत्ता को आत्मसात् करने के लिए वह अपने आयाम विस्तृत और गहरे करने लगता है। इन नई ऊँचाइयों का उत्तुङ्ग शिखर शेक्सपीयर है।

किन्तु मानस-पुरुष की अपेक्षाकृत व्यापक क्रियाशीलता को दर्शन और सृजन की यह प्रणाली बहुत काल तक नहीं उलझा सकती। वह जीवन के उन आवेगों, भाव-स्थितियों और चिन्तन-संकेतों में सदैव आबद्ध नहीं रह सकता; क्योंकि उसे मुक्त होकर, इनसे परे होकर यह समझना आवश्यक है कि 'वह' क्या है, और 'ये' क्या हैं—अपने शान्त विवेक-चक्षुओं से उसे इनमें पैठकर इनका विश्लेषण करना रहता है। इस गति का अनुगमन करते हुए काव्य भी संयमित, आवेशहीन, जटिलतर सूक्ष्मताओं से मुक्त 'क्लासिक' काव्य का रूप ग्रहण करता है, जिसका सौन्दर्य स्पष्ट होता है और एक आत्म-तुष्ट बौद्धिक दृष्टि को स्वीकार कर लेता है। ग्रीक और लैटिन कवियों की सफलता का यही मूलाधार है। लेकिन बाद में वह बौद्धिकता आत्म-तुष्ट न रहकर अधिक जटिल और सर्वग्राही हो जाती है, अधिक व्यापक और विस्तृत ढंग से प्रभाव डालने लगती है; और सत्य की हर प्रकार की सम्भावित विधियों को ग्रहण करने का प्रयास करती है। आधुनिक युग की बौद्धिकता इसी प्रकार की है।

इस नई मानसिकता से उद्भूत होने वाली कविता बहुपक्षी काव्यात्मक भाव-प्रक्रियाओं से सम्पन्न होती है, वह कई प्रकार के योगों (Combinations) और प्रयोगों (Experiments) के क्रम से गुज़रती है। जो युग स्वतः बहुमुखी हो, उसकी कविता भी निस्सन्देह बिना बहुमुखी हुए जीवित नहीं रह सकती। कवि की पश्यन्ती, चिन्तनमती, विश्लेषिका प्रतिभा अपने सौन्दर्य-सृजन की प्रक्रिया को ऐसी प्रत्येक वस्तु पर लागू करने में नहीं हिचकती जो उसके वृत्त में आती है।

: २ :

किन्तु इस सांस्कृतिक विकास के सम्मुख इसी स्थल पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न-चिह्न लग जाता है—आखिरकार इस बौद्धिकता की परिणति कहाँ होगी? बौद्धिकता सदैव दो अतिवादों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ओर उन्मुख होती है। या तो वह तर्क के विश्लेषणात्मक समाधानों का आश्रय ग्रहण करके जटिलतम चिन्तन की अरूप सूक्ष्मता में बदल जाती है या व्यावहारिक तथ्यात्मकता में आश्रय खोजती है; बौद्धिकता की परिणति या तो दार्शनिकता के अतिरेक में होती है या वैज्ञानिक की संकीर्णता में। यूनान में बौद्धिकता के चरम विकास ने काव्य की हत्या कर डाली और उसके स्थान पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया। आधुनिक मानस चूँकि अधिक जटिल और अधिक सम्पन्न है, अतः यह परिणति इतनी शीघ्रता और सरलता से नहीं आ सकी। किन्तु इस युग में काव्य की मूलभूत भावभूमि और युग की मूल भावना में कहीं-न-कहीं विषमता होने के कारण कविता की शक्ति, प्रेषणीयता, प्रभाव और महत्त्व में थोड़ा ह्रास अवश्य अनुभव होता है।

इस ह्रास का अनुभव पाश्चात्य देशों में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही होने लगा था जब कि सौन्दर्य-चेतना में एक ह्रास के विषय में दबे-दबे कुछ उल्लेख होने लगे थे और बहुत से आचार्य कला और काव्य के नवीन प्रयोगों और प्रवृत्तियों को इसीका लक्षण मानने लगे थे। एक समय तो ऐसा था जब यह बड़ी शक्ति से घोषित किया गया था कि अब धीरे-धीरे विज्ञान कविता का स्थानापन्न बन जायगा। दूसरी ओर ऐसे भी लोग थे जिनका यह अनुमान था कि वैज्ञानिक वस्तु-तत्त्वों से समन्वित होकर कविता जीवन की काव्यात्मक आलोचना बन जायगी और धीरे-धीरे उसे वही महत्त्व मिल जायगा जो विगत युगों में दर्शन और धर्म को प्राप्त था।

इस तमाम अशान्त और विक्षुब्ध चिन्तन की पृष्ठभूमि में यह चेतना आवश्यक रूप से वर्तमान थी कि वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक बौद्धिकता से प्रभावित युग सम्भवतः उच्च स्तर के काव्य-सृजन के लिए सामान्यतया सहायक नहीं होता। खरी बौद्धिकता काव्य-सृजन नहीं कर सकती।

किन्तु इस विषमता-मात्र के उल्लेख से हम युग का सही चित्र हृदयंगम नहीं कर सकते। कविता जिस सत्य को अभिव्यक्त करती है उसके दो रूप हैं—जीवन की वास्तविकता अर्थात् वस्तु-सत्य और जीवन का आन्तरिक क्रियाशील सत्य अर्थात् भाव सत्य, जो जीवन-विकास को प्रेरित करता रहता है। काव्य में जहाँ वस्तु-सत्य का चित्रण है वहां भी अक्सर प्रेय तत्त्व की झलक मिल जाती है। किन्तु दूसरी सम्भावना इस बात की है कि काव्य भाव-सत्य की ओर उन्मुख हो जाय। आज की काव्य-धारा की सबसे अनोखी, प्रभावपूर्ण और सुन्दर कृतियों में इसी प्रवृत्ति की झलक मिलती है, जहां कविता का प्रवाह आन्तरिकता की ओर है। ह्विटमैन और कार्पेण्टर, टैगोर तथा यीट्स, कुछ आधुनिक फ्रेञ्च-कवि सभी इसी धारा से प्रभावित हैं। किन्तु जब तक सम्पूर्ण युग-मानस उस दिशा को नहीं अपनाता तब तक इस प्रवृत्ति का पूर्णतम विकास नहीं हो सकता। किन्तु इस बात के संकेत स्पष्ट हैं कि आधुनिक मानस ने जो नया मोड़ लिया है वह उसे इसी लक्ष्य की ओर ले चलेगा। लगता है कि आज मानव प्रज्ञा, बुद्धि के माध्यम से उसकी सीमाओं का अतिक्रमण करके एक प्रेरणामयी भावात्मक मनोभूमि तक पहुँचने की सीमा पर है, यद्यपि इसके अर्थ यह नहीं हैं कि अभी तक बुद्धि और विज्ञान ने हमें जो विरासत दी है उसका हम निषेध करेंगे। जैसा कहा जा चुका है कि यह यात्रा इन्हीं पथों को पार करते हुए होगी।

कुछ ऐसे आलोचक हैं जो इस प्रवृत्ति को केवल ह्रासोन्मुखता (डिकैडेन्स) का ही एक लक्षण मानते हैं। लेकिन उनकी विचार-धारा को प्रश्रय देने के अर्थ यह हैं कि हम यह मान लेते हैं कि जो-कुछ सफलता अतीत में उपलब्ध की जा चुकी है, आज की कविता केवल उसे दुहरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है, वह बहिर्मुख रहकर ही सफल हो सकती है, वही उसकी स्वस्थ दिशा है। इसमें सन्देह नहीं कि इधर की कविता में बहुत-कुछ कुण्ठित, विकृत और अस्वस्थ रहा है; किन्तु वह संक्रान्ति-काल की एक ऐसी मानसिक विश्रृङ्खलता का परिणाम है जिसके मूलभूत कारण समाप्त हो चुके हैं, किन्तु जिनका प्रभाव अभी तक चला आ रहा है या जो किसी कारण से अस्थायी तौर पर अत्यधिक तीव्र हो गया है। एक ऐसा युग जो, विराट्, 'नये शक्तिशाली आध्यात्मिक सत्यों को प्रकट कर रहा है, कवि की दृष्टि और कल्पना के लिए सर्वथा नये और अनजान लोकों का द्वार खोल रहा है—ऐसा युग ह्रास का युग नहीं हो सकता और न ऐसी कविता ह्रास की कविता हो सकती है।

भविष्यत्-काल—जब वह अपनी वर्तमान संक्रान्ति से सफलता पूर्वक परिपक्व होकर उदित होगा तब मानव के भौतिक अस्तित्व से, असम्पृक्त, अस्पष्टताओं में उलझा हुआ रहस्यवादी दुरूहता का काव्य नहीं होगा। रहस्यवाद जिन अर्थों में बदनाम है, उनमें वह अस्पष्टता और दुरूहता का समानार्थी बन गया है। किन्तु वैसा रहस्यवाद तभी अवतरित होता है जब हमें सत्य की झलक-मात्र मिलती है, उसका निकटतम साक्षात्कार नहीं मिलता, जब हमें इलहाम होता है, स्वतः प्रेरणा नहीं; और वह जीवन से विच्छिन्न इसलिए प्रतीत होता है कि चैतन्य और जीवन का हम भली भाँति परिणय नहीं करा पाते। लेकिन भविष्यत्-युग प्रकाश की झलक-मात्र का युग नहीं होगा; किन्तु एक प्रकाशमान सम्पूर्णता का युग होगा। सौन्दर्य-मानस चाहे वह कवि की वाणी में रूपान्तरित हो या अनुप्रेरित, चिन्तक या पैगम्बर या द्रष्टा की वाणी में, वह सत्य के प्रमुख द्वारों में से एक होगा। चूँकि भविष्यत्-युग का लक्ष्य सत् की सामंजस्यमयी सम्पूर्णता होगी, अतः कोई भी विषय काव्य के क्षेत्र से बाहर न समझा जायगा। ऐसा नहीं है कि भविष्य की ओर ले जाने वाले काव्य की यह पगडंडी किसी भी मेड़ पर जाकर समाप्त हो जाती है या किसी बहुत बड़े खेत में ले जाकर छोड़ देती है—यह एक अपेक्षाकृत उच्च स्तर के नये विकास-क्रम की ओर ले जाती है—मनुष्य की शक्ति, उसके अस्तित्व, उसकी कार्य-प्रणाली और उसकी सृजन-प्रक्रिया के एक नूतन पुनर्जन्म की ओर ले जाती है।

: ३ :

अब प्रश्न यह है कि इस नये मानस द्वारा उद्भूत नई कविता की आदर्श प्रकृति क्या होगी? पुरुष और प्रकृति के कुछ गूढ़तम सत्यों के साक्षात्कार से समन्वित प्रेरणा, अवतरण और दर्शन (विजन) से युक्त चिन्तन की वाणी को मन्त्र कहा गया है। भविष्यत्-काव्य की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति होगी। सम्भव है यह परिभाषा अत्यधिक रहस्यवादी प्रतीत हो, किंतु आत्मोद्भूत और सत्य की द्रष्टा वाणी के लिए इसके अतिरिक्त और कोई शब्द नहीं है और यद्यपि वैदिक ऋषियों ने इस शब्द का प्रयोग और भी ऊँचे अर्थों में किया है किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि वास्तविक रूप में महान् काव्य की अभिव्यक्ति जहाँ कहीं भी मिलती है, जिस भाषा में भी मिलती है, वह भाषा की प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है।

इस नये मन्त्र-काव्य की नई काव्य-दृष्टि अतीत की भाँति जीवन से दूर, रहस्यमयी अस्पष्टता से युक्त, अन्तर्मुखी और हमारे ऐन्द्रिक अस्तित्व से विमुख न होगी, वरन् दिव्यताओं को धरती के अधिक निकट खींच लाने का प्रयास करेगी। फिर धरती माता से हमारे किसी प्रकार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैराग्यवादी नकारात्मक संघर्ष शेष न रहेंगे। एक चेतना, (जिसमें समग्र जीवन आश्रय पायगा क्योंकि वह समग्र जीवन से अधिक व्यापक होगी) इस नई कविता का नया काव्य-सत्य बनेगी जिसमें अपनी समग्र शक्ति से अस्तित्व धारण करेंगे। और यदि ऐसा होता है या युग-मानस इसकी ओर प्रबल वेग से प्रवृत्त भी होता है, तब इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि कविता अपनी खोई हुई पवित्र प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त कर ले। बहुत-सा ऐसा काव्य-सृजन होता रहेगा जो पुरानी लीक पीटता रहेगा, और यह स्वाभाविक भी है; किन्तु ऐसा भी कवि अवतरित हो सकता है जो ऋषि हो, द्रष्टा हो, सत्य साम का गायक हो और दिव्य सत्य तथा विश्व-सौन्दर्य का स्वर-साधक हो।

किन्तु यहाँ पर यह स्पष्ट हो जाना आवश्यक है कि काव्य-सत्य से हमारा क्या तात्पर्य है और हम काव्य से किस प्रकार के सत्य की उपलब्धि की कामना करते हैं? हम सभी की 'सत्य' के विषय में विभिन्न धारणाएँ हैं, इसीलिए यह प्रश्न इतना जटिल प्रतीत होता है। एक ओर तो वे लोग हैं जो स्पष्ट कहते हैं कि हमें किसी प्रकार के सत्य से कोई लेना-देना नहीं है, वे केवल सौन्दर्य के उपासक हैं और सत्य नहीं वरन् कल्पना ही उनकी पंखमयी दूतिका है, कल्पना-हंस ही उनकी सरस्वती का वाहन है। इसके सर्वथा विरुद्ध दूसरी कल्पना यह है कि बाह्य जीवन का सशक्त संघर्षमय सत्य ही काव्य का उपयुक्त वस्तु-तत्त्व हो सकता है। यही नहीं, वरन् ऐसे चिन्तकों का यह भी विचार है कि कविता को अपनी लय का संस्कार भी इस तरह करना चाहिए कि वह जीवन की गति के साथ ही रेंगे या कूदे या दौड़े, जीवन के हर सशक्त कदम की थाप और धमक को प्रतिध्वनित करे। वे काव्य से सौन्दर्य की नहीं, वरन् शक्ति की कामना करते हैं।

जिस काव्य-सत्य की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ वह इन सीमाओं से घिरा हुआ सत्य नहीं है। वह सत्य, जो अन्त में काव्य से उपलब्ध होता है, सीमाहीन शिव (कल्याण) है। वह कल्पना का विरोधी नहीं है, कल्पना तो उसका वर्ण-विशेष है। इसी सीमाहीन सत्य को काव्य अपने सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अपनी रस-रीति से प्रदान करता है। किन्तु कवि का सत्य दर्शन, धर्म अथवा विज्ञान के सत्य से पृथक् है। कवि किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का हो सकता है, किसी भी दार्शनिक प्रणाली का अनुगमन कर सकता है; किन्तु जहाँ वह अपनी विशेष प्रणाली को बौद्धिक ढंग से पद्य में प्रस्तुत करता है या छन्दबद्ध विज्ञान लिखने लगता है या पद्यात्मक उपदेश या धार्मिक विवाद हम पर लादने लगता है, वहीं वह काव्य के नियमों का अतिक्रमण करने लगता है। (यद्यपि अक्सर यह भी किया गया है और इसमें आंशिक या कभी-कभी पूरी सफलता भी मिली है।) फिर भी यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान के सभी अंगों का अन्तर्व्यापी सत्य अलग नहीं है; दर्शन, धर्म और विज्ञान आदि के प्राथमिक नियम, प्रणाली और क्षेत्र अलग हैं; किन्तु अपने गहनतम स्तरों में उतरकर वे एक-दूसरे के निकट पहुँचकर एक-दूसरे को स्पर्श करने लगते हैं; और इसी नैकट्य के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति में दर्शन, अध्यात्म-विज्ञान और धर्म आदि एक अनिवार्य एकता में अन्तर्ग्रथित थे और जब कभी वे अपने अन्तर्सत्य को प्रकट करना चाहते थे तो काव्यात्मक वाणी का आश्रय ग्रहण करते थे। किन्तु फिर भी मानव-चेतना एक विराट् शिखर है और इन विभिन्न क्षेत्रों और पगडण्डियों का मिलन-स्थल नीचे की घाटी में नहीं वरन् ऊपर शिखर पर है। उन्हींमें एक ओर कविता की भी अपनी सीढ़ियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं और अपना चढ़ाव है जो नीचे सबसे पृथक् और ऊपर सबसे मिला हुआ है। वेदों में एक स्थान पर प्रतीकमयी शैली में इसी असीम सत्य की धारा का वर्णन किया गया है, जिसके चारों ओर चिन्तन और जीवन की ज्योतिर्मय शक्तियाँ स्थित हैं। वहाँ उनका दिव्य नृत्य होता है। उस मण्डल में अपने जाग्रत मानस के साथ प्रवेश पाने वाला ही द्रष्टा कवि है और उसीको 'प्रेरित-वाक्' या 'मन्त्र-शक्ति की उपलब्धि होती है।

मन्त्र-शक्ति से समन्वित यह काव्य जीवन का लयात्मक उद्घोष है, किन्तु वह उद्घोष ऊपरी सतह की छोटी लहरों का नहीं है, अतल गहराई की सशक्त अन्तर्धाराओं का है। देश-विदेश की समस्त नई कविता में जो कुछ महत्त्वपूर्ण और स्थायी है, उसकी प्रकृति मन्त्र-प्रकृति है; वही स्थायी है, शेष क्षणिक है।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि ऐसी कविता का बहुत सा अंश अत्यन्त दुरूह है, मानव के दैनिक अस्तित्व की निकटतम सामयिक यथार्थताओं से निरपेक्ष, निस्संग और असम्पृक्त है। लेकिन इस आक्षेप को प्रश्रय देने का अर्थ है कि हम इस कविता की मुख्य उपयोगिता नहीं समझ रहे हैं। निरन्तर विस्तृत होते हुए युग-मानस के प्रति जीवन-चेतना जिस प्रकार अपने को निवेदित करना चाहती है, उसकी सूक्ष्मता को भी हम हृदयंगम नहीं कर रहे हैं। यह ठीक है कि इन नये कवियों ने अपना कार्य पूर्णतः सम्पन्न नहीं कर लिया है और न अभी विराट काव्यात्मक समन्वय तक ही पहुँचे हैं। उनका यह कार्य है कि वे एक नवीन और गहनतर जीवन-दृष्टि का विकास करें, मनुष्य के मानस, आत्मा और प्राण तथा अनन्त और शाश्वत सत्य के मध्य युगदर्शी प्रकाश और लय के सबल सेतुओं का निर्माण करें। भविष्यत्-काव्य अपने इन प्रारम्भिक प्रयासों से उबरकर नई और अधिक विस्तृत घाटियों में पहुँचेगा, उन अथाह गहराइयों को मापेगा जिनको अभी तक नहीं मापा गया। यह महत्कार्य आज ही, तुरन्त नहीं सम्पन्न हो सकता, लेकिन यदि आज की कविता इस कार्य का श्रीगणेश भी कर देती है, तो एक पूरे युग को महत्ता प्रदान करने के लिए इतना ही यथेष्ट है।

इस काव्य की प्रकृति के सम्बन्ध में और दो-एक बातों की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। वे आलोचक, जो कविता से जीवन के प्रत्यक्ष, स्पष्ट और यथार्थ यथातथ्य चित्रण की माँग करते हैं, एक भ्रमपूर्ण धारणा के शिकार हैं। न केवल काव्य वरन् मानव-मन की किसी भी चिन्तना—यहाँ तक कि विश्लेषण और वैज्ञानिक विचार को भी दृश्य जगत् की बाह्य सीमाओं का अतिक्रमण करके उन्हें मानसिक दृष्टि के अनुशासन में लाना पड़ता है। किन्तु कवि की सृजन-शक्ति इससे भी आगे है। वह न केवल नई सृष्टि करती है प्रत्युत वर्तमान वस्तुओं को भी एक नया रूप और नये गुण प्रदान कर सकती है।

भविष्यत्-काव्य अपने को उन बाह्य यथार्थताओं से पूर्णतया आबद्ध नहीं कर सकता जिन्हें हम भ्रम से जीवन की सम्पूर्णता मान बैठे हैं। बाह्य यथार्थ और दृश्यमान जगत् बहुत दिनों तक हमारे अनुभव में पृथक् सत्ता नहीं बनाये रख सकते, क्योंकि आध्यात्मिक और मानसिक जगत् से उन्हें पृथक् करने वाली दीवारें धीरे-धीरे टूट रही हैं। बाह्य और अन्तर का अधिक व्यापक क्षेत्र, जो हमारी अनुभूति में सर्वथा वास्तविक होगा, भविष्यत्-काव्य का वस्तु-तत्त्व रहेगा। भविष्यत्-काव्य हमारी भविष्यत्-अनुभूति की वाणी होगा और भविष्यत्-अनुभूति विराट् की व्यापकतर और सम्पूर्णतर जीवन की अनुभूति होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु जब तक यह नूतन सत्यान्वेषी दृष्टि आनन्द और सौन्दर्य की चेतना से अभिषिक्त नहीं होगी तब तक काव्य-दृष्टि में सम्पूर्णता नहीं आयगी। कवि के लिए सौन्दर्य और आनन्द का देवता चन्द्रमा, सत्य के देवता सूर्य से अधिक आवश्यक है। वेदों में चन्द्रमा का प्रतीक देवता सोम ही रस का अधिष्ठाता है—इस मधुमती सोमलता को चाँदनी से नहाये हुए अनुभूति के निर्जन शिखरों पर ही पाया जा सकता है। इसीसे निःसृत द्रव मादक मधु और जीवनदायी अमृत या रस होता है और इस सोम रस के बिना देवताओं को भी अमरता नहीं मिली थी। आज का युग बौद्धिक संघर्षों से ध्वस्त युग है, किन्तु इसमें आनन्द की उपलब्धि असम्भव नहीं। हमारी ऊपरी स्तर की चेतना को विभिन्न वस्तुएँ और अनुभूतियाँ चाहे-जैसी लगें पर प्रत्येक वस्तु और अनुभूति अन्तर्निहित एक गहन आनन्द-भावना और सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है। यही गूढ़ आध्यात्मिक आनन्द की भावना काव्यानन्द और काव्य-सौन्दर्य की मूल पीठिका है।

इस आनन्द को कवि जहाँ चाहे, जब चाहे, यथार्थ जीवन और अनुभूतियों से योंही ग्रहण नहीं कर सकता। कवि का व्यक्तित्व द्विविध होता है। जीवन और अस्तित्व के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ भी दोहरी होती हैं। उसमें एक वह व्यक्ति होता है जो जीवन-प्रक्रिया में निमग्न होता है, जो अन्य लोगों की ही भाँति सोचता है, अनुभव करता है, कर्म करता है—और दूसरी ओर उसमें अन्तर्द्रष्टा होता है जो असाधारण मानव होता है, आनन्द पुरुष होता है, जो सौन्दर्य और आनन्द के मूल स्रोतों से संयुक्त रहता है और विशेष रासायनिक प्रक्रिया से समस्त अनुभवों का आनन्द-प्राण कर देता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में काव्य के इसी सत्व को रस कहा गया था। न केवल भारतीय किन्तु जिन इतर-देशीय संस्कृतियों ने इस रस की उपलब्धि की थी, उनमें सौन्दर्य के प्रति वह गुह्य किन्तु साधारणीकृत पिपासा थी जो परवर्ती युग-मानस से धीरे-धीरे लुप्त हो गई। किन्तु हमें एक बार पुनः उस गंगा को भगीरथ प्रयत्नों द्वारा अवतरित करके सामान्य जन-मानस को उस आनन्द से अभिसिंचित करना है। भविष्यत्-काव्य का एक पावन कर्तव्य यह भी होगा।

: ४ :

काव्य के प्राणों में अन्तर आते ही उसकी देह में भी अन्तर आयगा। उसका रूप बदलेगा, शिल्प-विधान में परिवर्तन होगा। किन्तु जब काव्य-मानस एक नई आत्मा—भूमि में प्रवेश करेगा तो यह आवश्यक नहीं कि पुराने काव्य-रूपों को पूर्णतया परित्यक्त करके सर्वथा नये और अपरिचित रूप ग्रहण किये जायँ। अधिक सम्भव यह है कि पुराने रूपों में नई सम्भावनाएँ प्रतिष्ठित की जायँ और उन्हींकी प्रकृति में आन्तरिक परिवर्तन लाया जाय। काव्य-सृजन के प्रमुख क्षेत्रों में—गीतों में, नाटकों में, प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यों में एक नई परम्परा का सूत्रपात होना अनिवार्य है।

भविष्यत् गीति-काव्य का रूप हृदयंगम करने के लिए गीति-काव्य की परम्परा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। गीति-प्रेरणा सम्भवतः काव्य-सृजन की मौलिक प्रेरणा रही है। आदिम साहित्य में जब जीवन-शक्ति की प्रत्यक्ष गति भावपूर्ण काव्याभिव्यक्ति की प्रमुख प्रेरणा थी तब ताज़े आत्म-प्रेरित गीतों की अधिकता थी। बुद्धि-प्रधान युगों में गीतों की धारा मन्द पड़ जाती है। अत्यधिक विकसित बुद्धि या चिन्ता जीवन की आदिम निश्चिन्तता को नहीं आत्मसात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर पाती और न अपनी चिन्ता-ग्रस्त वाणी में उसकी स्मृति को ही लौटा पाती है। प्राचीन क्लासिकल युग में यही स्थिति मिलती है। गीतों के पुनरावर्तन के लिए पुनः रोमाण्टिक युग और रोमाण्टिक भावना की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस समय कवि अपनी कल्पना द्वारा पुराने गीति-रूपों और सरल जीवन-गति की ओर लौटने का प्रयास करता है। किन्तु उस समय तक काव्य-मानस बौद्धिकता के कई युगों से गुज़र चुकता है। गीतों की सहजता भी एक विकसित बुद्धियुक्त काव्य-मानस की आरोपित सहजता होती है। परिणामस्वरूप ऐसी कृतियाँ सम्मुख आती हैं जिनमें सौन्दर्य-चेतना को सन्तोषजनक सफलता मिली है, किन्तु फिर भी आदिम काल की मौलिक गीति-प्रतिभा की उससे तुलना नहीं की जा सकती। भविष्यत्-काव्य में बुद्धि से परे आत्मा की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति एक नये प्रकार की मनोभूमि का सृजन करेगी जिसमें न ऊपरी स्तर की भावभूमि की गीति-प्रेरणा होगी और न चिन्तन-मानस का गीति-विरोधी विक्षोभ। भविष्यत्-काव्य का एक आवश्यक और निर्णयात्मक चरण यह भी होगा कि उसे इस सत्य की उपलब्धि हो चुकेगी कि काव्य-रूप वस्तु-तत्त्व का निर्णय नहीं करता वरन् वस्तु-तत्त्व अपने लिए ऊर्णनाभ की भाँति रूप-विधान और 'शब्द' का निर्माण अपने अन्दर से करता है। कवि-चेतना में यह स्थिर होने के उपरान्त जो गीतात्मक स्फोट होगा वह अवर्णनीय है।

इसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य और महाकाव्यों में भी यह कायाकल्प होना अनिवार्य है। साधारण विवरण, या जीवन का यथार्थ चित्रण, या किसी एक मानसिक या नैतिक भाव-धारा का विकास-मात्र उसके लिए यथेष्ट नहीं होगा, उसका तत्त्व वास्तविक होगा और अर्थों का स्तर आत्मा की गहनता में आश्रित होगा। उसकी कार्य-शृङ्खला केवल बाह्यार्थक न होगी, वातावरण भी उनके आन्तरिक अर्थ को व्यक्त करने के लिए ही गुम्फित होगा। महाकाव्य भी प्रबन्ध-परम्परा की व्यापक पृष्ठभूमि और उच्च स्तर की कृति है। अक्सर उसे आदिम काल से सम्बद्ध माना जाता है, किन्तु यह केवल बाह्यस्थिति को आन्तरिक प्रकृति का स्थानापन्न मान लेने की भ्रमात्मक धारणा है। भविष्य के स्वर में आत्मिक जीवन के महाकाव्य गुञ्जरित होंगे।

जिस प्रकार के युग-परिवर्तन की आशा है वह न केवल काव्य-रूपों में नूतन विकास उपस्थित करेगा, वरन् भाषा-शैली और लय-विधान में भी सूक्ष्म परिवर्तन प्रस्तुत करेगा। भाषा के पुराने अभ्यास नये प्राणों को नहीं समेट सकते। या तो वे अपने को विस्तार दें या और गहन बनाएँ, या पूर्णतया कायाकल्प कर लें, अन्यथा वे टूट-फूट जायँगे और उनके स्थान पर नये तत्त्वों की प्रतिष्ठा होगी। वेदों में कहा गया है कि ब्रह्मा ने 'शब्द' से लोकों की सृष्टि की। कवि की सृष्टि भी शब्द-सृष्टि है। बाह्य दृष्टि से शब्द केवल शरीरोद्भूत ध्वनि-मात्र हैं, जिन्हें प्रज्ञा द्वारा अधिक अर्थवान् बना लिया गया है। किन्तु यदि हम आन्तरिक विश्लेषण करें तो पायँगे कि कोई चैतन्य-शक्ति शब्दों को प्राण, मार्मिकता, अर्थ और अस्तित्व प्रदान करती है। यही शक्ति है जिसे वैदिक ऋषियों ने 'वाक्' की संज्ञा प्रदान की थी। तान्त्रिकों का कहना था कि मेरुदण्ड के विभिन्न चक्रों में वाक् का विकास होता है और कवि की वाणी को चतुर्थ स्थिति अर्थात् पश्यन्ती तक पहुँचना है—पश्यन्ती अर्थात् वह शब्द, जिसमें दृष्टि भी है, वह गिरा, जिसके नयन भी हैं।

: ५ :

अतः भविष्यत्-काव्य को काव्य-भाषा की एक सर्वथा नवीन समस्या सुलझानी है। उसे अत्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गहनतम अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने के लिए नये प्रतीक ढूँढ़ने हैं। हम नई कविता का जो आन्दोलन देख रहे हैं वह एक बहुत महान् आन्दोलन की भूमिका-मात्र है। वह आन्दोलन—जो समस्त मानव-जीवनको एक नवीन व्याख्या देने की ओर प्रयासशील है। युग-मानस में जो परिवर्तन हो रहे हैं, अन्तर्दृष्टि जिस प्रकार विकसित हो रही है, मनुष्य के 'स्व' और वस्तुओं के 'स्व' में, पुरुष और प्रकृति में जो तादात्म्य स्थापित हो रहा है—कवि को इन समस्त नवीनतम अनुभूतियों के लिए भाषा का निर्माण करना है, उसे नये उपमान और नये प्रतीक खोजने हैं—उनका प्रयोग भी एक नये ढंग से करना है, जिनमें वे प्रतीक मूल प्रेषणीय सत्यों के आवरण न बन जायँ वरन् सत्यानुभूति और श्रोता की ग्रहण-शक्ति के मध्य नये सेतु बन सकें।

इसी प्रकार दिक् और काल के आकलन में भविष्यत्-काव्य का एक नया स्वभाव होगा। जब तक वह गूढ़ शाश्वत सत्यों से प्रत्यक्ष साक्षात्कार न करता हो तब तक अधिकतर उसकी दृष्टि वर्तमान पर केन्द्रित होगी और भविष्य उसका लक्ष्य होगा। मानव-जाति की वर्तमान अवस्था और भावी भाग्य-निर्णय उसकी प्रमुख समस्या होगी। उसके लिए अतीत और वर्तमान दोनों ही भविष्यत् के अर्द्ध विकसित, अपरिपक्व प्राथमिक रूप-मात्र होंगे और भविष्य मनुष्य के अन्तर्निहित देवत्व के विकास का स्वर्ण-युग होगा।

वास्तव में भविष्यत्-काव्य मानवता पर अवतरित होने वाला एक नूतन विराट् दर्शन है। वे जातियाँ, जो इस दर्शन को अधिकाधिक आत्मसात् करेंगी, अपनी जीवन-प्रक्रिया और सांस्कृतिक चेतना को इसकी ज्योति से आलोकित करेंगी वे ही भावी-युग की महा शक्तियाँ बन जायँगी और जिस किसी भी भाषा के कवि इस विराट् दर्शन को आन्तरिक दृगों से पूर्णतया ग्रहण कर सकेंगे और इसीसे अनुप्रेरित वाणी की साधना करेंगें वे ही भविष्यत्-युग के अमर स्वरकार होंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

डॉक्टर माताप्रसाद गुप्त

संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। किन्तु अपने आकार की विशालता तथा भाषा की दुरूहता के कारण इसका यथोचित रीति से प्रचार नहीं हो सका है। यद्यपि यह हिन्दी की उच्चतम कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में देश के प्रायः समस्त विश्वविद्यालयों में रखा हुआ है, किन्तु आंशिक रूप में ही—कहीं पर कोई समय निर्धारित है तो कहीं पर कोई। प्रकट है कि ६९ समयों के ग्रन्थ का यह आंशिक अध्ययन उसका ठीक-ठीक परिचय नहीं दे सकता। इतना ही नहीं, वह उसका गलत परिचय भी दे सकता है यदि वह ग्रन्थ के प्रक्षिप्त अंशों में का हो—और ग्रन्थ के समस्त अंश प्रामाणिक हैं यह अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है। ऐसी दशा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री नामवरसिंह का 'पृथ्वीराज रासो' का एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास निस्सन्देह श्लाघ्य है। आरम्भ में द्विवेदी जी द्वारा लिखित एक संक्षिप्त भूमिका है, और अन्त में दो परिशिष्ट हैं, जिनमें से प्रथम परिशिष्ट में श्री नामवरसिंह जी द्वारा 'रासो-काव्य की परम्परा', 'पृथ्वीराज रासो की प्रतियाँ तथा रूपान्तर', 'पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता', 'पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौष्ठव', 'पृथ्वीराज रासो की भाषा' तथा 'भाषा-सम्बन्धी कतिपय विशेषताएँ' शीर्षकों के अन्तर्गत ग्रन्थ के विषय में संक्षिप्त ऐतिहासिक और साहित्यिक विवेचन है, और दूसरे परिशिष्ट में 'शब्दार्थ' हैं। ये अंश संक्षिप्त होने पर भी विद्यार्थियों और साधारण पाठकों के लिए उपयोगी हैं। शब्दार्थ-सम्बन्धी परिशिष्ट कुछ और पूर्ण होता तो अच्छा था, क्योंकि ग्रन्थ के अनेकानेक कठिन और आवश्यक शब्द उसमें आने से रह गए हैं। किन्तु हो सकता है कि इनमें से कुछ इसलिए रह गए हों कि उन्हें सम्पादकों ने सरल समझा हो, और कुछ इसलिए रह गए हों कि उनका अर्थ स्पष्ट न हुआ हो, अथवा उनका पाठ सन्दिग्ध हो। इस पिछली परिस्थिति में जबरदस्ती कोई अर्थ देने की अपेक्षा यह अच्छा ही होता है कि मौन रहा जाय।

किन्तु इतना ही नहीं, यह संक्षिप्त संस्करण इस विश्वास के साथ भी प्रस्तुत किया गया है कि चन्द की मूल रचना कुछ इसीके आस-पास होगी।[1] और इसीलिए संकलन निम्न लिखित स्थापनाओं के आधार पर किया गया है :

---

१. 'भूमिका' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. "उन दिनों कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं। चन्द ने भी रासो को शुक और शुकी के संवाद के रूप में लिखा था।"

२. "चन्द बरदाई का यह काव्य 'रासक' भी है, जो गेय-काव्य हुआ करता था, जिसमें मृदु और उद्धत प्रयोग हुआ करते थे।"

३. "'सन्देश रासक' की एक उक्ति तथा एक-दो प्राकृत गाथाएँ भी रासो में पाई जाती हैं।"

४. " 'सन्देश रासक' में बीच-बीच में कवि सूचना देता है कि अमुक पात्र ने अमुक छन्द में अपनी बात कही। उसी प्रकार रासो में भी बीच-बीच में कर दिया गया है।"

५. "वीर रस की प्रधानता होने के कारण चन्द ने छप्पय छन्दों का प्रयोग अधिक किया था, इस दृष्टि से निम्न लिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं—(१) आरम्भिक अंश, (२) इञ्छिनी विवाह, (३) शशिव्रता का गन्धर्व विवाह, (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (५) संयोगिता का जन्म, विवाह तथा इञ्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता। इन अंशों में भाषा में उस प्रकार की बेडौल और बेमेल ठूँस-ठाँस नहीं है और कवित्त का सहज प्रवाह है।"

६. "इन अंशों में चन्द केवल कल्पना-विलासी कवि ही नहीं, निपुण मन्त्रदाता के रूप में भी सामने आते हैं।"

७. "साधारण भारतीय कथाओं में, कथाओं को अभीष्ट दिशा में मोड़ने के लिए कुछ (जो बताई गई हैं) कथानक-रूढ़ियों का व्यवहार हुआ है। लगभग इन सभी कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग 'पृथ्वीराज रासो' में किया गया है।"

८. "शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परम्परा-प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है।"

९. "अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है।"

१०. "छन्दों का परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है, पर कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। १२वीं-१३वीं शती के अपभ्रंश-साहित्य में छन्दों का यह परिवर्तन बहुत अधिक प्रचलित हो गया था।"

११. "वर्तमान रासो में युद्धों का प्रसंग बहुत अधिक है और शहाबुद्दीन तो इसमें हर मौके-बेमौके अनायास आ पड़ता है। अधिकतर भट्ट भणन्त और गलत तिथियों का हिसाब ऐसे प्रसंग में ही आता है। ऐसा करने में कुछ भी संकोच नहीं मालूम पड़ता कि ये युद्धों के अनावश्यक विस्तारित वर्णन, चौहान और कमधुज्ज के सरदारों के नामों की सूची आदि बातें परवर्ती ठूँस-ठाँस हैं।"

१२. "इधर रासो के अनेक संक्षिप्त संस्करणों का पता लगा है और पण्डितों में यह जल्पना-कल्पना आरम्भ हुई है कि इन्हीं छोटे संस्करणों में से कोई रासो का मूल रूप है या नहीं। अभी तक इन संस्करणों की जो-कुछ विवरण देखने में आया है, उससे तो ऐसा ही लगता है कि ये सब संस्करण रासो के संक्षेप रूप ही हैं।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः रासो के मूल पाठ-निर्धारण की दृष्टि से इन स्थापनाओं पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा।

कथाओं का संवादों के रूप में होना इस विषय में कोई विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता, इसकी पुष्टि में इतना ही बतलाना पर्याप्त होगा कि पैंतालीसवें समय में संयोगिता के अवतार ग्रहण करने की जो कथा है वह भी इसी प्रकार शुक-शुकी संवाद के रूप में है, किन्तु उसे द्विवेदी जी ने स्वतः प्रक्षिप्त माना है[1] और इस संस्करण में स्थान नहीं दिया है। पुनः 'रासो-परम्परा' में यह संवाद-रूढ़ि व्यापक रूप से मान्य भी नहीं थी, क्योंकि 'पृथ्वीराज रासो' के निकट समसामयिक 'बीसलदेव रासो' में ही यह रूढ़ि हमें नहीं मिलती।

जहाँ तक रासक-काव्यों के गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोगयुक्त होने का प्रश्न है, वह अंश भी, जो इस संस्करण में नहीं सम्मिलित किया गया है, गेय तथा मृदु और उद्धत प्रयोग-युक्त है।

'संदेश रासक' की कोई उक्ति यदि रूप बदलकर आ गई है तो आश्चर्य न होना चाहिए—यह तो बहुधा हुआ करता है, किन्तु उसकी जो दो प्राकृत गाथाएँ रासो में आ गई हैं वे तो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त होंगी, क्योंकि कोई भी— साधारण-से-साधारण प्रतिभा का कवि भी— ऐसा न करेगा कि अपने हजारों छन्दों के काव्य में दो-चार छन्द किसी पूर्ववर्ती कवि की रचना से ज्यों-का-त्यों लाकर रख दे। इस प्रकार की बातें प्रायः पाठकों के द्वारा होती हैं यदि प्रसंगोपयोगी अथवा मिलती-जुलती उक्ति वाले कोई छन्द उन्हें स्मरण रहते हैं, तो वे प्रायः उन्हें हाशियों में लिख लेते हैं और इसके अनन्तर प्रतिलिपिकार प्रायः उन्हें मूल पाठ में सम्मिलित करके उतार लेते हैं।

छन्दों और उनके लक्षणों के उल्लेख उन अंशों में भी मिलते हैं जो इस संस्करण में सम्मिलित नहीं किये गए हैं—यथा 'रेवा-तट समय' में।

छप्पय निस्संदेह इन अंशों में प्रमुख हैं, किन्तु अन्य अंशों में भी पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, और सम्पादकों ने इन अंशों के अतिरिक्त भी कुछ अंशों को संस्करण में सम्मिलित किया है— यथाः बड़ी लड़ाई समय और बान बेध समय। और वही बात, जो ऊपर छन्दों के सम्बन्ध में कही गई है, भाषा-शैली के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

जहाँ तक चन्द के निपुण मन्त्रदाता होने का प्रश्न है, वह भी केवल संकलित अंश में नहीं, शेष अंश में भी उसी प्रकार और लगभग उतनी ही मात्रा में पाया जाता है।

कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग तो अभिन्न रूप में और कदाचित् कुछ अधिक मात्रा में ही उस अंश में भी पाया जाता है जिसे सम्पादकों ने ग्रहण नहीं किया है। ठीक यही बात काव्य-रूढ़ियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इन रूढ़ियों का आधार कितना कच्चा है, यह स्वतः द्विवेदी जी के इन शब्दों से प्रकट होगा : **"परवर्ती-काल में जिन लोगों ने उसमें प्रक्षेप किया है, वे चन्द की इस प्रवृत्ति को बहुत अच्छी तरह पहचानते थे; इसीलिए प्रक्षेप करने वालों ने चुन-चुन करके कथानक-रूढ़ियों और काव्य-रूढ़ियों का सन्निवेश किया है।"**[2]

अधीनस्थ सामन्तों की स्वामि-भक्ति और पराक्रम उतने ही उज्ज्वल रूप में उस अंश में

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' पृष्ठ ६४-६९।
२. 'भूमिका' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी प्रकट हुए हैं जितने उज्ज्वल रूप में वे गृहीत अंश में प्रकट हुए हैं।

छन्द-परिवर्तन की शैली के सम्बन्ध में भी वही बात लागू होती है और इस सम्बन्ध में भी द्विवेदी जी के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है : "अत्यधिक प्रक्षेप होते रहने के बाद भी 'पृथ्वीराज रासो' में यह (छन्दो बहुला) प्रथा सजीव रूप में वर्तमान है। अनुकरण करने वालों ने भी चन्द की शैली को ठीक रूप में पकड़ा है और वर्तमान रूप में भी रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।"[1]

द्विवेदी जी का यह कथन अवश्य ठीक जँचता है कि वर्तमान रासो में युद्धों का आधिक्य, विशेषतः शहाबुद्दीन का मौके-बेमौके अनायास आ पड़ना, प्रक्षेप-जनित ही ज्ञात होता है। युद्धों का अनावश्यक विस्तार और उनमें आई हुई सामन्तों की नामावली आदि तो प्रकट ही भट्ट-भणन्त प्रतीत होते हैं।

किन्तु सबसे अधिक विचारणीय बात अन्तिम है—क्या प्रकाशित बृहत् पाठ के अतिरिक्त पाये गए 'पृथ्वीराज रासो' के मध्यम, लघु, और लघुतम पाठ क्रमशः अथवा स्वतन्त्र रूप से उसके संक्षेप-मात्र हैं। निस्संदेह कुछ विद्वानों ने यह विचार उपस्थित किया है, किन्तु वास्तव में इस विचार का कोई दृढ़ आधार नहीं है, यह केवल एक अटकल है और ऐसी अटकल; जिस पर किसी भी समझदार आदमी को सहसा विश्वास न कर लेना चाहिए।

इस अटकल का आधार, जहाँ तक प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है, इतना ही है कि इन छोटे-से छोटे पाठों में भी कुछ-न-कुछ अनैतिहासिक बातें मिलती ही हैं। किन्तु किसी रचना में अनैतिहासिक बातें मिलना ही उसको अप्रामाणिक भी नहीं बना देता। कोई भी रचना अपने मूल रूप में सुरक्षित हो सकती है और उसमें भी अनैतिहासिक बातें मिल सकती हैं। प्रस्तुत लेखक की समझ में 'पृथ्वीराज रासो' का सबसे बड़ा अपकार इस विचार ने किया है कि यह पृथ्वीराज के समकालीन किसी व्यक्ति की रचना है। इस संस्करण के सम्पादकों का भी यही विचार है। द्विवेदीजी इसमें पाई जाने वाली काल्पनिक बातों के समावेश का कारण काव्य की आवश्यकताओं को मानते हैं।[2] किन्तु सोचने की बात है कि किसी भी समसामयिक—विशेष रूप से आश्रित कवि को क्या पड़ी थी कि वह नायक की माता तक का नाम बदल देता। कर्पूरदेवी नाम में—जो सभी प्रकार से इतिहास से प्रमाणित है—ऐसी कौन-सी खराबी थी कि कोई भी समकालीन और जिम्मेदार कवि उसके स्थान पर 'कमला' कर देता? किसी भी ऐसे कवि का काव्य का ऐसा कौनसा उद्देश्य सिद्ध हो सकता था नितान्त अनर्गल तिथियाँ और विस्तार देने में? यह सही है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में कुछ छन्द इस ग्रंथ के मिल जाते हैं। किन्तु इतने से ही यह प्रमाणित नहीं होता कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज का आश्रित अथवा उनका समसामयिक था। जैसा कि सम्पादकों ने माना है![3] स्वतः सम्पादकों ने 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' के इन तीन छन्दों में से, जो 'पृथ्वीराज रासो' में भी पाए जाते हैं, केवल एक को 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' में स्थान दिया है, जिससे ज्ञात होता है कि शेष दो को वे कदाचित् प्रामाणिक नहीं मानते हैं। इससे इतना ही प्रमाणित होता है कि 'पुरातन प्रबन्ध-

१. 'भूमिका' में।
२. वही।
३. भूमिका तथा परिशिष्ट।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह' में उद्धृत छन्दयुक्त पृथ्वीराज और चन्द-सम्बन्धी कोई रचना पन्द्रहवीं शताब्दी तक बन चुकी थी।

वस्तुतः यह सारा-का-सारा प्रश्न पाठ-विज्ञान का है। विभिन्न पाठों की प्रतियाँ मिलने पर पाठ-विज्ञान के सिद्धान्त की सहायता से यह सर्वमान्य रूप से निश्चय पूर्वक बतलाया जा सकता है कि ग्रन्थ के जो चार विभिन्न पाठ मिलते हैं उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है कौन किसका पूर्वज है और वह पूर्वज मूल पाठ के कितना निकट माना जा सकता है, अथवा कोई किसी का पूर्वज नहीं है—सभी एक सामान्य पूर्वज की सन्तानें हैं और वह सामान्य पूर्वज कवि का मूल पाठ हो सकता है या नहीं। किन्तु यहीं पर हिन्दी के सम्पादन-कार्य की सबसे बड़ी कठिनाई सामने आती है। जिनके पास आवश्यक प्रतियाँ हैं, वे इस कार्य के लिए उन्हें देना नहीं चाहते, विशेष रूप से उस समय जब कि उस सामग्री के आधार पर स्वतः कभी फुरसत से आगे-पीछे कुछ करना चाहते हैं। ऐसी दशा में प्रस्तुत के समान प्रयासों के अतिरिक्त साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए कोई चारा नहीं रह जाता और प्रतियों का आधार लिये बिना एक से अधिक पाठों वाले किसी भी ग्रन्थ के निर्धारित पाठ के विषय में उपर्युक्त प्रकार की शंकाएँ बनी रह जाना स्वाभाविक है। फलतः हम 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' के रूप में इस प्रयास का हृदय से स्वागत करते हैं। यह प्रयास सम्पूर्ण रासक-परम्परा के गहरे अध्ययन का परिणाम है और इस कारण इसके सम्पादकगण हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

●

डॉक्टर भगीरथ मिश्र

महाकवि सूरदास

'महाकवि सूरदास' में महात्मा सूरदास के व्यक्तित्व और कवित्व का मूल्यांकन है। इस दिशा में अनेक ग्रन्थ अब तक लिखे गए हैं, पर उन सबसे भिन्न इसकी विशेषताएँ हैं और इसमें कोई ऐसी पुनरुक्ति नहीं जो इस ग्रन्थ के मूल्य या महत्त्व को कम करने वाली हो। लेखक ने प्रायः सूर के अध्ययन से सम्बन्धित सामग्री का स्वमत-पुष्टि या वैषम्य के स्थलों में बराबर उल्लेख किया है। परन्तु एक यह बात खटकती है कि इस दिशा में लिखे गए दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का कहीं भी किसी रूप में इसमें उल्लेख नहीं; वे हैं—'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'[2] और 'सूरदास'[3]। जान पड़ता है कि वाजपेयी जी ने इन्हें देखा नहीं, अन्यथा अपने 'जीवनी और व्यक्तित्व', 'काव्य-सौन्दर्य', 'दार्शनिक पीठिका'-जैसे प्रसंगों में वे इनका उल्लेख अवश्य करते, क्योंकि इन विषयों पर इनमें विस्तृत विवेचनाएँ हैं। मेरी दृष्टि में उनका उपयोग आवश्यक था। इतना होते हुए भी इस पुस्तक

१. लेखक—डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

२. लेखक डॉक्टर दीनदयाल गुप्त

३. लेखक डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विश्लेषणात्मक अध्ययन और तथ्य-उद्घाटन का प्रयत्न इतना गम्भीर है कि महाकवि सूरदास के अध्ययन में यह एक ठोस पृष्ठभूमि ही नहीं, वरन् एक आलोकपूर्ण दृष्टि प्रदान करती है।

पुस्तक का नाम है 'महाकवि सूरदास'। सूरदास के महाकवि होने में शायद किसी को शंका न हो, पर 'सूर सागर' को 'महाकाव्य' कहना विवाद से शून्य नहीं। प्रबन्धात्मक न होने पर भी 'सूर सागर' में महाकाव्य-सुलभ क्षेत्र, भावभूमि, चित्रण, विशाल दृष्टि आदि की कमी नहीं है। और इसका कहीं भी संकेत न होना केवल इस बात का ही द्योतक सिद्ध होता है कि लेखक इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका या मत-वैषम्य की आशा नहीं रखता। इतना ही नहीं समस्त पुस्तक पर दृष्टिपात करने से पुस्तक में महाकवित्व-प्रधान दृष्टि नहीं, वरन् इस महाकवि के काव्य के अध्ययन के लिए उपयोगी पृष्ठभूमि और दृष्टि प्रदान की गई है। अतएव शीर्षक को देखते हुए यह कमी भी इसमें खटकती है।

प्रथम अध्याय में भक्ति के विकास का अध्ययन है। इसके अन्तर्गत लेखक ने भक्ति-सम्बन्धी विशाल भारतीय साहित्य का अध्ययन करके उसके विकास को स्पष्ट किया है। वेदों में भक्ति-सम्बन्धी तथ्यों का विश्लेषण, ब्राह्मण-काल में भक्ति का स्वरूप, उपनिषदों में भक्ति और उपासना का स्वरूप तथा विष्णु को मनुष्य के अधिक सान्निध्य में लाकर भक्तों के परम दैवत की स्थापना के प्रसंग बड़े ही रोचक हैं। विस्तार-भय के कारण ही सम्भवतः उपनिषदों की रहस्यात्मक भक्ति-भावना पर अधिक नहीं लिखा गया है। इस प्रकार महाकाव्य और गीता-काल में भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण है, जिसमें लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि महर्षि वेदव्यास ने ऐसे धर्म की स्थापना की जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषद्-शास्त्र-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय-प्रधान भक्ति को समान स्थान प्राप्त हुआ, जो भागवत धर्म है। इस प्रसंग का विश्लेषण विस्तृत रूप से लेखक ने किया है कि गीता और भागवत द्वारा भक्ति का उत्कृष्ट विकास हुआ है। इनमें कर्म-फल-त्याग के साथ-साथ ईश्वर को सब-कुछ समर्पण की भावना की परिपुष्टि हुई है, जो सभी साधनों से श्रेष्ठ है और प्रेमाभक्ति के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करती है, जिसकी व्याख्या ही विशेष रूप से नारद और शाडिल्य भक्ति-सूत्रों में हुई है तथा इसी स्वरूप का प्रतिपादन अनेक रूपों में पौराणिक युग में हुआ। भागवत भक्ति के पूर्ण विकास को स्पष्ट करने वाला ग्रन्थ है, जिसका आधार लेकर आगे आचार्यों ने भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या की।

भक्ति-सम्बन्धी दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख द्वितीय अध्याय में है। पृष्ठभूमि के रूप में हिन्दी भक्ति-काव्य के अध्ययन के हेतु यह प्रसंग बड़ा ही उपादेय है। इसके अन्तर्गत अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया-स्वरूप रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का विश्लेषण है और शंकराचार्य के मत से इसकी तुलनात्मक विवेचना भी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रसंग में इस परम्परा में आने वाले स्वामी रामानन्द की उपासना-पद्धति की भी चर्चा है। श्री निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैतवाद और वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद की भी विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है, यह सब हमें सूरदास ही नहीं अष्टछाप के अन्य कवियों के विचार और भाव-धारा को समझने में सहायक हैं। यह अध्याय हिन्दी के भक्ति-काव्य को हृदयंगम करने के लिए बड़ा उपयोगी है।

तीसरा अध्याय सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व पर है। इस प्रसंग में 'सूर सागर' के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिरिक्त 'सूर सौरभ', 'हिन्दी-नवरत्न', 'अष्टछाप'[१], 'सूरदास'[२], 'सूर-निर्णय' आदि ग्रन्थों का उल्लेख है; परन्तु जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, सूरदास की जीवनी और व्यक्तित्व की दिशा में सबसे अधिक विस्तृत विवेचन और प्रामाणिक सामग्री का उपयोग करने वाले ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' का कोई उल्लेख नहीं और न 'सूरदास' ग्रन्थ का ही। डॉक्टर ब्रजेश्वर वर्मा के 'सूरदास' में जीवन-सम्बन्धी बातें अत्यन्त विस्तार के साथ दी गई हैं। हो सकता था कि वाजपेयी जी उनसे सहमत होकर उन्हें पुष्ट करते अथवा सहमत न होकर अपना कोई दूसरा दृष्टिकोण सामने रखते। अतएव इन दो पुस्तकों का उपयोग न करने से अब तक के अध्ययन में इस प्रसंग द्वारा विकास प्रस्तुत नहीं किया जा सका। इनके उपयोग से कतिपय मत-वैषम्य के स्थल भी साफ हो जाते—उदाहरणार्थ डॉ० गुप्तजी सूरदास जी का जन्म-संवत् वल्लभाचार्य जी के जन्म-संवत् के आधार पर सं० १५३५ मानते हैं, परन्तु वाजपेयी जी ने उन्हीं तर्कों को देते हुए सं० १५३० माना है। इसी प्रकार के अन्य कई स्थल हैं जिन पर वाजपेयी जी के अध्ययन द्वारा प्रकाश पड़ना आवश्यक था।

पुस्तक का चतुर्थ अध्याय 'आत्मपरक भावभूमि' अत्यन्त महत्त्व का है। यह हमें सूर-साहित्य को ही नहीं, वरन् समस्त कृष्ण-भक्ति-काव्य को समझने के लिए एक मापदंड प्रदान करता है। यह रीतिकालीन शृङ्गारी कृष्ण-काव्य से सूर-जैसे भक्त कवियों के कृष्ण-काव्य का अन्तर स्पष्ट करता है। वल्लभाचार्य का उद्देश्य दर्शन और भक्ति का समन्वय था। हिन्दी के भक्त कवियों ने भक्ति और काव्य का समन्वय कर दिया। इस बात को स्पष्ट करते हुए लेखक ने कहा है: **"ज्ञान की इस मौन समाधि के समकक्ष (भक्तों के लिए तो उससे भी बढ़कर) भक्ति की मुखर समाधि की कल्पना आचार्य वल्लभ ने की, जो परम आनन्दमयी है।"[३]** यह भक्ति की मुखर समाधि, भक्तिकाव्यामृत का प्रवाह ही है। इतना ही नहीं, दिव्य जन्म-कर्म वाले कृष्ण के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने के उपरान्त जो कृष्ण का नखशिख-सौन्दर्य-वर्णन है उसके द्वारा "कलाओं का शृंगार पवित्र हो उठा।" लेखक का निष्कर्ष है कि कृष्ण दूसरे कवियों के हाथ में नायिकाओं के आमोद-प्रमोद, अष्टयाम और विलासमयी चेष्टाओं और वासनामयी भावनाओं के प्रेरक बन गए, किन्तु सूर के हाथ में वे सर्वत्र पूत—सर्वत्र पावन—बने हुए हैं। भक्तिकालीन कवियों का महत्त्व सचमुच इस बात में है कि उन्होंने मानव की समस्त भावनाओं का विस्तार करके उन्हें राम-कृष्णमय बना दिया।

'दार्शनिक पीठिका' में सूर-काव्य के आन्तरिक रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न है। यहाँ लेखक ने 'सूर सागर' के आध्यात्मिक लक्ष्य को स्पष्ट किया है। इसमें प्रमुख मन्तव्य, यह सिद्ध करना है कि सूर की भक्ति भावुकता-मात्र से प्रेरित नहीं; वरन् ठोस दार्शनिक भूमि पर स्थित है। उनका भक्ति-मार्ग, दार्शनिक चिन्तनों के उपरान्त निश्चित किया हुआ जीवन-पथ है। प्रेमा-भक्ति का लक्ष्य, ज्ञानियों की मुक्ति नहीं; वरन् मुक्ति तो इन भक्तों के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती। उनके लिए तो साधन और साध्य सब-कुछ भक्ति ही है।

'सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष' नामक अध्याय में कतिपय आक्षेपों के उत्तर हैं। लेखक ने

---

१. डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित।
२. लेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
३. 'महाकवि सूरदास' पृष्ठ ८४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सिद्ध किया है कि गीता और भागवत दोनों में ही कृष्ण की तटस्थ भावना प्रधान है। दोनों में वर्णित कृत्य उनकी लीला हैं, केवल स्वरूप-भेद है। कृष्ण दोनों ही में निस्संग और निर्लेप हैं और इस दृष्टि से देखने पर ही कृष्ण-चरित्र के सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष को समझा जा सकता है। वाजपेयी जी का यह दृष्टिकोण तो सराहनीय है; परन्तु आक्षेपों के उत्तर में उनकी व्यक्तिगत आलोचना, ऐसी गम्भीर पुस्तक में अधिक शोभनीय नहीं जान पड़ती।

जिस प्रकार उपर्युक्त अध्याय में नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से उठी हुई शंकाओं का निवारण है उसी प्रकार 'प्रतीक-योजना' नामक अध्याय में सूर-काव्य-सम्बन्धी कुछ साहित्यिक शंकाओं का समाधान किया गया है। लेखक ने इसके भीतर कतिपय प्रतीकों (जैसे—होली, रास भँवरगीत, चोलीबन्द तोड़ना, वेणु-गीत आदि के भीतर का सौन्दर्य) को केवल लौकिक या केवल आध्यात्मिक रूप में एकांगी दृष्टि से नहीं, वरन् समन्वित दृष्टि से स्पष्ट किया है, जो महत्त्वपूर्ण है। हाँ, एकाध स्थलों पर वर्णन को न्यायोचित ठहराने का अधिक आग्रह आवश्यक नहीं दीखता।

'काव्य-सौन्दर्य' के प्रसंग में सर्वप्रथम सूर के वर्णन की कुछ असफलताओं का संकेत है जिनमें उन्होंने केवल रूढ़ि-पालन किया है और कोई भावात्मक सौन्दर्य उनमें नहीं आ पाया। इसके पश्चात् इसमें सूर-काव्य में आये कुछ वर्णनों के सौन्दर्य को स्पष्ट किया गया है और उनके भीतर के चित्रणों के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा है। परन्तु सूर के काव्य-सौन्दर्य का व्यापक और पूर्ण उद्घाटन इसमें नहीं हो पाया और इस दृष्टि से यह अन्य प्रसंगों से हीन है।

यह सब होते हुए भी 'महाकवि सूरदास' पुस्तक में जिन प्रसंगों को लिया गया है उनमें लेखक का गम्भीर अध्ययन और चिन्तन पूर्णतया प्रकट है। बहुत-से ऐसे प्रसंग हैं जिनके अधिक विस्तार से विवेचन की आवश्यकता, इतनी पृष्ठभूमि देने के बाद अपेक्षित थी और जिनके अभाव में यह सूर-साहित्य के अध्ययन को भूमिका-रूप जान पड़ती है। परन्तु उनके न होने का कारण विस्तार-भय ही समझ पड़ता है। इस पुस्तक में प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा सूर-साहित्य के विद्यार्थियों को एक नवीन दृष्टि प्राप्त होगी, इसमें सन्देह नहीं।[1]

प्रभाकर माचवे

महायान

चीन-भवन के भदन्त शान्तिभिक्षु द्वारा लिखित और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भूमिका से समन्वित इस ग्रन्थ में ३० पृष्ठों की प्रस्तावना है, जिसमें बौद्ध धर्म का स्वाभाविक विकास तथा बौद्धों के अलग-अलग सम्प्रदाय और उनके साहित्य की चर्चा है। उपनिषद्कालीन आदर्शवाद और बौद्ध मत की विद्रोही प्रतिक्रिया की समाज-वैज्ञानिक मीमांसा प्रस्तुत की गई है, जो बहुत मूलगामी है। उदाहरणार्थ पृष्ठ १११ पर बुद्ध-मार्ग और ब्रह्म-मार्ग की यह तुलना देखिए :

१. लेखक—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध	ब्रह्म
क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लौकिक, पूरे तौर पर मानवीय;	क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लोकोत्तर, सर्वथा अमानवीय;
ख—बुद्ध के रूप का विस्तार, पूर्व जन्मों के विषय में कहानियों की सृष्टि द्वारा	ख—ब्रह्म के सगुण रूपों के अवतारों द्वारा मानवों के बीच जन्म लेने का सिद्धान्त;
ग—बुद्धत्व-प्राप्ति जीवन का परम उद्देश्य और उसे पाने के लिए पारमिताओं का अभ्यास अनेक जन्मों तक करना;	ग—ब्रह्म तक लोग साधारणतया नहीं पहुँच सकते इसलिए लोगों के उद्धार के लिए स्वयं ब्रह्म का अवतार धारण करना;
घ—बुद्ध और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अभ्यास करनेवाले में क्षमा का परम स्थान, अपराधी के प्रति भी दया भाव, निरपवाद, अहिंसा का भाव।	घ—अपराधियों एवं अधर्मियों के प्रति अवतार की अक्षमता तथा उनका संहार।

इस प्रस्तावना में आगम के मूल रूप और इतिहास पर बहुत अच्छी तरह विमर्श किया गया है। बाद में चौदहवीं शती के संगो-पा ने जाकर सूत्र और तन्त्र को एकात्म कर दिया ऐसा तिब्बती आधारों से पता चलता है, परन्तु वहाँ तक पुस्तक-लेखक नहीं गया है। वह केवल महायान के आठवीं शती के साहित्यिक प्रकारों तक ही प्रस्तावना में अपने को सीमित करता है। परन्तु अन्तिम अध्याय उपसंहार में जहाँ चौरासी सिद्धों के बाद निर्गुण-सगुण मतावली की चर्चा है, कबीर और तुलसी के रामों के रामत्व के भेद पर विचार है, वहाँ यदि सहजयान और वज्रयान के अद्वय और निर्गुण की, जिन्हें तिब्बती में 'नि-मेय्' और 'येत्तेन्ट्ल्वा' कहते हैं, चर्चा हो जाती तो उत्तम होता। तिब्बत में इसीलिए तो बुद्ध को 'संघे' कहते हैं।

इस ग्रन्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है 'महायान-दर्शन'। इसमें महायान के जो आचार्य हैं उनके उपलब्ध मूलग्रन्थों की पूरी खोज-बीन और उनका पूरा निचोड़ विद्वान् लेखक ने उपस्थित किया है।

उन सन्दर्भ-ग्रंथों की छान-बीन से पता चलेगा कि भारत में राहुल जी, कृष्णमाचार्य, ध्रुव, विधुशेखर भट्टाचार्य, वैद्य आदि को छोड़ें तो फ्रांसीसी, रूसी और इतालवी विद्वानों ने ही इस दिशा में अधिक काम किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस विद्वत्तापूर्ण कार्य का सारांश हिन्दी में प्रस्तुत करता है। दर्शन-चर्चा में शून्य का प्राचीनतम उल्लेख, जो हीनयान निकायों में मिलता है और बाद में उसकी परिभाषा में सब सिद्धान्तों के चरम खण्डनकार नागार्जुन द्वारा जो सूक्ष्म तर्क-प्रमाण प्रयुक्त किया गया, विचारणीय था। शून्य केवल किसी गुणावशेष का अभाव नहीं, परन्तु किसीगुण के आरोप की अपर्यवेक्षणीयता है, अप्रमेयता है। यों वास्तव विज्ञान से परे हो जाता है और ग्राह्य ग्राहक से भी परे। राइस डेविस ने इसकी चर्चा की है। परन्तु शान्तिभिक्षु उन विवरणों में शायद जान-बूझकर नहीं गये हैं, अन्यथा पुस्तक बोझिल हो जाती। शून्य को तिब्बती 'तोम्पानी' मानते हैं, जो अद्वैत का पर्यायवाची है। माध्यमिकों या 'उ-मा-पा' में इसका अधिक प्रचार था। यों, तिब्बत में जाकर बौद्ध-धर्म अपने निराशावादी रूप में जरा भी नहीं मिलता। वह दुःख-पूजा शेष नहीं रहती और तृष्णा एक चमत्कारिक अपार शक्ति बन जाती है।

उपसंहार में तुलसी के सगुणवाद की कुछ निर्भय आलोचना है। उस प्रसंग में मुझे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य वरान्निकोव के तुलसी के समचौपाई रूसी पद्यानुवाद की भूमिका में लिखे एक तर्क की याद दिलाने की इच्छा होती है : 'इस ईश्वर-तत्त्व को तुलसीदास ने कहीं सच्चिदानन्द कहा है और कहीं 'अगुण', इसीको वेद 'नेति' परिभाषा करते हैं, संसार में शरीर धारण करके आता है।[1] और आगे सबसे मजेदार कारण वे देते हैं : "अगुण के सगुण होने का, अवतार की प्रेरणा का कारण है इन दीन-दुखियों के प्रति उसका प्रेम। और ईश्वर-तत्त्व का यह मानवी रूप अपने-आप चलता है।" इस विचार-धारा की रोशनी में शान्तिभिक्षु के इस मत से सहमत हो जाना कठिन है : "राम आदि पौराणिक परम्परा के नामों के बल पर निर्गुनियाँ सन्तों को वेद और पुराणों का अनुयायी नहीं बताया जा सकता, जबकि उनके राम आदि सर्वथा वेद और पुराण-सम्मत नहीं हैं। इन निर्गुनियाँ सन्तों का प्रभाव सगुनियाँ सन्तों पर बहुत पड़ा। वर्ण-श्रेष्ठता के पक्षपाती होने पर भी इन्होंने धार्मिक साधना का द्वार सबके लिए खुला रखने की कोशिश की है।...सगुनियाँ मत के सन्त राम को सब नामों पर तरजीह देते हैं वह अकारण नहीं है।"[2] इस प्रकार से कहीं-कहीं पर लेखक के बौद्ध-प्रचारक होने के कारण ऐतिह्य विवेचन में विवेक का स्थान भावुकता ने ले लिया है; फिर भी सर्वत्र बुद्धिवादी, विचिकित्सक सन्तुलन को लेखक खोता नहीं है। इतर मत-खंडन भी सौम्य और अहिंसक शब्दावली में है।

संक्षेप में, यह ग्रन्थ हिन्दी को गौरव प्रदान करता है और अन्य भाषाओं की दृष्टि में हिन्दी को उठाता है। शान्तिभिक्षु जी का कार्य इस विषय में बहुत ही मूल्यवान है।

हिन्दी के अन्य सभी प्रकाशनों की भाँति इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक पर भी प्रकाशन-तिथि, वर्ष आदि कहीं भी नहीं दिये हैं।[3]

राय आनन्दकृष्ण

कला : एक नवीन दृष्टिकोण

कला के प्रति हमारे समाज की जो उदासीनता है, वह उससे सम्बन्धित साहित्य के दुर्लभ होने से स्पष्ट है। जिन देशों में, हमारे प्राचीन समाज की भाँति समाज की कला के प्रति आँखें बन्द नहीं हैं, उनमें कला की तात्विक चर्चा बहुत लोकप्रिय हुई है और अँग्रेजी एवं अन्य पाश्चात्य भाषाओं का प्रकाशन इस दृष्टि से बहुत समृद्ध रहा है। अपने देश का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि एक ओर अपनी कलाओं का समुचित अध्ययन नहीं, दूसरे उनके इतिहास अथवा उनकी व्याख्याएँ संकुचित पाश्चात्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत हुईं, जिनके द्वारा उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन ही नहीं हो सका एवं अन्ततः उन सबका प्रकाशन विदेशी भाषाओं में होने से वह चर्चा अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही। समुचित साहित्य का अभाव भी हमारे लोक में कला-चेतना के ह्रास का एक कारण रहा है; कला की चर्चा गुलदस्तों की भाँति भले ही उच्च वर्ग के

१. यथा लंकाकांड १२६, ३-४।
२. देखिए पुस्तक का पृष्ठ १३४।
३. लेखक—शान्तिभिक्षु, प्रकाशक—विश्वभारती ग्रन्थालय, कलकत्ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोल कमरों की शोभा बढ़ाने लगी हो, पर धरती से वह बिलकुल विच्छिन्न होती जा रही है।

दूसरी ओर कला की तत्त्व-चर्चा पाश्चात्य देशों में कला की नवीन-से-नवीनतम दिशाओं की खोज करने एवं उसमें उसे प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो रही है। लेखनी का सहारा पाकर वहाँ शैलियों ने कुछ ऐसे मोड़ लिये हैं, जिन्हें हमारे कलाकार आँख मूँदकर आत्मसात करते जा रहे हैं। उनमें अनेक के सम्बन्ध में समाज को विचार करने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत पुस्तक एक बहुपठित लेखक की रचना है, जिसने उपनिषद्-साहित्य से लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक के उद्धरणों द्वारा हमारे चिन्तन की न जाने कितनी श्रेणियों को पार करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उसके विशद प्रतिपादनों के कुछ सुन्दर स्थल पृष्ठ ३-४, पृष्ठ २०, पृष्ठ ३३, पृष्ठ ५०-५१, पृष्ठ ५२, पृष्ठ ११६-१२०, पृष्ठ १२१-१२२ आदि हैं, कहीं-कहीं पृष्ठ ३, पृष्ठ ११६-१२० आदि पर वे बहुत काव्यात्मक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों, साहित्य-शास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के उद्धरणों में उसने कितनी सतर्कता रखी है, यह उन शास्त्रों में पारंगत ही बता सकते हैं, परन्तु उसके प्रतिपादन के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक पहलुओं पर कुछ निवेदन करना आवश्यक है।

विद्वान् लेखक ने पहले निबन्ध में कला शब्द के अर्थ, प्रयोग एवं भारतीय प्राचीन जीवन से उसके सम्बन्धों पर विचार किया है। 'कामसूत्र' की भाँति अनेक प्राचीन ग्रन्थों में कलाओं की सूची मिलती है। जातकों में भी शिल्पों की सूची है, जिनमें कुछ शिल्प (यथा हजामत बनाना!) हीन शिल्प के अन्तर्गत आते हैं। विभिन्न कालों में कला शब्द के विभिन्न प्रयोग मिलते हैं एवं कहीं-कहीं उसका प्रयोग कौशलों (क्रैफ्ट्स) के अर्थ में हुआ है। समय-समय पर होने वाले इन अन्तरों को ध्यान में न रखने से भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्वभावतः मध्यकालीन साहित्य-शास्त्रकारों ने इस शब्द का जो अर्थ किया है उससे गुप्त-काल में या उससे भी पूर्व, उसका अर्थ कुछ और ही था। कम-से-कम ऐसे अनेक प्रमाण हैं कि कला को कौशल से भिन्न स्तर पर पूर्वों ने प्रतिष्ठित किया है। प्रारम्भ में लेखक ने कहीं-कहीं इस दृष्टिकोण को छोड़ दिया है, यद्यपि पृष्ठ ६६ पर उसने स्वयं इसे स्वीकार किया है। आचार्य डॉक्टर कुमारस्वामी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ट्रान्सफार्मेशन ऑव नेचर इन आर्ट' में इस विषय को बहुत विशदता से समझाया है। उपनिषदों में प्रयुक्त चित्त-संज्ञा शब्द से ही स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति में लोक-वृति अनुकरण होने पर भी कलाकार के मन पर पड़ी लोक की छाया का व्यक्तीकरण है। चित्र-कला के सन्दर्भ में प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त सु-सदृश, अनु-रूप, अनु-कृति आदि शब्द इसी बात को स्पष्ट करते हैं।

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया भी इससे भिन्न नहीं। विद्वान् लेखक ने अनेक पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों के प्रमाणों द्वारा साहित्य-सृजन में इस प्रक्रिया को स्वीकारा है। पृष्ठ, १३ पर पाद-टिप्पणी में हर्बर्ट रीड की उक्ति में इमेजेज शब्द इसी चित्त-संज्ञा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सम्भवतः 'बाइबिल' का विजन (पृष्ठ १४) शब्द इससे भिन्न नहीं। लेखक ने साहित्य में इस प्रक्रिया को जिस रूप में देखा है, कला में उसकी प्रतिष्ठा है। आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे निबन्ध 'कला की परिभाषा' में उसने अरस्तू से लेकर रवीन्द्रनाथ तक के चिन्तकों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को बहुत प्रबलता के साथ हमारे सामने रखा है। पृष्ठ १२५ पर प्राचीन चीनी चित्रकार कुओसी की उक्ति भी इसकी पुष्टि करती हैं। चित्र-सूत्र में भी यही बात मिलती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। पृष्ठ ४५ और पृष्ठ ६३ पर विद्वान् लेखक ने स्वयं स्वीकारा है : "प्रत्येक कला···एक ही लक्ष्य की साधना करती है।" पर न जाने क्यों स्वयं उसे इस बात पर निष्ठा नहीं। इसी प्रकार "संगीत···ही है," (पृष्ठ ५७) वाला उसका निष्कर्ष किसी तर्क पर आधारित नहीं।

अतः साहित्य अर्थात् काव्य एवं कला में साधन-मात्र की भिन्नता मानी जाती है। जिस प्रकार साहित्य में ही अभिव्यक्ति के अनेक प्रकार हैं; यथा छन्दों द्वारा, कथाओं द्वारा, गद्य-काव्यों द्वारा, निबन्धों द्वारा एक ही भाव की अभिव्यक्ति हो सकती है उसी प्रकार साहित्य और कला अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग-मात्र हैं। तालस्ताय के कथन (पृष्ठ १६), **"कला वही मर्मवाणी है जो साहित्य की है,"** पर ध्यान न देकर लेखक ने कहा है : **"कला और काव्य को एक कर देने में कोई अशुभ सम्भावना नहीं होनी चाहिए।"** इस प्रकार लेखक ने दोनों में जो तात्विक अन्तर पाया है वह वस्तुतः है ही नहीं और ऊपर यही बात तालस्ताय के शब्दों में भली भाँति व्यक्त हुई है। लेखक ने इस दृष्टिकोण को अमान्य ठहराकर कहा है : **"हम इसे काव्य नहीं कहेंगे, यह काव्य की कला हो सकती है।"** (पृष्ठ ८)। मानो सबसे हीन रूप कला का है। अपने देश में कला के प्रति ऐसी भावना कभी न थी। प्राचीन उल्लेखों में तो कुछ और ही मिलता है :

शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्ययैर्ह्यमी। (भामह)

अथवा **'साहित्य संगीत-कला-विहीनः'** वाले प्रसिद्ध वाक्यांश में कला की प्रतिष्ठापूर्ण रूप से मिलती है। इस पक्ष के इतने उद्धरण मिल सकते हैं कि उन्हें गिनाने की आवश्यकता नहीं। तब ऐसा भ्रम क्यों उत्पन्न होता है ? वस्तुतः चित्र आदि को कहीं-कहीं कलाओं के ऐसे वर्गों में रखा गया है जिनमें नागरों के लिए अनेक कौशलों के नाम हैं; जैसे माला गूँथना, बुझौवल, समस्या-पूर्ति आदि। ध्यान देने की बात है कि ये सूचियाँ नागरिकों के लिए है, कलाकारों अथवा आचार्यों के लिए नहीं। जन-साधारण के लिए कला की सूची वस्तुतः उनके दैनिक जीवन में काम आने वाले गुणों की सूची है, आजकल के शब्दों में 'सोसायटी मैन' बनने के लिए गुणों की सूची है। इसी प्रकार प्राचीन ग्रन्थों में स्पष्ट है कि वेश्याएँ कलाओं में प्रवीणता इसलिए प्राप्त नहीं करती थीं कि उससे उन्हें 'ब्रह्मानन्द सहोदर रस' की उपलब्धि हो, वरन् उन्हें वे अपनी 'वैदग्ध-ख्याति' के लिए प्राप्त करती थीं। कलाकार की साधना इन सबसे भिन्न ही होती है।

इन सब वर्गों से ऊपर कलाकार था, जिसे समाज में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। राजा अपने दरबार में उसे 'अत्रभवान' कहकर सम्बोधित करते थे। वह आचार्य कहलाता था। वह जिस भावना में लगा रहता उसके फलस्वरूप हमारे प्राचीन काल की लोकोत्तर कला की सृष्टि हुई है जिसके उदाहरण सारे देश में महावराह की भाँति अतीत के महा समुद्र से प्रायः निकल पड़ते हैं। जिस समाज ने अजन्ता के कलाकारों को जन्म दिया, जिस समाज में सारनाथ के बुद्धदेव की मूर्ति गढ़ने वाला पैदा हुआ, उसमें कला के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा होगा इसे बताने की आवश्यकता नहीं। जीवन से वह कला कितनी सम्पृक्त रही होगी इसकी वकालत करना भी अनपेक्षित है। यदि और विस्तार में जाना चाहें तो तत्कालीन साहित्य में कला-कृतियों के प्रति सहसा निर्गत श्लाघा वा उसकी आलोचना को देखें, जिनसे सारा संस्कृत-साहित्य भरा पड़ा है। ऐसी दशा में विद्वान् लेखक की उक्ति, **"जो भी हो, मानव ने कला की यह मान्यता इसके (नई विचार-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा के) पहले कभी नहीं" दी (पृष्ठ ८), भारत के पास प्रतिमा बनाने का कौशल कला तो था, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करने का अभिषिक्त मन्त्र उसके पास नहीं था" (पृष्ठ ११), न्याय-पूर्ण नहीं। ऐसी अनेक उक्तियों के पीछे विद्वान् लेखक को कौनसी प्रेरणा थी, यह पता नहीं।

अन्य निबन्धों में लेखक ने कला की भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से की गई परिभाषाओं का अच्छा संग्रह किया है, जो इस विषय में उसके गम्भीर अध्ययन का परिचायक है। कला-सम्बन्धी प्राच्य वा पाश्चात्य उक्तियों का ऐसा बृहद् एवं सुन्दर संग्रह दुर्लभ है। उन उक्तियों का प्रतिपादन भी लेखक ने बड़े ही सामर्थ्य के साथ किया है। इसमें भी कई बार ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें देशी वा विदेशी चिन्तकों ने कला की प्रतिष्ठा साहित्य से कम नहीं की है। आश्चर्य है स्वयं उससे भिन्न-मति होते, लेखक ने इनके पक्ष का इतना अच्छा प्रतिपादन कैसे किया है। परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि अनेक देश-काल के भिन्न-भिन्न विचार-धारा वाले मनीषी कला के सम्बन्ध में प्रायः एकमत हैं। वस्तुतः उनके इस मतैक्य को देखकर आश्चर्य होता है। यही बात कला के प्रयोजनों के सम्बन्ध में आती है। सौन्दर्य शब्द एवं उसके विभिन्न अर्थों में भी कुछ कम बखेड़ा नहीं है। इस 'खंडनखंडखाद्य' से बेचारी कला का सिर चकरा गया होगा। इसके बाद यह निष्कर्ष उचित है : **"जो कला की दृष्टि से अच्छा सुन्दर है, वह सुनीतिमूलक, जो नहीं वह नहीं अथवा विपर्यय करके, जो सुनीतिमूलक है वही अच्छा, जो नहीं वह नहीं।"** सारे ऊहापोह के बाद यहीं ठौर मिलता है। कला जीवन का संस्कार करती है या नहीं, यह भी बहुत-कुछ इसी सूत्र पर हल होता है। कला की तीनों दृष्टियों अर्थात् कलाकार का दृष्टिकोण, कृति का दृष्टिकोण एवं रस-ग्राहक के दृष्टिकोणों का अलग-अलग अच्छा विवेचन हुआ है, जिसमें अनेक उद्धरण उपयोगी एवं मननीय हैं। इन तीनों दृष्टिकोणों को अलग-अलग, एक-दूसरे से भिन्न, एक-दूसरे से परस्पर विरोधी नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः ये तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इस दृष्टिकोण के बिना कला की परिभाषा एकांगी होगी।

पर लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने अपने-आपको तटस्थ रखकर सामग्री प्रस्तुत की है और उस पर विचार-विमर्श किया है। किसी वाद में पड़कर प्रत्येक सिद्धान्त को तोड़ने-मरोड़ने की चेष्टा उसने नहीं की है। विशेष रूप से प्रत्येक सिद्धान्त वा वाद को प्रतिपादित करने में उसने अपनी गहराई का परिचय दिया है यथा पृष्ठ ३२-३३ पर 'स्वान्तःसुखाय' और 'बहुजन हिताय' वाला प्रसंग अथवा पृष्ठ ५०-५१ पर 'अभिव्यक्ति की शक्ति' या पृष्ठ ५२ पर 'उपयोगिता बनाम सौन्दर्य-भावना' आदि उदाहरण के लिए काफी होंगे।

इस प्रकार पुस्तक अपनी उपादेयता के देखते विशिष्ट वर्ग में आती है, जिसके लिए लेखक बधाई का पात्र है।

१. लेखक—हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक—मानसरोवर, गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्राचीन लोकोत्सवों का अध्ययन

भारतीय प्राचीन लोकोत्सव ऐसा विषय है, जिस पर बहुत कम अध्ययन हुआ है। पर "...... प्रस्तुत ग्रन्थ **में केवल ऐसे ही उत्सवों का वर्णन हुआ है, जिनका कुछ ऐतिहासिक महत्त्व है।**" इस प्रकार विषय जरा सीमित पर गठित हो गया है। ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में अनेक लोकोत्सवों को छोड़ भी दिया गया है। विषय-प्रवेश में उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण में लेखक ने पाकिस्तान बनाने वाली मुसलिम मनोवृत्ति की चर्चा के साथ ही यह भी कहा है कि हमारे देश में **'फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीका वालों का स्वातन्त्र्य-संग्राम या रूसी क्रान्ति-जैसी अनियन्त्रित जनता की उद्दण्डता का उदाहरण नहीं मिलता।'** एक तो इन बातों का विषय-वस्तु से दूर का भी सम्बन्ध नहीं है; दूसरे फ्रांसीसी क्रान्ति, अमरीकी स्वातन्त्र्य-संग्राम और रूसी क्रान्ति का सम्बन्ध समाज के उस विकास से है, जिसे अर्थनीतिक परिभाषा में औद्योगिक और सामाजिक क्रान्ति कहते हैं। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ भारतवर्ष में अंग्रेजों के माध्यम से हुआ। इसीलिए यहाँ क्रान्ति नहीं, अंग्रेजों की छाया में औद्योगिक विकास हुआ। इस विकास के परिणामस्वरूप भारतवर्ष में अंग्रेजों की छाया में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति हुई। भारतीय समाज के श्रेणी-सम्बन्धों, ऐतिहासिक काल-क्रम और अंग्रेजी कूटनीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में मध्यम वर्ग की उत्पत्ति पहले हुई और मुसलमानों में बाद को। इस अर्थनीतिक भेद ने सामाजिक परिपार्श्व के अन्दर अंग्रेजी कूटनीति द्वारा साम्प्रदायिक रूप लिया, जिसका परिणाम पाकिस्तान हुआ। अतः यह (पाकिस्तान) कोरे सामूहिक मनोविज्ञान का विषय नहीं है। सामाजिक यथार्थ का कुछ सीमा तक अपरिपक्व, विकृत और कुछ सीमा तक विदेशी कूटनीतिक परिणाम है। फ्रांसीसी और रूसी क्रान्ति में समाज का विकास न देखकर उद्दण्डता देखना, समाजतात्त्विक यथार्थ की अवहेलना करना है। किन्तु उदाहरण की अप्रासंगिकता और इन गलतियों को निकाल दिया जाय तो उत्सवों के मनोविज्ञान का विश्लेषण सुन्दर है।

ऐतिहासिकता का बन्धन लेखक ने ऐसा बाँधा है कि बहुत-से अपेक्षित उत्सवों के विधानों की उपेक्षा हो गई है। 'दीपावली' के बाद 'यम द्वितीया' के उत्सव के वर्णन में शहरों में होने वाले कृत्यों का भी वर्णन नहीं किया गया है। जैसे बहन द्वारा भँडेहर भरना, गोधना कूटना, भाई को गाली और मृत्यु का श्राप देना और फिर भाई की आयु जोड़ना। भोजपुरी-भाषी देहातों में इस उत्सव में जमीन पर गोबर की पुरुष आकृति बनाना, उसमें चना रखना, कुमारी कन्याओं द्वारा उसे मूसल से मारना, गालियाँ बकना, वृद्धाओं द्वारा कहानियाँ कहना और गीत गाना तथा फिर उसी चने का खाना आदि बहुत विधान हैं। पर लेखक ने किसी का जिक्र नहीं किया है। ऐसा लगता है कि लेखक ने प्राचीन साहित्यिक रेकार्डों को ही इतिहास मान लिया है। जीवित परम्पराओं की ओर ध्यान कम दिया गया है। प्राचीन रेकार्डों में भी उससे गलतियाँ हो गई हैं। जैसे वृहद्रथ को आर्येतर योद्धा मानना। वृहद्रथ वसु का पुत्र है और उसने मगध में बार्हद्रथ-वंश की स्थापना की थी, जिसमें आगे चलकर जरासन्ध नामक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इस वंश ने व्रात्यों से ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध रखा। इसीलिए बाद के ब्राह्मण-मत वाले साहित्यकारों ने इस वंश को हीन रूप में चित्रित किया, पर आधुनिक लेखकों को इन तथ्यों को समझना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकोत्सवों के उत्सवोचित विधानों का वर्णन तो प्रायः नहीं-सा ही है। शुष्क शैली में सार-मात्र दिया हुआ है। इससे प्राचीन लोकोत्सवों की झाँकी नहीं मिलती। सिर्फ इंगित होता है कि अमुक उत्सव ऐसा होता था। अच्छा होता यदि प्राचीन साहित्य से उत्सवों के सजीव वर्णनों को और उत्सवों के लोक-प्रचलित रूपों को भी ले लिया गया होता। उत्सवों की विधि को ही न देकर यदि उसके कलात्मक रूपों को भी दे दिया गया होता तो न केवल ग्रन्थ की कमज़ोरियाँ दूर हो जातीं, बल्कि उसकी उपयोगिता भी बढ़ गई होती।

'प्राचीन लोकोत्सव' में लोकोत्सवों की अपेक्षा, जिन मान्य देवी-देवताओं के नाम पर उत्सव होते हैं, उन देवी-देवताओं के विकास और इतिहास का अच्छा परिचय दिया हुआ है। नवरात्रि-उत्सव के प्रसंग में देवियों का परिचय विस्तृत और प्रमाण-पुष्ट है। विभिन्न देवियों के सम्बन्ध में, उनकी पूजा के सम्बन्ध में, प्रारम्भ में उनका किन जन-जातियों से सम्बन्ध था और बाद में उनका कैसे आर्यीकरण हुआ, इन सभी पहलुओं पर सूक्ष्म और सारग्राही विवरण इस ग्रन्थ में है। वस्तुतः इसमें इतना ही सर्वोत्तम है। यदि कुछ उत्सवों को हटाकर इसका नाम **'भारतीय लोक देवी-देवता'** कर दिया जाय तो ग्रन्थ गठित हो जायगा और ऐसा न करने पर लोकोत्सवों का सजीव चित्र देना परमावश्यक होगा।

प्रस्तुत पुस्तक में विषय-प्रतिपादन की दृष्टि व्यापक है। भारतीय देवी-देवताओं और लोकोत्सवों से मिलते-जुलते विश्व में जहाँ जो देवी-देवता और लोकोत्सव हैं, उन सबों का संक्षिप्त परिचय लेखक ने दिया है। इस शैली से विश्व में मानव-मन की एकता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित होता है। विभिन्न देवी-देवताओं और विश्लेषणों के अन्त में लेखक ने अपने परिणाम भी निकाले हैं। लेखक के परिणामों से पूर्णतः कोई सहमत हो अथवा न हो; पर लेखक की इस वैज्ञानिक शैली का पाठक के मन पर शुभ परिणाम पड़ना चाहिए। इस शैली द्वारा लेखक पाठकों को सोचने के लिए बाध्य भी कर देता है और एक परिणाम भी सामने रख देता है, जिसके पीछे तर्क और प्रमाण दोनों होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी में इस विषय का यह अच्छा ग्रन्थ है। इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं, इसकी भाषा में भी कुछ दोष हैं—पुनश्च का प्रयोग बड़ा बेढंगा है—पर लेखक की दिशा ठीक है।[1]

डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

व्यक्ति और वाङ्मय

श्री प्रभाकर माचवे हिन्दी के सुविख्यात कवि और आलोचक हैं। उनकी प्रस्तुत कृति 'व्यक्ति और वाङ्मय' में सन् '३६ से सन् '५२ तक समय-समय पर लिखे हुए उनके लेखों का संग्रह है। इन लेखों में उन्होंने आदि काल से आधुनिक काल तक के भारतीय कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया है। ऐसे कवियों में वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, कालिदास, राजशेखर, कबीर, विद्यापति, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला, महादेवी, 'दिनकर',

१. लेखक—श्री मन्मथ राय, प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतभूषण अग्रवाल आदि, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मराठी के ताँबे, बी. यशवन्त आदि, दक्षिण भारत के सुब्रह्मण्य भारती (तमिल), वल्लथोल (मलयालम); दे० कृष्ण शास्त्री (तैलुगु), द० रा० बेन्द्रे (कन्नड़), गुजराती के नान्हामल, जोशी आदि और पंजाबी के नानक से लेकर आज तक कवियों की 'रचनाओं और उनके व्यक्तित्व का पर्यवेक्षण' किया गया है। कुछ लोगों का यह कहना रहा है कि माचवे जी केवल हिन्दी की बात मराठी में और मराठी की बात हिन्दी में कहते हैं। 'व्यक्ति और वाङ्मय' से यह सिद्ध हो जाता है कि वे मराठी की बात ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं की बात भी हिन्दी में कहते हैं—हाँ, यह पता नहीं कि वे हिन्दी की बात भी उन सब भाषाओं में कहते हैं या नहीं। इतना ही नहीं, माचवे जी को रूसी, जर्मन, फ्रेञ्च, ग्रीक, लेटिन, इटैलियन, अंग्रेजी, पोलिश आदि यूरोपीय भाषाओं का भी ज्ञान है, जिनसे वे स्थान-स्थान पर उद्धरण देते हैं और यूरोपीय ग्रन्थकारों के नामों का उल्लेख करते हैं। ऐसे बहु-भाषाविद् कवि और लेखक को पाकर हिन्दी-भाषा आज धन्य है! प्रारम्भ में लेखक ने लिखा है: 'लेखक व्यक्ति की **वर्तमान आचार-स्थिति को साहित्य के लिए कसौटी मानने को तैयार नहीं। हाँ, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से वह अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन करने की चेष्टा आवश्यक समझता है।'** माचवे जी व्यक्ति और उसके साहित्य को अलग-अलग देखना नहीं चाहते। किन्तु जब हम इस कृति को पढ़ते हैं तो लेखक के इस कथन की पुष्टि नहीं होती। हमें 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अन्तर-मानस का ऐतिहासिक अध्ययन' अत्यन्त क्षीण रूप में मिलता है या फिर मिलता ही नहीं। वाल्मीकि, व्यास आदि से सम्बन्धित प्रारम्भिक लेखों में तो इस प्रकार का अध्ययन बिलकुल नहीं है—शायद यह सम्भव भी नहीं था। लेखक ने संस्कृत और प्राकृत-कवियों से सम्बन्धित लेखों को खोजपूर्ण बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उनमें 'फ़िफ़्थ हैंड सोर्सेज' से ली गई सूचनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों से सम्बन्धित लेखों में संस्मरण और कवियों की कुछ रचनाओं की समीक्षाएँ हैं या उनकी रचनाओं से सम्बन्धित कुछ पक्षों पर ही संक्षेप में विचार किया गया है। 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के अन्तर्गत 'अन्तर-मानस का अध्ययन' हमें नहीं मिलता। लेखों में प्रायः विषयान्तर मिल जाता है। पाठक लेखक के विचारों से सहमत भले ही न हों, किन्तु उसके लेखों में रोचक सामग्री का अभाव नहीं है। लेखक की जर्नलिस्टिक शैली में पाठकों का मन रमता है, मनोरंजन होता है और अनेक दिलचस्प बातें पढ़ने को मिलती हैं; किन्तु सम्पूर्ण पुस्तक पढ़ लेने के बाद पाठकों का बौद्धिक Status quo बना रहेगा। वास्तव में माचवे जी के ये लेख उन चित्रों की भाँति हैं जिनमें विविध प्रकार के रंगों की कूचियाँ तो मारी गई हैं, किन्तु चित्र या तो अस्पष्ट हैं या केवल आंशिक रूप में ही उभर पाए हैं। कहीं-कहीं तो रंग फीके भी हैं।[1]

1. **लेखक—प्रभाकर माचवे, प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, दिल्ली।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

विभावरी

'विभावरी' श्री नीरज की ४० कविताओं का संग्रह है, जिसमें ३८ गीत हैं और २ गद्य-काव्य। कविताओं में कवि का सबसे प्रबल स्वर संसार की क्षण-भंगुरता से उत्पन्न निराशा का है। इसी-लिए अधिकांश कविताओं में कवि ने भिन्न-भिन्न प्रकार से यही बात कही है कि संसार में स्थायी और सुखद वस्तु कुछ नहीं है, धरती, आकाश और समुद्र सब नाश की गोद में विश्राम कर रहे हैं और जिन्दगी एक विवशता है। नीरज जी की कविता में बड़े वेग से जो यह नाश का चित्रण हुआ है यह क्यों? नाश-भावना से प्रेरित काव्य-सौन्दर्य जहाँ उनके लिए गौरव की वस्तु है वहाँ हमारी समझ में युग के दायित्व से भागने की भी वस्तु है। हो सकता है कि नीरज जी युग की माँग को महत्त्व न देकर युग-युग की भावना को ही वाणी के माध्यम से प्रचारित करना चाहते हों, पर तब भी हमारा विनम्र निवेदन यह है कि 'मृत्युवाद' ही युग-युग की भावना नहीं है, 'जीवन' भी युग-युग की भावना है; और आज, जब कि राष्ट्र जीवन मरण के संकट में है, एक सशक्त स्वर के कवि से अधिकार पूर्वक यह माँग करना अनुचित नहीं है कि वह पिष्टपेषण के दोष को अपनाकर नाश का गीत न गाए।

यह हम इसलिए और भी कहते हैं कि नीरज जी की लेखनी में शक्ति है और वे प्रेरक और गतिवान कविताएँ भी लिख सकते हैं। हमें विश्वास है, नीरज जी अपने 'जनपद की धूल' गद्य-गीत की भावना को अपना लक्ष्य बनायँगे। **'स्वर्ग तो केवल कल्पना-लोक है, उसे यदि तू चाहे तो पृथ्वी पर ही बना सकता है, पर शासन यदि चाहता है तो जा, जनपद की धूल मस्तक पर धारण कर, तुझे त्रिलोक का राज्य प्राप्त हो जायगा।'** उन्हीं के शब्दों को लेकर हम उनसे यह सब इसलिए कहना चाहते हैं कि, **'करने को निर्माण मगर जग में वीरान अभी बाकी है।'**

नीरज जी की कविताओं में दृष्टिकोण की असामयिकता भले ही हो, पर उनकी अनुभूति की सच्चाई से इन्कार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर सबसे बड़ी विशेषता भाषा-शैली की है। उर्दू-मिश्रित सरल भाषा में अपनी गहरी-से-गहरी बात को व्यक्त कर देने में सम्भवतः नीरज जी आधुनिक तरुण कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। ऐसा लगता है कि अनायास उनकी अनुभूति इस भाषा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर गई है।

उनके संग्रह पर आदर्श वाक्य की भाँति ये पंक्तियाँ अंकित हैं: **'आदमी हूँ आदमी को प्यार करता हूँ।'** हम उनके इस मनुष्य-प्रेम का आदर करते हैं, पर यह मनुष्य-प्रेम केवल नारी तक ही सीमित होकर न रह जाय, इस ओर कवि को सतर्क रहना है और पीड़ित मानवता का गीत भी गाना है। आशा है कवि इस ओर गहराई से सोचेगा।[1]

---

१. लेखक—नीरज, प्रकाशक—साधना प्रकाशन, कानपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्षयचन्द्र शर्मा

मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह

'मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह' निःसन्देह मीराँ के पदों का बृहत् संग्रह है; इसका सम्पादन श्रीमती पद्मावती 'शबनम' ने अत्यन्त श्रम पूर्वक किया है। यदि सम्पादिका में श्रम और लगन के समान भाव-विषयक तल-स्पर्शी अन्तर्दृष्टि और भाषा-विवेचिनी विद्वत्ता होती तो यह कार्य मीराँ-साहित्य-परम्परा में शीर्ष-स्थानीय होता। इस संग्रह का महत्त्व एक-मात्र संग्रह की दृष्टि से ज्यादा है और विवेचन की दृष्टि से अपेक्षाकृत कम। सम्पादिका ने मीराँ-काव्य-जिज्ञासुओं के सम्मुख बहुत-सी कच्ची-पक्की सामग्री जुटा दी है, जिसको आधार बनाकर मीराँ के अध्ययन को आगे बढ़ाया जा सकता है।

सम्पादिका ने भाव को स्पष्ट करने के लिए फुटनोट में कुछ शब्दों का अर्थ दिया है। भूमिका-लेखक श्री श्रीकृष्णलाल के कथनानुसार इससे मीराँ के भाव स्पष्ट हो गए हैं। पर यह सही नहीं। सम्पादिका शब्दों का अर्थ स्वयं कम समझती हैं, इससे भावों की अस्पष्टता ही बढ़ी है। स्थान-स्थान पर जो शब्दार्थ दिये गए हैं, वे प्रायः अशुद्ध हैं।

'शबनम' ने पहला शब्दार्थ 'बिस्वा बीस' का लिखा है, पर बिस्मिल्लाह ही गलत। 'बिस्वा बीस' का अर्थ 'शुभ' कहाँ से आया; राजस्थानी भाषा में आज भी इसका अर्थ 'एकदम सही' प्रचलित है : **'सुपण-बिस्वा बीस।'**

चोरी करूँ न मारगी (पृष्ठ ६) 'मारगी' का अर्थ कुमार्गी होना नहीं, बटमारी करना है।

'कांकड़ करहा झुकाय पिया म्हारो गिरधारी।' (पृष्ठ ७) इसके सीधे-से अर्थ में सम्पादिका उलझ गईं। करहा का अर्थ मालूम न होने से सारी गड़बड़ हुई। इस पंक्ति का अजीब अर्थ लिखा है : 'सरहद ने अपने शिखर झुका दिए।' लिखने को तो लिख गईं, पर भाव कुछ बैठा नहीं, तो फिर धींगा-धींगी से दूसरा अर्थ (!) निकाला गया : 'अर्थात् सरहद के लोगों ने बारात सजाकर आते हुए राणा का विशेष स्वागत किया।' उक्त पंक्ति का सीधा-सा अर्थ है—'हे सखी ! राणा का ऊँट गाँव की सीमा पर आ पहुँचा, पर मेरे तो पति गिरिधर हैं।' यह पद विवाह-प्रसंग का है। सखी से मीराँ की बातचीत हो रही है। राजस्थान में दूल्हा ऊँट पर सवार होकर जाता है। बस, यही इसमें निर्देशित है। 'करहा' का अर्थ ऊँट होता है, यह शब्द आज भी राजस्थान में प्रचलित है। विवाह की शुभ वेला में, 'करला' (ऊँट का गीत) गाया जाता है। संस्कृत के 'क्रमेलक' से बिगड़कर 'करला' या 'करहा' शब्द बना है, यही अंग्रेजी में 'कैमल' बन गया है। वीर-काव्यों व लोक-गीतों में यह शब्द भरा पड़ा है :

'एकर स्यां मारूजी करला पाछा जी मोड़
ओल्यूं घणीं आवै म्हारे बाबा सारी।'

[हे प्रिय ! एक बार, केवल एक बार, ऊँट को वापस मोड़ लो। मुझे मेरे पिता की मधुर याद आ रही है।]

कामिण कलस सँवारि (पृष्ठ ८) में कामिण का अर्थ दिया है 'घर में काम करने वाले नौकर। यह अर्थ एकदम अशुद्ध है। सही अर्थ है—सुन्दरियाँ (मंगल) कलश सजा रही हैं। विवाह के समय सुन्दरियाँ मंगल-कलश सजाकर सूण (शकुन) दिया करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादिका ने 'ओलमा' का अर्थ जगह-जगह 'शिकायत' लिखा है, इसका अर्थ उपालम्भ या उलहना है। शिकायत और उलहना पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। 'आई मिल्यो मोहि सागी रे' (पृ० ५८) इसमें 'सागी' का अर्थ 'स्वयं' लिखा है, जबकि इसका अर्थ है, वही (सेम)। 'मेरे भांवे' (पृ० ६८) में 'भांवे' का अर्थ 'लगती है' किसी तरह नहीं लगता; 'मेरी बला से' इसका अर्थ है, जो आज भी इसी अर्थ में राजस्थानी में व्यवहृत होता है। 'पातलियो साँवरियो छोभी' (पृ० ६६) में 'पातलियो' का अर्थ सुगठित शरीर वाला नहीं, 'पतले शरीर वाला' है। गीतों में नायक के सुन्दर विशेषणों में यह भी एक विशेषण है।

सम्पादिका ने 'गिरधर म्हारो मोड़' (पृ० ६५) में मोड़ के तीन अर्थ लिखने का व्यर्थ कष्ट उठाया, मोड़ का असली अर्थ 'मौर' (सिरमौर) न जाने कैसे छूट गया। 'राणाजी ओठी भेज्या' (पृ० ६७) में 'ओटी' का अर्थ 'पत्र' लिखा है। ओटी का अर्थ है—ऊँट-सवार। यह शब्द लोक-गीतों में राशि-राशि भरा पड़ा है। 'पणिहारी ऐ लोय' गीत में भी यह शब्द आया है: 'होज्या ओठीड़ै रै लार।'

'ढोल्यो' शब्द मीराँ के पदों में बार-बार आया है:

'(१) जाजम दीनी बैसणो कोई ढोल्यो दीनो ढाल (पृ० १०१)

(२) श्रावण री बिरियाँ भई जी, अब महलां ढोल्यो ढाल' (पृ० १३७)

सम्पादिका ने 'ढोल्यो' का अर्थ किया है 'मूँज के बनाये हुए छोटे पलंग, मचिया' तथा दूसरे स्थान पर अर्थ दिया है 'अतिथि अभ्यागत के लिए बनाये गए छोटे पलंग।' ढोलियां मूँज का नहीं, सुरंगी नीवार से बनाया जाता है। यह अभ्यागत के लिए नहीं, प्रिय के लिए बनाया जाता है। महल में ढोलिया ढाला जाता है। यह छोटा नहीं, बड़ा होता है। ढोलिया तो केलि-पर्यंक है। ढोला (प्रिय) जिस पर पोढ़े—वह ढोलिया। लोक-गीतों में भी प्रोषित-पतिकाएँ इसी 'ढोलियो' को सजाकर प्रतीक्षा करने की बात कहती हैं:

'बादल वर्णी सेज बिछाय
चन्दा के च्यानणिये ढालूँ ढोलियो जी म्हारा राज।'

मीराँ के पदों में 'कालर' शब्द दो-तीन जगह आया है, पर इसका सही अर्थ कम ही समझा गया है:

'देखि बिराणो निवाण कूँ है क्यूँ उपजावे खीज
कालर आपणो ही भलो है जामे निपज्यै चीज' (पृ० २०६)

प्रसंग से स्पष्ट है कि 'कालर' शब्द नीवाण का विलोम शब्द है। नीवाणं का खेत सबसे ज्यादा उपजाऊ होता है। कालर ताल की चिकनी मिट्टी को कहते हैं, यह अनुर्वर-प्राय होती है। दूसरे का उपजाऊ खेत किस काम का, अपना कम उपजाने वाला खेत भी अच्छा। इसके द्वारा एकनिष्ठ प्रेम की दृढ़ता व्यंजित की गई है।

इस प्रकार और भी बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं, इनसे स्पष्ट है कि सम्पादिका राजस्थानी भाषा और जीवन से पूर्ण परिचित नहीं हैं, इसलिए यह सम्पादन-कार्य इतना सफल न बन पड़ा।

मीराँ के पदों को विभिन्न शीर्षकों में बाँटकर सम्पादिका ने अपनी सूझ-बूझ का पूरा परिचय दिया है। इस प्रकार के वर्गीकरण से मीराँ के भिन्न-भिन्न प्रभाव-स्रोतों का सम्यक् रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन किया जा सकता है। पदों के पाठान्तरों की विवेचना गहराई से करने का प्रयत्न है। पदों के भाव-वैषम्य व असंगतियों की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की गई है, जो इस बात की सूचना है कि सम्पादिका ने अपने बूते के अनुसार पूरा प्रयत्न किया है।

पर यह कार्य राजस्थानी इतिहास, जीवन व भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् की अपेक्षा रखता है—तभी मीराँ-विषयक अध्ययन आगे बढ़ाया जा सकेगा। 'म्हारो दरद न जाणै कोय' को गीतों में गाने वाली मीराँ की चर्चा जितनी है, समझने का प्रयत्न उतना ही कम। मुंशी देवी-प्रसाद जी ने १६५५ में मीराँबाई की जीवनी प्रकाशित की थी, यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अनुसन्धान के साथ लिखी गई है। राजस्थानी भाषा के गम्भीर विवेचक श्री नरोत्तमदास स्वामी ने 'मीराँ-मन्दाकिनी' में मीराँ के पदों को अत्यन्त प्रामाणिक और शुद्ध रूप में उपस्थित किया था, यह लघु प्रयत्न मात्र था। आशा थी कि पुरोहित हरनारायण जी इस कार्य को पूरा करेंगे, पर उनके स्वर्गवास से यह कार्य अधूरा रह गया। इस स्थिति में चिर-प्रतीक्षित कार्य को श्रीमती पद्मावती ने आगे बढ़ाने का जो शुभ संकल्प किया है, वह सब प्रकार से श्लाघ्य है। इससे विद्वान् प्रेरणा पा सकें तो उनका यह प्रयत्न अभिनन्दनीय ही रहेगा।[1]

डॉक्टर रघुवंश

प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर

इधर हिन्दी-साहित्य में लघु उपन्यासों का प्रचलन कुछ अधिक हो गया है। इसका एक कारण तो यह भी है कि आज हजार–बारह सौ पेज के उपन्यास पढ़ने का समय और धैर्य अधिक पाठकों में नहीं है। परन्तु एक बात यह भी है कि बड़े उपन्यास में जीवन का जितना बड़ा कैनवेस लेना होता है, उसका निभाना उतना ही कठिन है। उसके लिए जीवन का व्यापक अनुभव अपेक्षित है। इस दृष्टि से नवीन उपन्यासकारों ने लघु उपन्यासों से प्रारम्भ किया है, यह उनके विकास-क्रम की दृष्टि से अच्छा रहेगा। नवीन का अर्थ यह नहीं कि अभी इन लेखकों की प्रथम कृतियाँ ही हमारे सामने हैं, वरन् इस अर्थ में कि अभी इन्होंने प्रारम्भ किया है और इनसे हमारे साहित्य को बहुत अधिक आशा है। यहाँ मैं पिछले और नवीन लेखकों का तुलनात्मक लेखा-जोखा लेने नहीं बैठा हूँ, परन्तु इतना कह देना चाहता हूँ कि इन नवीन उपन्यासकारों में नवीन सम्भावनाएँ हैं। ये अपने दृष्टिकोण में कथा-शिल्प, सामाजिक आदर्श तथा भाषा, सभी प्रकार से पिछले लेखकों से भिन्न हैं और इनमें नई शक्ति है, जो अवसर पाकर साहित्य में नवीन स्तर स्थापित कर सकेगी।

यहाँ मैं तीन लघु उपन्यासों को ले रहा हूँ; जनार्दन मुक्तिदूत का 'अधूरा-उपन्यास', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा' और लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप'। तीनोंही लघु उपन्यास हैं, जिनमें उपन्यासों के नवीन युग का स्तर पहचाना जा सकता है।

1. सम्पादिका—पद्मावती 'शबनम', प्रकाशक—लोक-सेवक प्रकाशन, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन तीनों उपन्यासों को यहाँ एक साथ समीक्षा के लिए लेने का अर्थ यह नहीं है कि इनमें अत्यधिक समानता है। लेकिन समानता न हो ऐसी बात भी नहीं है। इन तीनों में कथा-वस्तु को प्रस्तुत करने में नवीन शिल्प-विधि अपनाने की कोशिश की गई है। मुक्तिदूत के उपन्यास में एक नया प्रयोग है। प्रमुख पात्र पद्मकान्त अपने जीवन के उपन्यास का स्वयं लेखक है। पर इसका मतलब यह नहीं कि यह उपन्यास आत्म-कथा के रूप में लिखा गया है। पद्मकान्त का चरित्र उपन्यासों की प्रेरणा से गठित है और वह अपने जीवन को उपन्यास के रूप में ग्रहण करता है। उसका जीवन अपनी कठोर—विषम परिस्थितियों में गुज़र रहा है और वह उन्हीं में से अपने उपन्यास का कथानक चुनता है, घटना-क्रम उपस्थित करता है। उसका उपन्यास केवल समस्याएँ प्रस्तुत करता है—व्याख्या तथा समाधान उसके अपने जीवन में मिलता है। इस प्रकार लेखक के शब्दों में ही " **'अधूरा उपन्यास' नाम-भर है, वास्तव में है यह पूरा उपन्यास।**" पद्मकान्त की औपन्यासिक वृत्ति जहाँ उसे अधूरेपन में छोड़ देती है, वहीं मूल उपन्यासकार ने अनुराधा के माध्यम से अपने उपन्यास को पूरा किया है। इस उपन्यास में अनुराधा के चरित्र का उपयोग, क्या शिल्प की दृष्टि से और क्या कथानक की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

'रुद्र' जी का उपन्यास 'बहती गंगा' अपने ढंग का नवीन प्रयोग है। शायद बँधी-बँधाई परम्परा पर चलने वाले लोग इसे उपन्यास स्वीकार न भी करें। पर लेखक के ही शब्दों में "**प्रस्तुत 'बहती गंगा' की सत्रह तरंगें हैं—एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र। परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बँधी हुई हैं**" वैसे देखने पर सचमुच इसमें अलग-अलग कहानियों तथा रेखा-चित्रों का संग्रह जान पड़ता है। पर बात इतनी ही नहीं है। इन सभी कहानियों में आने वाले चरित्रों तथा घटनाओं में काल और घटना-क्रम का सम्बन्ध भले ही न हो, पर एक अद्भुत भाव-संयोग है। इस लघु उपन्यास में प्रधानता काशी नगरी की है—वही जैसे प्रधान पात्री है। भिन्न-भिन्न पात्र-पात्रियाँ और समय-समय पर होने वाली घटनाएँ तो उसीके जीवन की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ-भर हैं। विभिन्न अध्यायों का प्रभाव मन पर समवेत रूप से पड़ता जाता है, इस दृष्टि से उपन्यास में पूरा संगठन है। कहीं भी इस बात का आभास नहीं होता कि कोई अध्याय भिन्न कथा के रूप में है, यद्यपि दो भिन्न अध्यायों में चरित्रों की आवृत्ति कम ही हुई है और घटनाओं में शृङ्खला-क्रम भी नहीं है। पर जो कुछ प्रभाव एक अध्याय मन पर छोड़ता है, दूसरा अध्याय उसीकी भूमिका पर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार एक के बाद दूसरे अध्याय में लेखक ने काशी के दो शताब्दियों के जीवन को प्रत्यक्ष और सजीव किया है। इसमें क्या इतिहास, क्या जनश्रुति और क्या कल्पना, सभी ने एकरस सहयोग दिया है। कहानियों में इस प्रकार के प्रयोग पहले भी किये गए हैं, पर उपन्यास के रूप में यह पहला सफल प्रयास है।

लक्ष्मीनारायण लाल के उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में यद्यपि कथा कहने की शैली सहज है, पर उसके क्रम को कुछ बदलकर शिल्प-विधान में अधिक उत्कर्ष उत्पन्न किया गया है। कहानी को अन्त से आरम्भ करना नया शिल्प नहीं है, पर इस लघु उपन्यास में इसका प्रयोग सफलता की दृष्टि से बहुत अच्छा बन पड़ा है। जिस तीव्र संवेदना को लेखक इस छोटे-से उपन्यास में उभारना चाहता था, वह इस प्रयोग में और भी सघन और तीखी हो गई है। कथानक को उत्तर भाग में संवेदनात्मक चरम तक ले जाकर छोड़ दिया गया है, और उसी तीव्र भावात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका पर सम्पूर्ण कहानी प्रतिघटित होकर फिर उसी चरम पर आ जाती है। उत्कर्ष भाग में तो कथानक का समाहार-भर है। कथानक में शिल्प-विधि-सम्बन्धी प्रयोग के लिए सम्भवतः लघु उपन्यास अधिक उपयुक्त हैं। प्रयोग और सफलता की दृष्टि से ये लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।

कथानक और चरित्रों की दृष्टि से इन उपन्यासों में स्वभावतः विस्तार नहीं है। 'बहती गंगा' के विषय में यह बात उचित नहीं जान पड़ेगी, क्योंकि इसमें घटनाओं की योजना लम्बे काल में फैली हुई है और उसी प्रकार पात्रों की संख्या भी कम नहीं है। परन्तु यदि इस उपन्यास पर उसी आधार पर विचार किया जाय, जिस पर इसे उपन्यास कहा जाता है, तो यह बात अधिक असंगत नहीं लगेगी। कहा गया है कि इस उपन्यास में काशी नगरी के चरित्र को भावात्मक प्रभाव की दृष्टि से चित्रित किया गया है। इस दृष्टि से जिस प्रकार काल का विस्तार नष्ट हो जाता है, घटनाओं का क्रम महत्त्वहीन हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न पात्र काशी के जीवन की अद्भुत मस्ती, साहसिकता, और स्वतन्त्रता-प्रियता को व्यक्त करने के माध्यम-मात्र रह जाते हैं। चाहे १८वीं शती के दाताराम नागर, भंगड़ भिक्षुक हों, या १६वीं शती के रामदयाल चित्रकार भालर ठाकुर और शिवनाथबहादुरसिंह हों और चाहे वर्तमान युग के टिन्नू, शहाबुद्दीन, बेनी या पद्मानन्द आदि हों, सभी में काशी के अनुरूप मस्ती, वीरता तथा प्रेम है। इसी प्रकार सभी-नारियाँ वीरता और प्रेम के लिए उत्सर्ग करने वाली हैं, चाहे रानी पन्ना, सुन्दर गौनहारी और गोरी हों, चाहे अमीरन, रखिया और गोदावरी हों, अथवा चाहे दुलारी, तारा या गंगा हों, सभी में एक तेज है, स्वाभिमान है और मर-मिटने की चाह है। कथानक में अनेक बार पात्रों से एकसूत्रता भी कायम रखी गई है, पर विच्छिन्न होकर भी कथा अपने वेग में एकधार बहती गई है। काशी की उन्मुक्त मस्ती का वातावरण प्रस्तुत करने में लेखक को बहुत अधिक सफलता मिली है। स्थानीय वातावरण के साथ गहरी संवेदना उत्पन्न करने में ही इस उपन्यास की सफलता रक्षित है।

व्यक्ति-प्रधान तथा मनोविश्लेषण-परक उपन्यासों में जिस प्रकार दो-तीन पात्रों को ही प्रधानता मिलती है और अन्य पात्र उपस्थित होकर भी तटस्थ रहते हैं, वह बात इन लघु-उपन्यासों में नहीं है। इनमें कम पात्र उपस्थित हुए हैं या कम घटनाएँ चुनी गई हैं, तो केवल इस दृष्टि से कि उपन्यास का क्षेत्र विस्तृत नहीं था। वैसे ये सभी उपन्यास व्यक्ति-प्रधान नहीं कहे जा सकते, इनमें समाज की पूर्ण भूमिका है। यही कारण है कि इनमें छोटे और साधारण पात्र भी नगण्य नहीं जान पड़ते, वे कथानक में अपना महत्त्वपूर्ण योग-प्रदान करते हैं। 'अधूरा उपन्यास' में पद्मकान्त, राजो तथा अनुराधा प्रधान पात्र जान पड़ते हैं, क्योंकि कहानी का मूल ढाँचा इन्हीं को घेरे हुए है। पर कथानक के विस्तार में अनेक पात्र आये हैं और उनका भी समान महत्त्व है। इस दृष्टि से तो प्रधान पात्रों को कोई विशेष विस्तार भी नहीं मिला है। पद्मकान्त के मामा रमाचरण, उनके मित्र रामलाल तथा रामेश्वरी के पति ने कथानक के विकास में योग दिया है, साथ ही सामाजिक ढाँचा भी इनके माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार मामी, छुटंकी की माँ, राजो की माँ तथा रामेश्वरी आदि नारी-पात्रों का सहयोग कथा में आवश्यक है और वे सामाजिक समस्याओं को स्पष्ट करने में भी सहायक हुई हैं। इन समस्त पात्रों से लेखक ने सफलता पूर्वक सामाजिक ढाँचे को चित्रित किया है, उसे कहीं अपनी ओर से व्याख्या करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जरूरत नहीं हुई। चरित्रों के माध्यम से कथानक सहज भाव से आगे बढ़ता गया है, लेखक ने घटनाओं को अपनी ओर से गढ़ने या उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया, यही उसकी सफलता है।

श्री लक्ष्मीनारायणलाल अपने उपन्यास 'बया का घोंसला और साँप' में अधिक सामाजिक अन्तर्दृष्टि के साथ हमारे सामने आये हैं। उनके पिछले उपन्यास 'धरती की आँखें' में ग्रामीण जीवन का चित्र था, पर वह कल्पना के रंगों से अतिरंजित तथा भावुकता से उद्वेलित था। उसमें लेखक की शक्ति और प्रतिभा के अंकुर अवश्य थे, पर संयम तथा अन्तर्दृष्टि की कमी थी। इस उपन्यास में देहात और कस्बे के जीवन का सच्चा नक्शा है—बिना अतिरंजना और कल्पना के योग के। लेखक की भावुक प्रकृति इसमें भी परिलक्षित हुई है, पर वह कथा को संवेदक बनाने में सहयोगी हुई है। इस लघु उपन्यास की आधार-भूमि सामाजिक है, इसमें देहाती प्रकृति तथा समाज का बहुत ही सूक्ष्म वातावरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें आनन्द, सुभागी, रामानन्द तथा कामताप्रसाद तहसीलदार प्रमुख पात्र अवश्य हैं, पर सामाजिक आधार-भूमि पर जमुना, वंती जीजी, रत्ती, पारो, बुआ, सरजू आदि का कम महत्त्व नहीं है। सामाजिक परिस्थितियों को अधिक स्पष्ट करने तथा समस्याओं को उपस्थित करने की दृष्टि से पदारथ काका, जग्गी पण्डित से लेकर मुन्शी रामरखलाल तथा गिरजादयाल तक का महत्त्व है। इस उपन्यास में सिकन्दरपुर तथा पुरैना के माध्यम से उत्तर प्रदेश के गाँवों और रामनगर के माध्यम से यहाँ के कस्बों के विषाक्त जीवन को बहुत निकट से स्पर्श किया गया है। कथानक की गति जितनी तीव्र है, पात्रों का विश्लेषण भी उतना ही गहरा है, यद्यपि अनेक स्थलों पर ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने जल्दबाजी की है और चरित्र के विषय में उसकी दृष्टि तल तक नहीं पहुँच सकी है।

साहित्यिक के लिए सुन्दर-असुन्दर का प्रश्न है ही, पर आज के युग में वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भुला नहीं सकता। इस दृष्टि से हमारे इन लेखकों ने प्रेमचन्द की परम्परा में नये हस्ताक्षर अंकित किये हैं। यह व्यक्ति-परक उपन्यासकारों की परम्परा से भिन्न है। जो केवल मतवादों की व्याख्या तथा स्थापना को ही सामाजिक तथा स्वस्थ परम्परा मानते हैं, संयोग से मेरा मत उनसे भिन्न है। मैं सब मिलाकर साहित्यिक कृति की अपील पर बल देने वालों के वर्ग का हूँ। और इस दृष्टि से ये तीनों लघु उपन्यास स्वस्थ सामाजिक प्रवृत्ति के परिचायक हैं। 'बहती गंगा' का स्वर बहुत-कुछ ऐतिहासिक-सा जान पड़ता है, पर उसकी अपील सामाजिक है। इस बदलते हुए युग में जिन नये मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं की ओर इसमें संकेत किया गया है वे सामाजिक चेतना के परिणाम हैं। 'अधूरा उपन्यास' का नायक पद्मकान्त तथा 'बया का घोंसला और साँप' का नायक आनन्द बहुत-कुछ सामाजिक परिस्थितियों में निष्क्रिय-से हैं, वास्तव में आज के वे प्रतिनिधि पात्र हैं। अगर ऐसा न दिखाया जाता तो ये पात्र अस्वाभाविक ही अधिक बन पड़ते। पर 'अधूरा उपन्यास' में परिस्थितियाँ स्वयं पद्मकान्त के मन को बदल रही हैं, श्रीराम तथा अनुराधा का सहयोग भी एक सीमा तक माना जा सकता है। आनन्द के मन में तीव्र आघात से लेखक ने स्वतः विद्रोह उत्पन्न किया है। यह विद्रोही भावना सामाजिक सन्तुलन का संकेत भी छिपाये हुए है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। यह बात दूसरी है कि आनन्द ने अपने मानसिक संघर्ष के इस अवसर पर आघात-पर-आघात सहकर भी वर्ग-संघर्ष पर कोई भाषण नहीं दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द की परम्परा का उल्लेख मैंने अभी किया है। भाषा की दृष्टि से भी ये लेखक इसी परम्परा में आते हैं। तीनों लेखकों ने अपने-अपने ढंग से भाषा का व्यावहारिक गतिशील रूप अपनाया है। इस भाषा में सहज अभिव्यक्ति की शक्ति है। हिन्दी का अपनापन इन रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कहीं कोई अनगढ़ रूप या प्रयोग भी मिल सकता है, पर यह जीवित भाषा का लक्षण है। इन रचनाओं को देखकर हिन्दी के लेखकों से आशा बँधती है कि वे आगे आने वाले अपने उत्तरदायित्व के योग्य अपने को सिद्ध करेंगे।[1]

डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान

नये मोड़

'नये मोड़' उदयशंकर भट्ट का दूसरा उपन्यास है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, शैली, वातावरण और उद्देश्य की दृष्टि से 'नये मोड़' एक सफल रचना है। भट्टजी ने वास्तव में अपने साहित्यिक जीवन में एक नया मोड़ लिया है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे यदि इस नवीन पथ पर चलते रहे तो कहीं-न-कहीं अवश्य पहुँच जायँगे।

'नये मोड़' एक चरित्र-प्रधान उपन्यास है, जिसमें लेडी-डॉक्टर शेफाली के चरित्र को आधार बनाकर इसकी रचना की गई है। एक बार शेफाली का विवाह हो चुका है। पति से परित्यक्ता नारी रोगियों की सेवा में इतनी लीन हो जाती है कि वह यौवन को कुछ समय के लिए भूल-सी जाती है। परन्तु अपने हृदय के स्पन्दन को वह कब तक अनसुना कर सकती है! प्राणनाथ बैरिस्टर से प्रेम हो जाने पर भी शेफाली उससे प्रेम नहीं कर सकती। उसका पहला पति, जिसने दूसरा विवाह कर लिया है, कानून की शरण लेकर उसके विवाह को रोक सकता है। शेफाली सब-कुछ जानती थी, फिर भी उसने प्राणनाथ से विवाह करना स्वीकार कर लिया। समाज में एक भूचाल आने वाला था। **'क्या कभी ऐसा हुआ है कि एक विवाहिता नारी पति के रहते दूसरे को पति-रूप में वरण करे।'** इस समस्या को लेखक ने पाठकों के सामने रखा है। यह समस्या शेफाली के समूचे चरित्र को समेट लेती है। इसी उधेड़-बुन में उसका समस्त जीवन बीत जाता है। डॉक्टरी का काम जीवन के विषाद को क्षण-भर के लिए भुलाने का उपाय है। उपन्यास में अन्य पात्र शेफाली के चारों ओर घूमते रहते हैं और उसके चरित्र के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। साधना अपने नाम को सार्थक करने वाली जीवन को साधना के रूप में अपनाती है। शुभदा में यौवन की चंचलता, मादकता और भावुकता है। हीरादेई पीड़ित और सिसकती हुई भारतीय नारी का प्रतीक है। वह जीवन-पथ पर चलते-चलते थक जाती है।

१. **अधूरा उपन्यास : लेखक—जनार्दन मुक्तिदूत, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई। बहती गंगा : लेखक—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली। बया का घोंसला और साँप : लेखक—डॉक्टर लक्ष्मीनारायणलाल, प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन गृह, प्रयाग।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राममोहन और प्राणनाथ के चरित्र सजीवता, सत्यता और स्वाभाविकता को लिये हुए हैं। चरित्र-चित्रण में प्रायः दो शैलियों का अवलम्बन लिया जाता है—विश्लेषणात्मक और अभिनयात्मक। लेखक शेफाली, शुभदा, हीरादेई, प्राणनाथ, राममोहन आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण विश्लेषणात्मक शैली को अपनाकर स्वयं अपने शब्दों में करते हैं। वे कवि हैं, नाटककार होते हुए भी पहले कवि हैं, इसलिए उनके लिए तटस्थ रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

उपन्यास का कथानक कटा-छटा और सम्बद्ध है। कहीं-कहीं विस्तृत वाद-विवाद उसे क्षीण बना देते हैं, परन्तु उसमें अव्यवस्था नहीं आने देते। लेखक ने आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक समस्याओं पर पात्रों के द्वारा लम्बे-लम्बे परिसंवाद करवाए हैं, जिनसे घटना-क्रम की गति में बाधा पड़ जाती है। मनोविश्लेषण भी जहाँ जीवन की छाप को गहरा बनाता है वहाँ कथानक के वेग को रोकता है। शेफाली प्राणनाथ के चले जाने पर सोचती है: **"क्या यह सेक्स नहीं है जो मुझे उत्साहित करता है, फिर क्या मेरे हृदय में ऐसी भावना नहीं उठती, क्या उसे छिपाकर एक प्रकार का आडम्बर मैं नहीं करती, फिर यही मैं कब भूलती हूँ कि मैं स्त्री हूँ·······सेक्स-वृत्ति स्त्रीत्व और पुरुषत्व के रहते जा ही नहीं सकती। जिन महापुरुषों, साधु-सन्तों को हम इस भाव से ऊपर पाते हैं वे निस्पृह वीतराग होते हैं। वे समाज में नहीं रहते, किन्तु कौन कह सकता है कि उन्हें सेक्स कभी सताता ही नहीं है।"** इस तरह की उधेड़-बुन शेफाली के चरित्र को तो गम्भीर बना देती है, परन्तु साथ ही कथानक का ह्रास भी करती है। 'नये मोड़' में लेखक मनोविज्ञान और दर्शन का सहारा लेता है। शिक्षित पात्र जीवन की समस्याओं को समझने का प्रयत्न करते हैं। यह इस युग की देन और पुकार है। उपन्यास में बौद्धिक दृष्टिकोण और विचारों का प्राधान्य कथानक को दबोच लेते हैं और उसे दबाकर रखते हैं।

प्रस्तुत उपन्यास चरित्र-प्रधान होते हुए भी समस्या-मूलक है। वैसे तो सभी उपन्यासों में कुछ विशेष विचार और सिद्धान्त आप-से-आप आ जाते हैं, परन्तु 'नये मोड़' में एक निश्चित उद्देश्य है। क्या एक विवाहिता नारी, जिसका पति जीवित है और जिसने उसका परित्याग कर दूसरा विवाह कर लिया है, दूसरी शादी कर सकती है। भारतीय समाज में कानून इसकी आज्ञा नहीं देता। सामाजिक बन्धन बड़े कड़े और कठोर हैं। उपन्यास के अन्त तक पहुँचकर यह भय लगने लगता है कि लेखक शेफाली का विवाह करवा देगा, शहनाई बजकर रहेगी; परन्तु कठोर यथार्थ लेखक के हाथ पकड़ लेता है और इस सुखद परिणाम से रोक लेता है। दुःखान्त नाटकों का रचयिता इस उपन्यास को कैसे सुखान्त बना सकता था? शेफाली और शुभदा अँधेरी रात को अस्पताल से निकल पड़ीं: **'लैम्प की रोशनी में, बीच-बीच में कहीं अंधकार और कहीं प्रकाश में, वे दोनों आशा-निराशा के दोनों कदमों से डामर की सड़क पार करती जा रही थीं—दूर, बहुत दूर, किसी नये लक्ष्य को पाने के लिए, किसी 'नये मोड़' की तलाश में, जहाँ यह सब-कुछ न हो। समय के पंखों पर जहाँ विवेक नई ज़िन्दगी लिये उड़ रहा हो। वे जा रही थीं अपने चारों कदमों से रूढ़ियों को कुचलती, पुराना छोड़ती, नया नापती—हर 'नये मोड़' पर।'** यह आशावाद की दृष्टि से तो सराहनीय है, पर लेखक इस पलायनवाद की धारा में बहकर यह नहीं सोचते कि केवल चार कदम किस तरह परम्परागत रूढ़ियों को कुचल सकते हैं। चार कदम, जब वे चारों ही कोमल और सुकुमार हों? फिर भी उपन्यासकार ने समस्या का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान न करके अपनी रचना के स्तर को कलात्मक दृष्टि से ऊपर उठा दिया है और जीवन के समीप ला दिया है। यह इसकी विशेषता है। उपन्यास की भाषा-शैली सरस और सरल है। अंग्रेजी शब्दों की भरमार होते हुए भी भाषा का प्रयोग शिक्षित समाज के अनुकूल है। अन्त में प्रेमचन्द के शब्दों में मैं इस उपन्यास को मानव-जीवन का एक सफल चित्र समझता हूँ। मानव-चित्र पर भट्ट जी ने पूरा प्रकाश डाला है और उसके रहस्यों को खोलने का पर्याप्त प्रयत्न किया है।[1]

●

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रेमचन्द की परम्परा के दावेदार?

कला का वास्तविक उद्देश्य स्वानुभूत सत्य की अभिव्यंजना है और यह अभिव्यंजना कलाकार के व्यक्तित्व, उसकी धारणा-शक्ति तथा व्यापक दृष्टि से समादृत होकर उसकी कृति में अवतरित होती है। व्यक्तित्व—उसकी सामाजिक चेतना, मानसिक स्थितियों और जीवन के प्रति दृष्टिकोण से सम्बद्ध रहता है, इसीके अनुसार उसकी रुचि तथा अरुचि का भी पता चलता है, इसीमें उसकी धारणा-शक्ति और व्यापक दृष्टि का लक्ष्य और साधन भी निहित रहता है। कोई घोर व्यक्तिवादी जीवन-व्यवस्था अपनाकर भी समाज को व्यापक दृष्टि से देखने की क्षमता रख सकता है और कोई समाज का सेवक होकर भी विकृत कुण्ठाओं का ग्रास बन सकता है। इसीलिए कला के क्षेत्र में, साहित्य के क्षेत्र में अक्सर बहुत से नारे अथवा बहुत से 'वाद' अपना सफल प्रचारात्मक महत्त्व रखते हुए भी उन सभी विकृतियों के ग्रास हो जाते हैं।[2]

कृष्णचन्द्र प्रगतिवादी विचार-धारा के प्रमुख समर्थकों में से हैं और उनसे इस बात की आशा की जाती है कि वह फ्रायड की उन बहुत-सी सेक्स-सम्बन्धी धारणाओं के कट्टर विरोधी होंगे जो तथाकथित प्रगतिशील तथ्यों को तिरस्कृत करके जीवन का सर्वथा भिन्न अध्ययन प्रस्तुत करती हैं। शायद वह यह भी जानते होंगे कि 'डिकेडेण्ट' बूर्जुआ सोसाइटी के विरोध में कुछ-न-कुछ शक्तियाँ ऐसी होंगी जो सर्वदा जीवन के स्वस्थ तत्त्वों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होंगी। किन्तु जहाँ तक उनकी कृतियों का सम्बन्ध है खासकर—**'तूफान की कलियाँ'**, **'सराय के बाहर'** और **'पाँच रुपये की आज़ादी'**—इन तीनों में उनकी अन्तर्मुखी चेतना सेक्स की ऐसी विषम ग्रन्थियों में उलझी हुई है कि इनकी न तो वस्तु-सत्य-चित्रण के आधार पर उचित कहा जा सकता है, न ही उनकी व्याख्या को किसी वैज्ञानिक तर्क के आधार पर स्थान-विशेष की परम्परा कहकर

1. लेखक—उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, दिल्ली।
2. "Whatever feelings, art proposes to excite in us, they ought always to be restrained and governed by the feeling of beauty. If it produces only pity or terror, beyond a certain limit, above all physical pity or terror, it revolts, it ceases to charm, it nurses its proper effect, for an effect which is foreign to it and vulgar."

—Victor Cousin.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टाला जा सकता है। निश्चय ही इन कृतियों में एक विशेष प्रकार की विकृति है जो स्वस्थ साहित्यिक परम्परा के विरुद्ध है। वे जीवन-तत्त्व, जो एक उच्च कलाकृति[1] से अपेक्षित हैं, उनमें से एक भी उचित रूप में नहीं हैं और अगर हैं भी तो इतने कमजोर कि वासना की भूख में वे सभी पथ-भ्रष्ट, लक्ष्य-भ्रष्ट और अन्धे हैं।

इस प्रकार कृष्णचन्द्र की तीन पुस्तकें—'तूफान की कलियाँ' (उपन्यास), 'सराय के बाहर' (एकांकी रेडियो नाटक) और 'पाँच रुपये की आज़ादी' (कहानी-संग्रह)) उर्दू-लेखकों और कथाकारों के उस प्रयास की प्रतीक हैं जो मुन्शी प्रेमचन्द की सफल और सजीव परम्परा का विकृत और असफल अनुकरण-मात्र बनकर रह गया है। पिछले कुछ दिनों से उर्दू के लेखकों द्वारा यह परम्परा बड़ी तेज़ी से अपनाई जा रही है और काफी उर्दू का साहित्य नागरी लिपि में मौलिक हिन्दी-कृति के नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है। इस प्रयास में इस बात की चेष्टा की जा रही है कि उर्दू-कथा-साहित्य को नागरी लिपि और यहाँ-वहाँ हिन्दी के वातावरण में ढालकर प्रस्तुत किया जाय और उस सफल प्रवृत्ति को फिर से प्रचलित किया जाय, जो प्रेमचन्द जी की स्वानुभूति और आत्म-प्रेरणा के फलस्वरूप जागरूक हुई थी। कृष्णचन्द्र उर्दू के सफल कथाकारों में से माने जाते हैं और कुछ आलोचक तो उन्हें प्रेमचन्द जी के बराबर भी कहने लगे हैं, किन्तु अनुकरण और स्वानुभूति में मौलिक अन्तर होना स्वाभाविक है। कृष्णचन्द्र और प्रेमचन्द की शैली, शिल्प-विधान, कथावस्तु, दृष्टिकोण और जीवन-दर्शन में वही अन्तर है जो एक आत्म-प्रेरित और स्व-स्थापित कलाकार में होता है। यही कारण है कि उर्दू की बहुत-सी सफल कहानियाँ हिन्दी में अनूदित होने पर वातावरण की भिन्नता के कारण और भाषा तथा भाव-शिल्प में पृथक् होने के कारण उतनी सफल नहीं होतीं। क्योंकि :

- प्रेमचन्द भारतीय जीवन और संस्कार के मर्मज्ञ थे। उनका दृष्टिकोण मुख्यतः भारतीय और व्यापक मानववादी था। वह एक साधारण भारतीय जीवन और उसके विभिन्न अंगों को गहराई की दृष्टि से देखते थे, मानवीय संवेदनाओं के प्रति ईमानदार थे। कृष्णचन्द्र के दृष्टिकोण में उस व्यापक मानववाद का अभाव है। 'अन्नदाता' के बाद का युग उनकी कला की उस कठोर प्रतिक्रिया का परिचायक है जिसमें कृष्णचन्द्र कथा-साहित्य की अपेक्षा 'वाद' विशेष को महत्त्व देने लगे। फलस्वरूप उनकी तीखी शैली वास्तविक जिज्ञासु और स्वानुभूत शैली से पृथक् अतिवादी संकीर्णता की दलदल में फँसकर लचर और पोली हो गई। दृष्टिकोण में परिवर्तन आने से 'वस्तु-सत्य' की उपेक्षा और असन्तुलित भावनाओं का प्रतिपादन भी स्वाभाविक हो गया। आज का उनका साहित्य कुछ बेढंगे चित्रों, खुरदरे, अनगढ़, अव्यवस्थित और असंयमित पात्रों; भूख, रोटी, सेक्स, घृणा और वासना की रुग्ण ग्रन्थियों में डूबता-उतराता-सा प्रतीत होता है और उनकी कला एक प्रेत-काया की-सी आत्मा की खोज में भटकती-सी मालूम होती है।
- प्रेमचन्द की समस्याएँ वास्तविक जीवन की समस्याएँ थीं। न तो वह उस

1. "For a work which has no correspondence with the facts of life or which violates any of the universal or fundamental beliefs of mankind is useless, however graet its purely artistic qualites may be." —Worsfold.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन से हटकर केवल कल्पना-लोक में भटकते थे और न वह उस समस्या को खींचकर इतना बढ़ाते थे कि वह बीच ही से टूटकर खण्ड-खण्ड हो जाय। अपनी कृतियों में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों को इतनी सजगता और कर्मठता दी है कि वह लेखक का केवल सहारा-मात्र लेते हैं, उसकी उँगली पकड़कर या स्वयं उसके कन्धों पर निर्जीव शव के समान नहीं चलते। यही कारण है कि कट्टर आर्यसमाजी और गांधीवादी होते हुए भी प्रेमचन्द ने अपनी कला-कृतियों में अपना व्यक्ति उसी अंश तक आने दिया है जिस अंश तक वह अनिवार्य था। इसके विपरीत कृष्णचन्द्र, चाहे वह काश्मीर की कहानी का वर्णन अखरोट या चनार के वृक्षों तले करें, चाहे बम्बई की फ़िल्मी दुनिया में प्रवेश करके उसका रहस्योद्घाटन करें, उनकी व्यक्तिगत ग्रन्थियाँ प्रत्येक जगह स्पष्ट उभर आती हैं। कृष्णचन्द्र के पात्रों को देखकर ऐसा लगता है जैसे उनका स्वाभाविक रूप कुछ और है और जैसे वह स्वयं पाठकों से चीख-चीखकर यह कह रहे हों कि उनका वास्तविक रूप कृष्णचन्द्र ने कुत्सित कर दिया है। वैसे उस कुरूपता से यदि कुछ भी झलक मिल सके तो वही उनका वास्तविक रूप है।

● प्रेमचन्द जी जीवन-सत्य के पोषक थे, इसलिए वह वस्तु-सत्य का निर्वाह भी बड़े सरल स्वाभाविक ढंग से करते थे। कृष्णचन्द्र वस्तु-सत्य के दृग्-भ्रम में जीवन-सत्य की अनुभूति से शून्य हो जाते हैं। वह हर चेहरे पर अपना रोगन लगाना चाहते हैं, अपने नियन्त्रण में रखकर उसे अपाहिज और लँगड़ा बना देते हैं। उनके प्रत्येक पात्र में सस्ते और भद्दे 'सेक्स आबसेशन्स' हैं। यों तो प्रेमचन्द भी विद्रोही थे। कृष्णचन्द्र के विद्रोहियों की भाँति वह 'लाइसेन्स' नहीं लेते थे और न ही वह कायर या भीरु थे, इसीलिए प्रेमचन्द और कृष्णचन्द्र को एक साथ बैठाकर समान तुलना करने वाले यह भूल जाते हैं कि प्रेमचन्द की आँखों पर न तो कोई चश्मा था, न हृदय में कोई कुण्ठा ही थी। उनके अन्दर एक पैनी दृष्टि थी, जो जीवन के विशाल फलक से प्रेरणा ग्रहण करती थी और यह अन्तर एक उच्च कोटि के कलाकार और एक मध्यम श्रेणी के कलाकार में सदैव रहा है।

यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस समय स्वयं उर्दू के कथा-साहित्य में बड़े नये परिवर्तन आ चुके हैं और उर्दू कथा-साहित्य में कुछ ऐसे कथाकार भी हैं जो किसी भी भाषा के उच्च कथाकारों के समक्ष बैठाये जा सकते हैं। इस दृष्टिकोण से अहमद नदीम क़ासमी, सआदत हसन मण्टो, कन्हैयालाल कपूर, राजेन्द्रसिंह बेदी, इस्मत चुगताई तथा बलवन्तसिंह उल्लेखनीय हैं। ऐसा लगता है कि कृष्णचन्द्र जी पिछले दस सालों में केवल एक ही धुरी पर बैठकर एक ही दिशा में देखते रहे हैं। उनकी दृष्टि सर्वग्राही न होकर एकांगी और कुछ अंशों में Colour Blind सी हो गई है।

पुस्तकों के शिल्प और रचना-विधान पर विचार करने के पूर्व दो-तीन बातें विशेष रूप से कहना आवश्यक है—पहली तो यह कि जिस प्रकार की भाषा इन पुस्तकों में प्रयोग की गई है उसमें और मौलिक हिन्दी-शैली में बड़ा अन्तर है। किसी भी लेखक का यह दावा सदैव गलत सिद्ध होगा यदि वह इस बात की सजग चेष्टा (Conscious Effort) करेगा कि वह हिन्दी भाषा-भाषी साहित्यिकों को एक नई भाषा देने के लक्ष्य से कुछ कर रहा है। 'पाँच रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आज़ादी' नामक पुस्तक की भूमिका में प्रस्तावित वाक्य "यदि संस्कृत के विकृत रूप को हिन्दी मानकर चलेंगे तो वह चलाये तो चल लेगी पर स्वयम् चलकर बढ़ेगी नहीं" इस बात को प्रमाणित करता है कि कृष्णचन्द्र जी ने जान-बूझकर कुछ नया भाषा-प्रयोग करना चाहा है और निश्चय ही वह इस प्रयास में भी सफल नहीं हुए हैं।

हिन्दी-कथा-शैली के जो सशक्त प्रयोग 'शेखर : एक जीवनी', 'त्याग-पत्र', 'मुर्दों का टीला', 'संन्यासी', 'बहती गंगा', 'बया का घोंसला और साँप', गिरती दीवारें' आदि में हो चुके हैं, उनको पढ़ना तो दूर शायद उन्होंने उसके विषय में सुना भी नहीं है। इसके बावजूद अपनी २० साल पिछड़ी हुई शैली लेकर जब वे हिन्दी को शिक्षा देने चलते हैं तो निःसन्देह इस सादगी पर मर जाने की तबियत होती है। हिन्दी-उपन्यास अकृतज्ञ नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं से उसने बहुत-कुछ लिया है। शरत् और मुन्शी का उसने मुक्त हृदय से स्वागत किया है। आज भी मण्टो और बलवन्तसिंह, अमृता प्रीतम, ताराशंकर और बनफूल की गति-विधि को उत्सुकता से देखा जा रहा है। लेकिन कृष्णचन्द्र ?

एक तीसरी बात भी है; क्योंकि कृष्णचन्द्र प्रगतिशील लेखक हैं इसलिए प्रगतिशील भाव-धारा से भी उनकी कृतियों का मूल्यांकन करना आवश्यक है। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान लिया जाय कि रूप-विधान का कायल होना गुनाह है तो निश्चय ही विषय-वस्तु का विश्लेषण करके स्वस्थ, प्रगतिशील तत्त्वों की परख लेखक द्वारा अपेक्षित है। ऐसी स्थिति में एक बहुत ही मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है और वह यह कि क्या 'रोटी-रोटी' चिल्लाना ही प्रगतिशीलता है, या रोटी के लिए संघर्षयुक्त प्रयत्न करना ? जहाँ तक तथाकथित प्रगतिशील भाव-धारा के माध्यम से देखने का प्रश्न है निश्चय ही ये पुस्तकें उस परम्परा को भी आगे नहीं बढ़ातीं, न तो इनमें वर्ग-संघर्ष का वैज्ञानिक विश्लेषण है और न ही सामन्तवादी, बूर्जुआ, फासिस्ट शक्तियों के विरोध में उठता हुआ एक भी सशक्त स्वर। न तो इसमें किसी ऐसे समाज की चीर-फाड़ ही है जो सड़-गल रहा है और न ही उसमें एक नये निर्माण की कल्पना।

जहाँ तक उपन्यास का सम्बन्ध है उसका घटना-काल "नाईलान और प्लास्टिक का जमाना है", फिर भी उस उपन्यास को पढ़कर ऐसा नहीं लगता कि कोई बीसवीं शताब्दी के युग की कहानी पढ़ रहा है। यद्यपि कहानी काश्मीर की घाटियों में अंकुरित, विकसित और समाप्त होती है फिर भी काश्मीर के प्राकृतिक दृश्यों और वातावरण को छोड़कर उसमें कितना अंश वहाँ के वास्तविक जीवन का है तथा वहाँ की जनता का है यह विवादास्पद हो सकता है। सारे उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सारा काश्मीर एक 'कामरू-कमच्छा' का देश है, जहाँ केवल वासना की भूख, देह की भूख और 'पेरिडमोनियम' के सिवा और कुछ नहीं है। न तो काश्मीरियों में कोई आस्था है न विश्वास, न तो कोई सामाजिक व्यवस्था है न शासन, न वहाँ मनुष्यत्व है न ईमान। जैसे सारे-का-सारा काश्मीर अनास्थावान, निराश, दुर्बल और बिना कमर के मनुष्यों का देश है जहाँ कोई भी व्यक्ति कभी भी अपने आदर्शों से फिसल सकता है। इस प्रसंग में मैं केवल 'जहाँ फरिश्ते अण्डे बेचते हैं' शीर्षक एक छोटी-सी मराठी कहानी का संकेत करना चाहता हूँ, जो 'नेहरू अभिनन्दन-ग्रन्थ' में छपी है। इस छोटी-सी कथा में एक छोटे-से काश्मीरी बच्चे के अदम्य साहस का चित्रण है, जो भारतीय फौजों को अण्डे बेचता था। कथा अत्यन्त मर्मस्पर्शी है और काश्मीर ने जिस अदम्य साहस से विदेशी आक्रान्ताओं के विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़ाई की थी इसका एक अद्भुत उदाहरण है। मैं सोचता हूँ यदि कृष्णचन्द्र उस कथा को फिर से लिखें तो वे अवश्यमेव उस बच्चे की कोई बहन ढूँढ़ निकालेंगे और फिर उसके गोरे जिस्म को उनकी क़लम उघाड़ना शुरू कर देगी। इस तरह प्रेमचन्द्र की परम्परा का उद्धार हो जायगा।

संक्षेप में, इस उपन्यास में यही है। शहर से गाँव जाते हुए एक नवयुवक एक पहाड़ी नवयुवती से मिलता है लेकिन बिना कुछ जाने-बूझे दोनों की 'मूक संवेदनाएँ' टकराती हैं और यंत्रवत् दोनों ही अप्रस्तावित रूप से इस स्थिति में पाये जाते हैं :

"···इस चाँदी के गुबार के हल्के-हल्के प्रकाश में अब्दुल धीरे से उठा और उसने झोंपड़ी के सामने लेटी हुई बानो की धड़कती हुई छाती पर अपने हाथ रख दिए···बानो ने कुछ नहीं कहा—उसने उस समय भी कुछ नहीं कहा जब अब्दुल ने उसे अपनी मजबूत बाँहों में उठाकर अपनी काँपती हुई छाती से लगा लिया। बानो उस समय भी चुप रही जब अब्दुल ने उसे यों उठाकर लकड़ी के बुरादे के ढेर पर पटक दिया, बानो उस समय भी चुप रही जब वह भी उसके निकट ही बुरादे पर लेट गया। अब्दुल ने हौले-हौले अपनी उँगलियों से बानो के चेहरे को अपनी ओर फेर लिया, अब्दुल ने अपने होंठ बानो के होठों पर रख दिए····"

यही अब्दुल एक तरह से उपन्यास का नायक है जो एक दूसरी स्थिति में गाँव के बनिये की बीवी को अपने निकट पाकर :

"···उठकर बैठ गया। बैठकर खड़ा हो गया। खड़ा होकर उस मूरत की तरफ बढ़ने लगा। और हल्के उजाले में उसे गोमती के रहस्यपूर्ण होंठ और जादू-भरी आँखों की वहशी चमक एक अजीब-सा पैग़ाम देती हुई मालूम हुई। अब्दुल का दिल काँपने लगा—और नूराँ (बानो) बहुत दूर थी और गोमती के शरीर की पुकार बहुत निकट थी और स्वयं उसका दिल बहुत जोर-जोर से धक्-धक् कर रहा था—उसे इस जवानी में भी भय आने लगा—वह सरकते हुए सूखी घास पर बैठ गया एक दूसरे के पास-पास उसने दोनों हाथों में अपना मुँह छिपा लिया—अब्दुल ने उसे अपनी छाती से लगा लिया—'मुझे मत छुओ' गोमती ने उसे धक्का देकर कहा। अब्दुल हैरान रह गया।"

एक तीसरी स्थिति में वही अब्दुल, जो विद्रोही है, जनता का नेता बनता है, किसानों का नेता बनता है, अपनी बहन और प्रेमिका का बदला लेना चाहता है, एक अपरिचित लड़की के केवल इतना पूछने पर कि—"पहले तुम बताओ, तुमने हमारे फूलों को क्यों चूमा ?" उत्तर देता है कि—"मैं तुम्हें भी चूमने को तैयार हूँ"—और इन सबकी पराकाष्ठा तो तब पहुँचती है जब वह अपना सारा जनवादी नारा छोड़कर रजाकार-पार्टी में शामिल हो जाता है और हिन्दुओं के बारे में कहता है : "तो क्या तुम हिन्दुओं को मुसलमान देखकर खुश नहीं होते······अगर-मगर कुछ नहीं, मैं साफ़-साफ़ पूछना चाहता हूँ·······क्या तुम इस हालत में शकुन्तला की अगवानी करते······"

उपन्यास में केवल अब्दुल ही इन भावनाओं से पीड़ित नहीं है, उसके सभी पात्र चाहे वे ऊँचा-से-ऊँचा दर्शन ही क्यों न सोचते हों सब अब्दुल की भाँति वासना-प्रिय, बलात्कार तथा अपहरण के पक्ष में और लूट-खसोट के समर्थन में चित्रित किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि सभी पात्रों का अध्ययन निम्न लिखित रूप से किया जाय तो पता चलेगा कि उपन्यास की एकरूपता केवल विकृत सेक्स के प्रदर्शन में ही है। जैसे :

इसी उपन्यास का एक दूसरा पात्र नौनिहालसिंह कहता है : "**शादी में क्या धरा है ? जब तक औरत से ज़बरदस्ती न की जाय ज़िन्दगी में धरा क्या है**···"[१]

राजकुमार संग्रामसिंह अंग्रेज रेजिडेण्ट की लड़की मौली के बारे में सोचता है : "**इस मख़मली आरामकुरसी के सीने में अगर कोई कमी थी तो बस मौली की नाज़ुक बाँहों की। उसकी छाती का वह भाग, जो नंगा था···वहाँ कितनी उज्ज्वल सफ़ेदी थी···जैसे उस सफ़ेदी के नीचे से प्रभात झाँक रहा हो।**"[२]

फ़ज़लू ने, जो साम्प्रदायिक विद्रोह में अञ्जुमने-मुसलमीन का नेता है, एक हिन्दू लड़की भाँगा को पकड़कर···"**खींच-खींचकर अपनी गोद में लिया। और उसने पहले तो उसकी भीगी-भीगी पलकें चूम लीं, फिर उसने अपने होंठ उसके होंठों से मिला दिए। भाँगा के होंठ शहद की तरह उसके होंठों में घुल गए और यह मधु चुम्बन उसके होंठों में ऐसा रचता गया जैसे समुद्र की लहर प्यासे रेत के अन्दर धँसती चली जाती है।**"[३]

मीराँ शाह, जो काश्मीर के सारे अफ़सरों की मेहमानदारी अपनी पत्नी गोमती के शरीर के माध्यम से करता है, स्वयं एक नौजवान लड़की 'गुल' के बारे में सोचते-सोचते : "**गुल इन्कार करती गई। ज्यों-ज्यों कोठरी नज़दीक आती गई लाला (मीराँ शाह) का आग्रह बढ़ता गया और गुल का प्रतिरोध बढ़ता गया···अब लाला बिलकुल अपने-आपे में न रहा था। अब उसका दम फूल रहा था और चेहरा क्रोध से काला पड़ रहा था**····"[४]

और उसी उपन्यास के एक अन्य पात्र डोगरा-राज्य के बड़े अफ़सर कहानसिंह का यह हाल है कि :

"**और यह तो सचमुच बड़ी जवान है**"—**कहानसिंह ने गुल को देखकर कहा।**

"**मुझे जाने दो।**"—**गुल चिल्लाई।**

"**भादों तो बहुत दूर है और रात आज जवान है और मेरे हाथ बहुत मज़बूत हैं।**"[५]

उपन्यास के दो पात्र राजा करमअली और जहमतअली दो विस्थापित हिन्दुओं की लड़कियों के साथ व्यभिचार करने के लिए कहते हैं :

"**नहीं, बड़ी तुम ले लो, छोटी मुझे दे दो, मंजूर**···" "**अरे बड़ी लड़की उससे कहीं ज्यादा खूबसूरत है**"····"**खूबसूरत है तो उसे तुम ले लो**"····"**मैं एक तरकीब बताता हूँ**"····"**क्या**"····"**लाटरी डाल लो।**"[६]

और उपन्यास का कथानक उतना ही विशृङ्खल, टूटा हुआ, अव्यवस्थित और असन्तुलित कूड़ा-कर्कट (Trash) है, जितनी कि सेक्स-प्रधान विकृतियाँ ! जिस प्रकार के रोमांस, प्रणय अथवा प्रेम की स्थापना इसमें की गई है शायद उतना कुत्सित और वीभत्स रूप हिन्दी के किसी भी और उपन्यास में नहीं मिलेगा। सारे उपन्यास में यह भी पता नहीं चलता कि नायक कौन है, नायिका कौन है, कथा-सूत्र का केन्द्र-विन्दु कहाँ है, लेखक का लक्ष्य क्या है। अब्दुल्ला, बानो, फ़ज़ल, रज्जी, गंगा, सरस्वती, हशमत, शौकत, संग्रामसिंह, मौली, मीराँ शाह और गोमती

१. पृष्ठ २४७, २. पृष्ठ २४८, ३. पृष्ठ ३०५, ४. पृष्ठ १२१, ५. पृष्ठ १२२, ६. पृष्ठ ४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रचना किसलिए की गई है ? लगता है लेखक को कुछ गालियाँ डोगरा-सरकार को देनी थीं, कुछ काश्मीर के हिन्दुओं को, कुछ मुसलमानों को और कुछ अंग्रेजों को। इन सबके अतिरिक्त उसकी मन्शा कुछ घुटती हुई सेक्स-भावनाओं को लिखना था, तन की गर्म आँच में वासना की उद्दीप्त भावनाओं को जगाकर एक सनसनी पैदा करना था और इन सबको एक डोरी में बाँधकर उपन्यास का नाम देना था और इन सबको मिलाकर एक उपन्यास का नाम दे भी दिया गया है। वैसे यह उपन्यास विशुद्ध साहित्यिक उपन्यास न होकर एक अच्छा जासूसी उपन्यास हो सकता था, किन्तु साहित्यिक उपन्यास बनाने के मोह में इसका वह गुण समाप्त हो गया है।

यद्यपि कृष्णचन्द्र की दूसरी पुस्तक 'पाँच रुपये की आज़ादी' में भी वही विकृत सेक्स-प्रधान तत्त्व मौजूद हैं, लेकिन फिर भी उसमें कहानी-कला के कुछ तत्त्वों को उपन्यास की अपेक्षा अधिक सफलता से निभाया गया है। इस दृष्टिकोण से संग्रह की प्रथम कहानी 'गीत और पत्थर' उल्लेखनीय है। इसमें सेक्स-कुण्ठा की प्रतिक्रिया-स्वरूप जैदी-जैसे पात्र की रचना और उसका निर्वाह कुशलता से किया गया है।

संग्रह की दूसरी कहानी 'सौ रुपये' भी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और कहानियों की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हुई है। श्रमजीवी मोहम्मद शफ़ी अपने वर्ग के उन सैकड़ों-हज़ारों व्यक्तियों की भाँति यथार्थ और जीवन के स्वप्नों से टकराता हुआ संसार में सभी वस्तुओं के होते हुए भी सबसे वंचित रह जाता है। उसके पास पैसा भी है, इच्छा भी है लेकिन जीवन का यथार्थ सत्य, अनिश्चित भविष्य और भूखे परिवार के कारण सारे बाजार का मोल-भाव करके लौट आता है। कहानी का कथानक, घटनाओं का क्रम और समस्याओं को प्रस्तुत करने का ढंग भी अच्छा है। इस प्रकार वह अनुभव करता है कि सारी दुनिया बहुत बूढ़ी हो चली है और उसको बच्चों-जैसी मुस्कराती हुई दुनिया चाहिए जिसमें स्वप्नों के टूटने की आशंका न हो।

'पानी का पेड़' शीर्षक कहानी का कथानक सुन्दर होते हुए भी उसमें बड़े विचित्र ढंग से कुछ अतिवादी राजनीतिक विचारों की ओर संकेत किया गया है, जिसके कारण कहानी का वास्तविक महत्त्व कम हो जाता है। कहानी का प्रारम्भ बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है, लेकिन उसका अन्त अनावश्यक अतिवादी राजनीति में फँसकर उलझ गया है। 'पानी का पेड़' प्रेम और मानवीय संवेदनाओं का प्रतीक बनते-बनते एक सरल 'लाल सपना' बनकर रह गया है, जिसकी चर्चा करने पर 'पुलिस का भय' आतंकित कर देता है। वैसे कहानी कई दृष्टियों से अच्छी है। कहानी-कला की दृष्टि से भी कुछ कहानियों में शिल्पगत मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है और कुछ में तो कृष्णचन्द्र की प्रौढ़ शैली का परिचय भी मिलता है।

अन्त में फिर भी यही कहना पड़ता है कि लेखक की जड़वादी सेक्स-भावनाएँ ही हैं, जो कुछ कहानियों को छोड़कर बाकी सबको एक स्थिति पर लाकर खड़ा कर देती हैं। 'अंजीर' और 'खलल है दिमाग़ का' कहानियाँ इतनी अस्वाभाविक और असंगत परिस्थितियों पर आधारित हैं कि सिवाय एक असफल फार्स के उनका महत्त्व कुछ नहीं है। 'लाला घसीटाराम' शीर्षक कहानी और 'पाँच रुपये की आज़ादी' शीर्षक कहानी एक अच्छे कथानक की टूटी-फूटी, अव्यवस्थित प्रतिलिपि हैं। संग्रह में कुछ प्रचारात्मक कहानियाँ भी हैं, जैसे 'अमरीका से आने वाला हिन्दुस्तानी'। 'गोपाल कृष्ण गोखले' शीर्षक कहानी विकृत शैली और निम्न स्तर की सेक्स-भावना की परिचायक है। फिर भी यह कहानी-संग्रह उनके उपन्यास से कहीं अधिक सफल है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सराय के बाहर' रेडियो-नाटकों का संग्रह है, जिसमें एक कथाकार नाटककार की वह सभी असफलताएँ पर्याप्त मात्रा में हैं जो समस्त संग्रह की कथावस्तु, शिल्प और शैली के अतिरिक्त कथोपकथन, हास्य-व्यंग तथा स्वाभाविकता की हत्या करके उनकी साहित्यिक विशेषता को नष्ट कर देती हैं। संग्रह को पढ़ने से वह सभी विकृतियाँ और अधिक उभरकर सामने आती हैं, जो उपन्यास और कहानी-संग्रह में दबी हुई थीं। 'सराय के बाहर' नाटक में न जाने कैसे-कैसे पात्रों को चुन-चुनकर रखा गया है कि सारा नाटक एक विभिन्न सेक्स-ग्रन्थि बनकर रह जाता है। 'काहिरा की शाम' में भी वही औरतों के शरीर से खेलने की भूख, वही मार-पीट झगड़ा-टंटा—जैसे लेखक को जीवन में और कुछ दिखलाई ही नहीं पड़ता। जीवन के अनेक पक्ष हैं, अनेक स्थितियाँ हैं, अनेक भावनाएँ हैं और इनकी अनेकता ही में कला का सौन्दर्य है। रोमांस, सेक्स और अन्य प्रणय-सम्बन्धी भावनाओं पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है लेकिन जिस कथा-वस्तु और कथानक को लेकर कृष्णचन्द्र चलते हैं उससे तो यह पता चलता है कि संसार में कहीं भी सत्य रक्षित नहीं है, किसी भी व्यक्ति अथवा पात्र में सत्य की रक्षा के लिए विरोधी तत्वों से लड़ने की क्षमता नहीं। सारी दुनिया केवल दो बातें सोचती है—पहली है उसकी सेक्स-भूख और दूसरी है पैसे की भूख। लेकिन इन दोनों भूखों के अतिरिक्त भी मनुष्य सोचता है, विचारता है, कला का सृजन करता है, चिन्तन के सूत्र देता है, मानवता की भावना को रक्षित रखता है। आँख में बँधी हुई पट्टी वाले बैल की भाँति मनुष्य केवल एक दायरे में ही नहीं घूम रहा है—वह लड़ाई भी लड़ता है, सन्धि भी करता है, अपने से भी लड़ता है और परिस्थितियों से समझौता भी करता है; लेकिन वह उस तरह की निर्जीव कठपुतली की भाँति नहीं है जैसा कि कृष्णचन्द्र समझते हैं। समस्त नाटकों को पढ़ने के बाद केवल यही पता लगता है कि लेखक की अर्द्ध-विक्षिप्त भावना एक ऐसे वृत्त में बँधी हुई है कि उसमें न तो कल्पना है, न आशा; उसका न तो कोई भविष्य के प्रति आग्रह है, न किसी भी मनुष्य के प्रति विश्वास है—वह किसी भी व्यक्ति को अपने ढंग से अनाचारी (Hardened Criminal) के रूप में चित्रित कर सकता है।

नाटकीय शिल्प के दृष्टिकोण से प्रस्तुत नाटक न तो रंगमंच के योग्य हैं और न ही इनमें कोई रेडियो-टेकनीक ही असाधारण रूप में है; न तो कथावस्तु में प्रौढ़ता है न शिल्पगत निपुणता, और न परम्परागत सांस्कृतिक चेतना। पार्वती और शंकर उर्दू की गज़ल भी गा सकते हैं और ओछे और छिछले ढंग से प्रेम-प्रलाप भी कर सकते हैं। कहीं-कहीं स्वगत-भाषण सोलोलोकी है तो कहानी-की-कहानी पृष्ठों में वर्णित है (जैसे 'बेकारी नाटक') जहाँ कहीं नाटकीय औत्सुक्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की है (जैसे 'हजामत') तो उसमें भी लचर और दुर्बल शिल्प-ज्ञान का परिचय मिलता है। देश-काल तथा वातावरण के परे कृष्णचन्द्र की सृजन-शक्ति ने अपने चारों ओर मकड़ी का जाला बुन लिया है जिसमें प्रत्येक पात्र उलझकर एक ही भाँति मरता है, एक ही भाँति प्रस्तुत होता है और लेखक भी उसी सीमा में बँधकर अपनी स्वतंत्रता और व्यापक दृष्टि को खो चुका है। यह और कुछ भी हो, किन्तु प्रेमचन्द्र की परम्परा तो नहीं ही है।[1]

१. लेखक—कृष्णचन्द्र, प्रकाशक—राजपाल एण्ड संस, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रादेशिक साहित्य

हेमलता जनस्वामी

तैलुगु-प्रदेश की साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समस्याएँ

वर्षों के अथक परिश्रम और प्रयत्नों के बाद तथा पिछले वर्ष पोट्टि श्रीरामुलुजी के अनशन के बाद अब यह निश्चय हो गया है कि आन्ध्र देश एक स्वतन्त्र राज्य बनेगा। इस राज्य की सीमा में उत्तर-दक्षिण वैज़ाग़, पूर्व-पश्चिम गोदावरी, कृष्णा, नेल्लूरु, गुण्टूर, बेल्लारी (सिर्फ तीन ज़िले), अनन्तपुरम्, कडप और करनूलु जिले समाविष्ट होंगे। यहाँ के क़रीब १ करोड़ ८० लाख निवासियों की बोली तैलुगु ही है। हैदराबाद और मद्रास में भी तैलुगु-भाषी हैं, पर वे इस नये राज्य की सीमा में नहीं हैं। आज इस नये प्रदेश की जो भी समस्याएँ और प्रवृत्तियाँ हैं, वही कल के नवनिर्माण की पृष्ठभूमि और आधार बनेंगी।

तीन ओर से यह प्रदेश उड़िया, हिन्दी, मराठी, कन्नड और तमिल-भाषी क्षेत्रों से घिरा है। फलतः सीमा के प्रदेशों में इन भाषाओं की झलक हमें मिलती है। जिस प्रकार दिल्ली, आगरा, झाँसी, जबलपुर, नागपुर, बिलासपुर, पटना, छपरा आदि स्थानों की हिन्दी में हम अन्तर पाते हैं, उसी प्रकार विशाखपट्टनम्, करनूलु, रायलसीमा, तिरुपति, नेल्लूरु आदि क्षेत्रों की तैलुगु में हमें अन्तर मिलता है। हिन्दी में यह अन्तर कुछ अधिक मात्रा में है।

तैलुगु की प्राचीन और आधुनिक भाषा-शैली में अन्तर पड़ गया है। मुसलमानी, मुगल और अँग्रेज़ी सल्तनत के प्रभाव से भाषा में कई उर्दू, अरबी, फ़ारसी और अँग्रेज़ी के शब्द आ गए हैं। अँग्रेज़ी के शब्दों को तो प्रायः उसी रूप में ले लिया गया है। उर्दू, फ़ारसी, अरबी के शब्दों को हम निज़ाम हैदराबाद के तैलुगु-भाषा-भाषियों में काफी पाते हैं। ऐसे ही कुछ शब्द भद्राद्रि रामदास की रचनाओं में हमें मिलते हैं। फिर भी तैलुगु भाषा की अपनी एक स्वतन्त्र विशेषता है। उसका प्रत्येक शब्द स्वरान्त है। संस्कृत समासयुक्त पदावली से प्रभावित होने के कारण तैलुगु में पद-लालित्य और स्वरान्त होने तथा न, ल, म, मु, वु, डु-सरीखे शब्दों के अधिक प्रयुक्त होने से भाषा में संगीतात्मकता आ गई है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय भाषा-क्षेत्रों में तैलुगु को Italian of the East कहा जाता है।

तैलुगु-साहित्य का प्रारम्भ और विकास देश की ऐतिहासिक घटनाओं से अत्यधिक सम्बद्ध रहा है। अब तक के प्राप्त सूत्रों से यही ज्ञात होता है कि ई० स० १०१८ में महाराज विक्रमादित्य के पुत्र ने गद्दी ग्रहण की। इन्हींके समय से वाङ्मय का विकास हुआ। तैलुगु के प्रथम कवि नन्नय्या थे। इसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद समुद्र की लहरों के घात-प्रतिघात के समान राज्यों का उत्थान-पतन हुआ और इन्हीं-के थपेड़े झेलती साहित्य की नौका आगे बढ़ी। १५०६ (ई० स०) में विजयनगर की गद्दी पर कृष्णदेव राय आये। इनके राज्य-काल में साहित्य, वाङ्मय, कला, विज्ञान, धर्म—सभी की अभिवृद्धि हुई। १६वीं शताब्दी हिन्दी या तैलुगु की ही नहीं वरन् समस्त विश्व-मानवता की चरम उत्कर्ष की वेला तो थी ही। इन दिनों तैलुगु में धार्मिक साहित्य, संकीर्तन-साहित्य, नीति और लक्षण-ग्रन्थ, प्रशस्ति-ग्रन्थ, शतक-काव्य तथा यक्षमानों का सृजन हुआ।

ई० स० १८०१ से तैलुगु का नवयुग प्रारम्भ होता है। पद्य और गद्य दोनों में ही रचनाएँ होने लगीं। नाटक, एकांकी, कहानी, उपन्यास, प्रहसन, व्यंग्य-साहित्य, बाल-साहित्य, चलचित्र-साहित्य, रेडियो-रूपक और पत्रिकाओं के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ हुआ। बालकों के लिए 'बाल'-सरीखी पत्रिकाओं, 'आन्ध्र-पत्रिका' आदि में आधे से अधिक स्थान में बालोपयोगी साहित्य, गत वर्ष के 'आन्ध्र-पत्रिका' के दशहरे के विशेषांक को तथा अन्य प्रकाशित पत्रिकाओं को देखने पर पता चलता है कि बाल-साहित्य का तैलुगु में विकास हुआ है।

प्रथम महायुद्ध के बाद तैलुग-साहित्य में काफी परिवर्तन हमें दृष्टिगत होता है। छायावाद और रहस्यवाद तथा अब प्रगतिवाद ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया है। छायावाद और रहस्यवाद के साहित्य में आने पर कई कवि इस ओर स्वागतार्थ बढ़े। गीति-काव्यों का निर्माण हुआ। सबसे प्रमुख गीतिकार इस समय कृष्णशास्त्री हैं। प्रगतिवादी भावना के साथ ही हिन्दी-कविता की तरह तैलुगु-कविता में भाव, भाषा और छन्दों में अन्तर आ गया। आजकल तैलुगु की साहित्यिक भाषा को व्यावहारिक रूप देने का काफी प्रयत्न हो रहा है। इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ श्री कंदुकूरि वीरेशलिंगम पंतुलु जी से हुआ। गुरजाड अप्पाराव और रायप्रोलु सुब्बाराव जी ने कविता के लिए व्यावहारिक भाषा को अधिक उपयुक्त सिद्ध किया। श्रीरंगम श्रीनिवासराव (श्री० श्री०) जी ने कविता में भाषा, भाव, अलंकार आदि के बन्धनों को तोड़ दिया। अब तो रचनाएँ मुक्त छन्द में भी होती हैं। श्री० श्री० ने विश्व-मानवता के दुःख को अपनी पीड़ा माना, पर कृष्ण शास्त्री के गीतों में हम कवि की अपनी पीड़ा को विश्व-पीड़ा में विस्तृत पाते हैं। प्रगतिशील लेखकों में आरुद्र, अन्नसेट्टि सुब्बाराव, रमणारेड्डि और नारायण बाबू के नाम उल्लेखनीय हैं। बरमपुरम्, काकिनाडा, विशाखपट्टनम् और मद्रास इनके प्रमुख कार्य-क्षेत्र हैं। काकिनाडा में 'नव्य साहित्य-परिषद्' की स्थापना की गई और 'उदयिनि' मासिक पत्रिका का सम्पादन करके नये साहित्य का प्रसार यह कर रहे हैं।

कहानी, नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में भी हिन्दी के समान चरित्र-प्रधान और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-प्रधान कथानकों की ही रचना हो रही है। पर तैलुगु के कथा-साहित्य में हम perverted psychology वाले पात्र, डाइवोर्स और तत्पश्चात् जीवन की विषाक्त अनुभूतियों का चित्रण, सेक्स आदि का वर्णन हिन्दी के नवीन कथानकों की तुलना में उतना नहीं पाते। वहाँ के कथानकों में आज के जीवन के ज्वलन्त उदाहरण—जैसे दुर्भिक्ष, बेकारी, आन्ध्र-तमिल भाषावार विभिन्नताएँ, विवाह-पक्ष और दहेज की विभीषिका आदि वर्णित हैं। यह अन्तर इसलिए कि वहाँ के लोगों के जीवन के प्रति दृष्टिकोण में ही फर्क है। अभी भी वहाँ परम्परागत भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन और सीधे-सादे जीविका के ढंग पर जीवन की विचार-धारा बह रही है। आधुनिक जीवन की उच्छृङ्खलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी हम देख नहीं पाते। दो वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय कहानी-प्रतियोगिता में पद्मराजु की कहानी 'गालि वान' (तूफ़ान) को तृतीय पुरस्कार मिला है। मुनिमाणिक्यम् नरसिंहराव का स्थान कथा-साहित्य में उल्लेखनीय है।

इधर प्रकाशन और पत्रकारिता का कार्य भी जोरों पर है। वाविल्ला प्रेस ने तैलुगु के प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों का सम्पादन करके सस्ते दामों में अच्छे संस्करण निकालकर साहित्य को जनता के समीप पहुँचाने का प्रयत्न किया है। स्व० काशीनाथ नागेश्वरराव ने पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति 'आन्ध्र-पत्रिका' का सम्पादन करके साहित्य के विभिन्न अंगों को परिमार्जित कर पत्रकारिता को उच्च स्थान दिलवाया। साहित्य को इनकी बड़ी देन है।

आजकल अन्ध्र-विश्वविद्यालय में तो शोध-कार्य हो ही रहा है, पर तिरुपति तिरुमलइ देवस्थानम् और ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, तिरुपति में वेंकटेश्वर साहित्य का प्रकाशन तथा प्राचीन तालपत्र और ताँबे के पत्रों पर लिखी गई हस्तलिपियों का सम्पादन करके उनका प्रकाशन हो रहा है। आन्ध्र-विश्वविद्यालय ने हस्तलिपि-संकलन और उनकी प्रतिलिपियों को मँगवाने का कार्य प्रारम्भ किया है। यहाँ सरस्वती महल हस्तलिपि लाइब्रेरी तंजौर की काफी हस्तलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं तथा कई मूल प्रतिलिपियाँ भी हैं।

साहित्य और भाषा के इस पहलू के साथ-ही-साथ तैलुगु का संगीत-पक्ष भी उन्नति करता रहा। समस्त दक्षिण का संगीत १७वीं शताब्दी के भक्तशिरोमणि त्यागराजु की रचनाओं में एक प्रकार से निहित है, जो प्रत्येक घर में तुलसी, सूर और मीरा के गीतों के समान जन-मन का कण्ठ-हार बन गया है। इनकी स्वर-लिपि रवीन्द्र-संगीत के समान निश्चित है। अब विशाखपट्टनम् के श्री विस्सा अप्पाराव जी के सम्पादन में एक ही पुस्तक में इन गीतों की स्वर-लिपि तथा तैलुगु, तमिल और कन्नड़ लिपि में गीतों के बीच देकर त्यागराजु की समस्त रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं। (तमिल संगीत में दीक्षितार और श्याम शास्त्री की रचनाएँ भी प्रचलित हैं।) अप्पाराव जी ने क्षेत्रय के गीतों का भी संकलन किया है। इसमें सिर्फ राग-संकेत हैं। ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में १५वीं शताब्दी के गायक भक्त-शिरोमणि अन्नमाचार्य की हस्तलिखित रचनाओं का सम्पादन करके स्वरबद्ध करने का कार्य श्री राल्लपल्लि अनन्तकृष्ण शर्मा कर रहे हैं। वैसे संगीत का प्रसार, गायन, वीणा और वायलिन-वादन प्रायः घर-घर में होता है।

स्थापत्य और चित्र-कला में यहाँ के जीवन का अपना स्वतन्त्र प्रतिरूप है। अमरावती में प्राप्त शिला-लेखों और स्थापत्य की अन्य वस्तुओं से बौद्ध प्रभाव झलकता है। कृष्णदेव राय के जमाने में इस ओर भी श्री-वृद्धि हुई। इसके प्रमाण हमें तिरुपति के वेंकटेश्वर देवालय, सिंहाचलम् के सिंहाद्रि नरसिंह राय के मन्दिर तथा कई मन्दिरों के गोपुरम्, प्राकार और मंटपों में मिलते हैं। गोपुरम्, मंटप, प्राकार यहाँ की स्थापत्य-कला के अनुपम प्रतीक हैं। इस दृष्टि से दर्शनीय स्थल हैं अमरावती का बौद्ध-स्तूप, कोंडवीडू का क़िला, धान्यकटक और विजयवाडा में कनकदुर्गा का मंदिर। वैसे विशाखपट्टनम् का हारबर अपने नैसर्गिक सौंदर्य के लिए अनुपम है।

तैलुगु-भाषी क्षेत्रों में बौद्ध, जैन, अद्वैतवाद, शैव, वीर शैव और वैष्णव धर्मों ने अपनी-अपनी बारी में अपना-अपना प्रभाव दिखाया, पर आज धार्मिक कट्टरता नहीं रही। शिक्षा ने इस ओर काफी हाथ बटाया। पर आज भी उत्सवों पर देवालयों के उपदेवताओं को खूब अलंकृत करके बाजे-गाजे के साथ उनकी नगर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिक्रमा कराई जाती है।

इतने धर्मों का प्रभाव पड़ने पर भी यहाँ का सामाजिक जीवन बहुत अधिक प्रभावित न हो सका और न उच्छृङ्खलता ही आ सकी। आज की अधिक-से-अधिक शिक्षित और संस्कृत आन्ध्र-परिवार के आँगन में मुग्गु (अल्पना-बंगाला से भिन्न), हल्दी और कुङ्कुम से सजाई चौखट आम्र तोरण (विशेष अवसरों पर) अवश्य ही हम पायँगे। लहंगा-ओढ़नी पहने किशोरियाँ, जन-गीत गातीं श्रमिक-वधुएँ, लम्बी चोटी डाले बालों में फूलों की माला खोंसे गृह-कार्य में लगी आन्ध्र नारियाँ यहाँ का गौरव हैं। त्रावनकोर, कुर्ग और मैसूर की स्त्रियों के अनुपात में स्त्री-शिक्षा यहाँ काफी कम है। पर अब इस ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। पिछले २०-२५ वर्षों में श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है।

ऐसी पृष्ठभूमि लेकर तैलुगु-प्रदेश आज कुछ अवधि के लिए करनूलु में राजधानी बनाने, रायल सीमा की समस्या को सुलझाने और भाषा-भिवृद्धि के लिए अधिकारी ढंग से साहित्य के इतिहास लिखवाने आदि अनेकों प्रश्नों में उलझा है। उसके सामने राष्ट्रभाषा का भी एक बड़ा प्रश्न है। लोगों में उत्साह है, राष्ट्रभाषा के प्रति गौरव है; आवश्यकता है योग्य शिक्षकों और प्रचारकों की। यह इसलिए कि उनकी नई भाषा के अंकुर लगेंगे। ठीक-ठीक उच्चारण और सही दृष्टिकोण बन जाने से आगे कठिनाई न होगी। आज तैलुगु-साहित्य में भारतीय और पश्चिमी साहित्य-ग्रन्थों का अनुवाद हो रहा है। पाश्चात्य आलोचना पद्धति के अनुरूप आलोचनाएँ लिखी जा रही हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रमुख हैं—भारती, शारदा, वीणा, कुछ समय पूर्व तक प्रकाशित 'कृष्णपत्रिका' और 'आन्ध्र पत्रिका' के विशेषांक और वार्षिक अंक। यहाँ भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए लोगों में उत्साह है।

तैलुगु-प्रदेश के नवयुवक और नवयुवतियों के सामने प्रदेश की समस्याएँ हैं, जिन्हें सुलझाना और सुलझाकर आगे बढ़ना उनका कर्तव्य है। उन्हें यहाँ के जन-गीतों ने लोरियाँ सुनाई हैं, राजनीतिक और सांस्कृतिक हलचल ने दृष्टि दी है और पोट्टि श्रीरामुलु-सरीखे देश-सेवी ने लगन दी है तथा सागर की उठ-उठ गिर-गिर पड़ने वाली लहरों ने प्रगति का सन्देश दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवलोकन

आई० ए० एक्स्ट्रैस

समकालीन विश्व-साहित्य पर एक दृष्टि

: १ :

विगत वर्षों में पश्चिम के मानववादी साहित्य की प्रवृत्तियों में एक भारी परिवर्तन के दर्शन हमें हुए हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गए हैं, वह आशा और विश्वास, जो कभी वेल्स के साहित्य में परिव्याप्त थे, नैराश्य और पराजय को अपना स्थान देते गए हैं।

बीसवीं शती के आरम्भ में वेल्स-जैसे लेखकों में अद्भुत उमंग और उत्साहपूर्ण विश्वास था कि मनुष्य में पूर्णता प्राप्त करने तथा बिना किसी की सहायता लिये जीवन को सुन्दर बनाने की अपार क्षमता निहित है। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने हैम्लेट के उन उद्गारों को अपनी मूल आस्था बनाकर साहित्य-निर्माण किया, जो उसने एक बार मानव की स्तुति और प्रशंसा के रूप में प्रकट किये थे :—

"कितनी अपूर्व कलाकृति है मानव !
विवेक और बुद्धि में महान्, शक्ति और सामर्थ्य में अनन्त······
सृष्टि में सुन्दरतम ! प्राणि-मात्र में सर्वोत्तम !"

मनुष्य के भयमूलक स्वभाव ने निष्प्रयोजन और निरर्थक ही ईश्वर की सृष्टि की थी, अतः ईश्वर तथा धर्म दोनों का बहिष्कार हुआ। मनुष्य को स्वयं अपने भाग्य से संघर्ष करके अपने स्वर्ग की रचना करनी चाहिए और अपना भगवान् स्वयं होना चाहिए; उसे संसार की सीमाओं से परे, कहीं उस पार न देखकर अपने रचना-विधान से इस संसार को ही स्वर्ग बनाना चाहिए। वर्तमान शताब्दी के मानववादियों की यही मूलभूत धारणा रही है, जिसे वास्तव में 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' कह सकते हैं।

इस शताब्दी के मध्य में, जहाँ मानव-जाति की वर्तमान प्रगति और उन्नति के सम्बन्ध में हमारा स्वप्न भंग हुआ है, वहाँ से पीछे मुड़कर देखने पर हमें आश्चर्य होता है कि कैसे आज से पचास वर्ष पूर्व मनुष्य के इस भाग्य-विषयक दृष्टिकोण ने उसे आशावाद, उन्मुक्त उत्साह एवं साहस का प्रकाश दिया था। आज हम उस हेतुवादी किन्तु वास्तव में विवेचना-हीन युग के मतों और सिद्धान्तों पर पूर्णतया सन्देह करने लगे हैं। उस समय 'प्रगति' के एक भाग्यवादी सिद्धान्त में एक व्यापक विश्वास था, जिसे हम आज अवैज्ञानिक कल्पना कहते हैं; अन्य कितनी ही सामाजिक, वैज्ञानिक और साहित्यिक मान्यताओं में उलट-पलट हो चुकी है। किन्तु सबसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर हमने यह समझा है कि ऐसे 'भौतिक-नास्तिक मानववाद' का अर्थ है—व्यावहारिक जीवन में उपद्रव तथा विपर्यय; और हम यह भी समझने लगे हैं कि मानवीय कार्यों की महत्ता की दृष्टि से आस्था से अनिवार्य विद्रोह निरर्थक है। आल्डुअस हक्सले के 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड', रसेल के 'डिफ़ाएण्ट पेसिमिज़्म' और सार्त्र के अस्तित्व के लिए 'अरुचि और अनाशा' का यही अभिप्राय है। नास्तिकों का नाटक, जो गौरवमय साहसिक कार्यों तथा वीरत्वपूर्ण विजयों का इतिहास बन जाने का दम भरता था, **"किसी मूर्ख द्वारा गढ़ी हुई कहानी-मात्र रह गया है, जिसमें केवल चिल्लाहट और आक्रोश है और जिसका कोई अभिप्राय नहीं है।"** दास्ताव्स्की की अन्तर्भेदिनी दृष्टि ने सौ वर्ष पहले ही यह बता दिया था कि 'नास्तिक मानववाद' मनुष्य को पतन और पराधीनता की ओर ले जायगा। 'नास्तिक मानववाद' के आधुनिक महारथी भी अपने कड़वे अनुभवों से इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दास्ताव्स्की ठीक कहता था।

: २ :

'नास्तिक मानववाद' के दिवालिएपन से दो प्रकार की मनोरञ्जक और अवश्यम्भावी प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। पहले प्रकार की प्रतिक्रिया की भूमि पर वे लोग हैं जो अब भी मूल रूप से नास्तिकवाद से चिपके रहना चाहते हैं, किन्तु व्यक्ति के अस्तित्व एवं उसके अपने भाग्य का कोई अर्थ न खोज पाने से निराश होकर, समूह अथवा वर्ग के अनुशासन पर व्यक्ति की बलि चढ़ाकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का मूल्य उसके व्यक्तित्व को न लेकर, उसके राजनीतिक कार्यों को लेकर है; उनके अनुसार आज के मनुष्य को भावी पीढ़ियों के वर्ग-हितों अथवा वर्तमान सरकार के राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करने में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। भविष्य से सम्बद्ध होने पर भी वर्तमान का अर्थ है। यह निर्विवाद है कि मार्क्सवाद एक ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो आधुनिक युग के दिवालिएपन के लिए आकर्षण की वस्तु है—ऐसा युग, जिसकी न कोई विशिष्टता है, न जो सुरक्षित है और न जिसका कोई निश्चित उद्देश्य है। किन्तु फिर भी यान्त्रिक मार्क्सवाद से किसी भी ईमानदार मानववादी को सन्तोष नहीं हो सकता। केस्लर, सायलोने तथा जीद-जैसे लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यान्त्रिक मार्क्सवाद उतना ही अमानवीय है जितना कि नग्न शून्यवाद, जो मानव के व्यक्ति को उसके आत्माभिमान, उसके मूल्य तथा उसके स्वातन्त्र्य से वंचित रखता है।

दूसरी प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप वे लोग हैं जो मानव-स्वातन्त्र्य की धारणा को असत्य और निरर्थक कहकर अस्वीकृत करते हैं तथा मानवीय कार्य-व्यापारों की धार्मिक रहस्यवादी व्याख्या स्वीकृत करते हैं। अपनी नई कृतियों के साथ आल्डुअस हक्सले, टी० एस० इलियट तथा सी० ई० एम० जोड इसी श्रेणी में आते हैं। भारतवर्ष में मानव-जीवन के प्रति अधिकतर धार्मिक अथवा रहस्यवादी दृष्टि रखने की ही प्रवृत्ति व्यापक रूप से वर्तमान है। दुर्भाग्य से भारत के चिन्तकों द्वारा यह दृष्टि उस शैली में प्रस्तुत नहीं की जाती जो सबको सन्तुष्ट और सहमत करके इसे स्वीकृत करा सके। नया मनुष्य उस अध्यात्म को ग्रहण नहीं कर सकता जो उसकी सम्पूर्ण मानवता को मान्यता न दे सके। मनुष्य का रूप सूक्ष्म ही नहीं है, वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों है—उसे आत्मा और शरीर दोनों मिले हैं, अतः मानव-जीवन-सम्बन्धी किसी भी विचार-विमर्श के समय इन दोनों के औचित्य और अधिकार को स्वीकार करना होगा। आत्मिक एवं शारीरिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्तियों तथा आकांक्षाओं के सम्यक् समन्वय का ही आदर्श अपनाना होगा, यद्यपि यह सही है कि प्रत्येक मानव-प्राणी अपने को एक प्रकार के असन्तुलन, द्वन्द्व तथा संघर्ष की स्थिति में पाता है।

आधुनिक युग में भारत तथा विदेशों की अतिरहस्यवादी विचार-धाराएँ शरीर तथा उससे सम्बन्धित सारी वस्तुओं के यथार्थ उत्सर्ग पर जोर देती हैं। उनके अनुसार मनुष्य केवल आत्मा है—वह है तो सब-कुछ है और नहीं है तो कुछ भी नहीं! शरीर और उसकी माँगों को वह निरर्थक तथा आत्मा की दिव्यत्व-प्राप्ति के मार्ग में बाधा-स्वरूप समझती हैं, अतः शरीर एवं उससे सम्बन्धित प्रायः सभी प्रवृत्तियों को भ्रम समझकर उनका त्याग कर देना चाहिए। इन अति-रंजनापूर्ण रहस्यवादी विचार-धाराओं के अनुसार मानव को पूर्णता और मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए—सांसारिक उन्नति द्वारा नहीं, बल्कि इसकी उपेक्षा करके, इससे पलायन करके। यह भी एक अतिवादी, प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण है।

: ३ :

इस प्रकार का धार्मिक समाधान आज के मनुष्य को सन्तुष्ट नहीं कर सकता, क्योंकि वह ऐसे अध्यात्म को जीवन की वास्तविकताओं से मूर्खतापूर्ण एवं अशोभनीय पलायन समझता है। इस प्रकार का अध्यात्म मनुष्य की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं और उनके साथ-साथ चलने वाले विज्ञान, कला एवं शिल्प के मिश्रित विकास और प्रगति को असंगत बताकर हवा में उड़ा देता है। इसके अतिरिक्त ऐसा अध्यात्म मानवीय सम्बन्धों एवं सफलताओं पर भी वास्तविक और महत्त्वपूर्ण प्रकाश नहीं डालता।

परिणामतः आज का मानव ऐसे धर्म के प्रति अवहेलना की भावना रखता है, उसे अपनी प्रकृति के विरुद्ध समझता है तथा अपनी चेतना के जागरूक स्फुरण को सुला देने वाला समझकर उसे अस्वीकृत करता है। कुछ हद तक वह उचित ही करता है। वास्तव में यह कह देने से कि आर्थिक समस्या का अस्तित्व ही नहीं है और यदि है भी तो उससे माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं, इस समस्या का कोई हल नहीं प्रस्तुत होता।

: ४ :

यदि धर्म आज के मानव-प्राणी को प्रेरित करना चाहता है तो उसे मनुष्य की आध्यात्मिक और भौतिक, व्यक्तिगत और सामाजिक सभी प्रकार की प्रगति को अंगीकृत करना होगा। आज मनुष्य अपनी प्रकृति के किसी भी अंग को असम्बद्ध और अनावश्यक समझकर उसका दमन करने से इन्कार करता है। उसकी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा बौद्धिक सभी क्षेत्रों की अपनी वास्तविक समस्याएँ हैं और कठोर सत्य के रूप में उसके सामने हैं; यदि धर्म इन समस्याओं को हल करने में उसकी सहायता नहीं करता तो वह धर्म की एक न सुनेगा। वह एक ऐसा धर्म चाहता है जो आत्मा और शरीर के द्वन्द्व को हल कर सके, उसकी आध्यात्मिक और भौतिक प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित कर सके और संयुक्त इकाई के रूप में उसे पूर्णत्व प्रदान कर सके। केस्लर ने कुछ ऐसी ही बातें ध्यान में रखकर अपने 'योगी एण्ड कमिसार' में योगी के आध्यात्मिक आदर्शवाद तथा कमिसार के भौतिक सामर्थ्य और वैभव के परिणाम पर बल दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अर्थ यह है कि धार्मिक सत्यों के चिन्तन द्वारा विकसित आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं नैतिक मूल्यों की व्यावहारिक अभिव्यक्ति मानव-व्यापारों के प्रत्येक क्षेत्र में होनी चाहिए। चिन्तन को कार्य-रूप में अवश्य ही परिणत होना चाहिए, तभी ऐसे कार्यों का महत्त्व, उपयोग, औचित्य और गौरव है।

इतना ही नहीं, आज का मनुष्य एक ऐसा धर्म चाहता है जो उसे समाज से दूर व्यक्तित्व के रूप में पूर्णता न देकर समाज के ऐसे सदस्य के रूप में पूर्णता प्रदान करे, जो साधारण सामाजिक हितों की अभिवृद्धि में योग दे सके। मानव की मुक्ति का रूप सामाजिक होना चाहिए, केवल वैयक्तिक नहीं।

अन्ततः आज के मनुष्य के लिए वही अध्यात्म आवश्यक है जो इने-गिने बौद्धिकों अथवा अवकाश-प्राप्त व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित सार-तत्त्व के रूप में न होकर, जन-साधारण के लिए भी प्राप्य तथा स्वीकार्य हो और उसके पालन में व्यक्ति की जाति, संस्कृति तथा जीविकोपार्जन के साधनों के आधार पर कोई भेद-भाव न रखा जाय।

स्पष्ट है कि इस प्रकार का अध्यात्म तथा उससे प्रेरित नव-मानववादी साहित्य हृदय की वेदनाओं तथा स्वाभाविक रूप से सताने वाली सहस्रों व्याधियों को एकदम दूर नहीं कर पायगा, किन्तु वह निरर्थक नैराश्य को छिन्न-भिन्न और मानव की कार्य-शक्ति को महान्, दिव्य एवं सुन्दर की ओर प्रवृत्त करेगा।

ग्रीन, मारियाक, क्लाडेल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, टी० एस० इलियट, बर्नैनो और दास्तास्की-जैसे लेखकों की जड़ें ऐसी ही आस्तिकता की गहराई तक पहुँची हैं। वे प्रचारक नहीं, कलाकार हैं। उनके नायक तथा नायिकाएँ जन-साधारण में से लिये गए हैं और उनकी जीवन-लीला भी सर्वसाधारण के बीच चित्रित की गई है, जिसका आधार सर्वोत्तम और पूर्णतम अर्थों में यही मानववादी नई आस्तिकता है, जिसका केन्द्र-विन्दु विश्वात्म से संयुक्त सम्पूर्ण मानव है।

—प्रस्तुतकर्ता : श्रीहरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

हिमालय-परिचय (१) गढ़वाल

जैसा नाम से ही स्पष्ट है, राहुल जी की इस पुस्तक में हिमालय के गढ़वाल-प्रदेश का विस्तृत तथा सर्वांगीण परिचय है। यह पुस्तक इस प्रदेश के लिए विश्व-कोष के समान है। कोई भी सम्भव बात इस प्रदेश के विषय में इस पुस्तक में छूटने नहीं पाई है। विभिन्न अध्यायों में इस प्रदेश की प्राकृतिक स्थिति, इसके इतिहास, निवासी तथा समाज, आजीविका, यातायात और संचार, स्वास्थ्य और शिक्षा, यात्राओं की तैयारी, यात्राओं तथा यहाँ के जन-साहित्य पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। चित्रों तथा नक्शों की सहायता से पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। विवरणात्मक होने के कारण इसमें वह रोचक शैली नहीं मिलती जो लेखक की अन्य यात्रा-पुस्तकों में है। भूमिका में लेखक ने हिमालय के अन्य प्रदेशों के विषय में पुस्तक के अन्य भागों के तैयार होने की सूचना दी है। इस समस्त योजना के लिए लेखक हमारी बधाई के पात्र हैं।[1]

शिशुपाल-वध

श्री माघ के महाकाव्य का यह हिन्दी-अनुवाद है। अनुवाद के साथ मूल भी दिया गया है। इस काव्य का एक अनुवाद साहित्य-सम्मेलन से पहले भी निकल चुका है। प्रकाशन की ओर से कहा गया है, पहले अनुवाद को संस्कृत के विद्वानों ने विशेष पसन्द नहीं किया। प्रस्तुत अनुवाद तथा पहले अनुवाद में दृष्टिकोण का अन्तर है, अन्यथा पहला अनुवाद भी अच्छा था। इसमें भाषा पर अधिक ध्यान दिया गया है, उसमें अर्थ का। प्रस्तुत अनुवाद की भाषा अधिक गठी हुई तथा हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुकूल है। प्रारम्भ की भूमिका भी उपयोगी है।

पर विचारणीय प्रश्न यह है कि जब हिन्दी के सामने ज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति का जबरदस्त उत्तरदायित्व है, उस समय इस प्रकार एक ही कृति का दूसरा अनुवाद प्रस्तुत करना एक संस्था के लिए कहाँ तक उचित हो सकता है। हमारी समझ में हिन्दी-साहित्य-सम्मे-

१. लेखक—श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रकाशक—इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लन को इस समय 'मत्स्यमहापुराण' तथा 'वायु-पुराण' के अनुवादों से कुछ समय के लिए विरत होकर ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न पाश्चात्य पुस्तकों के अनुवाद की ओर पूरा ध्यान देना चाहिए। यही समय की माँग है।[1]

पहेली

'पहेली' श्री राजेन्द्र रघुवंशी द्वारा लिखित वर्तमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की विकृतियों को चित्रित करने वाला व्यंग्य-प्रधान एकांकी है। इस एकांकी के प्रायः सभी पात्र निम्न-मध्यवर्ग के प्रतिनिधि हैं और सब-के-सब यथार्थ के कटु सत्यों से पलायन करने में जीवन का सन्तुलन खो चुके हैं।

नाटकीय तत्त्व नाटक में काफी हैं, किन्तु किन्हीं कारणों से उनका विकास पूर्ण रूप से नहीं हो सका है। पहली बात तो यह है कि एकांकी नाटक में समय, देश और काल का ऐक्य बड़े गठित रूप में होना चाहिए। प्रथम दृश्य और दूसरे दृश्य के कालान्तर में दो साल का समय खटकता है। यदि कथानक को दूसरे दृश्य से प्रारम्भ किया जाता और प्रथम दृश्य उसके अन्तराल में होता तो शिल्प के दृष्टिकोण से यह दोष न रह पाता। दूसरी बात यह है कि चरमोत्कर्ष का विकास क्रमिक न होकर सहसा हो उठा है, जो अनुचित है। नाटक के अन्त में शर्मा द्वारा कहलाया गया व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत वाक्यांश नाटक की स्वाभाविकता को नष्ट कर देता है।

यद्यपि यह सत्य है कि आज के जीवन में संघर्ष अधिक तीव्र और कटु रूप में प्रस्तुत हो रहे हैं। फिर भी उस संघर्ष का चित्रण नाटक में बहुत ही क्षेपक रूप में प्रस्तुत किया गया है। जिन संघर्षों को नाटककार ने चित्रित करना चाहा है वे केवल 'धोबी' और 'क्रासवर्ड' के प्रतीकों तक ही सीमित रहने के कारण नाटक में सब-कुछ होते हुए भी कथा-अंश का अभाव रह गया है। हम आशा करते हैं कि नाटककार अपने अन्य नाटकों में कथा का अंश और स्पष्ट तथा सुन्दर रूप से प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

श्री अमृतलाल नागर के शब्दों में—"इस पहेली में चाँदी के जूतों से पिटे हुए मिडिल क्लास का उमदा खाका खींचा गया है।"—इस सचाई और ईमानदारी की पकड़ लेखक की प्रतिभा का परिचय देती है। हमें 'पहेली' के लेखक से भविष्य में उच्चकोटि की कृतियों की आशा करनी चाहिए।[2]

१. अनुवादक—श्री रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रकाशक—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।

२. लेखक—राजेन्द्र रघुवंशी, प्रकाशक—विश्व-साहित्य, आगरा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भगवान् भला करे

श्री रमेश चौधरी के इस संग्रह की सभी कहानियाँ प्रायः एक ही टेकनीक की हैं। उनमें एक पात्र 'मैं' अवश्य होता है कभी वह नायक होता है कभी साधारण पात्र-वही कहानी कहता अथवा कहलाता चलता है पर कहानी कभी आत्म-कथा का प्रलापात्मक रूप नहीं धारण करने पाती; दूसरे पात्र कहानी की कार्य-शृङ्खला से प्रायः जुड़ते-मुड़ते जाते हैं।

लेखक का यह कहना—"मेरे पात्र घटनाओं के पुतले हैं, घटनाएँ उन्हें बनाती-बिगाड़ती हैं वे घटनाओं को बना या बदल नहीं पाते। वे मनुष्य हैं, अपूर्ण हैं, निर्बल और असहाय हैं।" हो सकता है कुछ अंशों तक सही हो। पर यदि वे अपूर्ण, निर्बल और असहाय हैं तो सिर्फ इसीलिए कि संघर्ष उन्हें खा रहा है।

इतनी सैद्धान्तिक पीठिका के बावजूद भी कहानियाँ अप्रौढ़ लगती हैं। बीच-बीच में कई अंश निष्प्रयोजन लगते हैं, उनमें कुछ ही थोड़ा-बहुत वातावरण के निर्माण में योग देते हैं। कुछ भाषा-सम्बन्धी गलतियाँ भी हैं, फिर भी रमेश चौधरी श्रेय के अधिकारी हैं। तेलुगु-भाषी होते हुए हिन्दी में लिखते हैं। भविष्य में उनकी कला में परिपक्वता तथा निखार आयगा ऐसी आशा है।[1]

●

लोकमान्य

श्री भालचन्द्र आपटे शास्त्री की यह पुस्तक १३१ पृष्ठों में संक्षेप में लिखी हुई लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की जीवनी है। जीवनियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—एक, जिनमें जीवन की घटनाओं की प्रधानता रहती है दूसरी, जिनमें व्यक्ति के सिद्धान्तों पर बल रहता है। पर उचित यही है कि किसी भी जीवनी में दोनों का समान समावेश हो। इसके अतिरिक्त लेखक अपने को बिलकुल तटस्थ रखे। इस कसौटी के आधार पर यह जीवनी पर्याप्त सफल कही जा सकती है।

पुस्तक की सादगी, छपाई की मनोरमता और कवर की वैष्णवता सब एक साथ पाठक पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।[2]

●

१. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।
२. प्रकाशक—वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी शीघ्र लिपि

श्री मुरलीधर सबनीस की यह पुस्तक वर्धा-प्रणाली-शीघ्रलिपि के आधार पर तैयार की गई है। इसमें केवल सिद्धान्त पक्ष को लिया गया है। वर्णों के संकेत आदि अपने वर्गों के अनुरूप होने के कारण उनमें कोई विशेष उलझन नहीं है। फिर संयुक्त रूपों तथा मात्राओं आदि की भी समस्या को बहुत वैज्ञानिक ढंग से लिया गया है। तमाम क्रियाओं, प्रत्ययों, उपसर्गों, सर्वनामों आदि के संकेत निश्चित भी कर दिये गए हैं।

इस प्रकार की पुस्तकों का सम्बन्ध हिन्दी-सम्बन्धी नीति से है। जब तक हिन्दी के मान्य विद्वान् तथा सरकारें कुछ निश्चित नहीं करतीं तब तक इस पुस्तक की उपयोगिता के विषय में अन्तिम रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। पर लेखक का प्रयास सराहनीय है।[1]

सम्मेलन-पत्रिका (लोक-संस्कृति-अंक)

'देर आयद, दुरुस्त आयद' की कहावत सम्मेलन-पत्रिका के 'लोक-संस्कृति'-विशेषाङ्क के विषय में केवल अंशतया ही चरितार्थ होती है। इसके अभावों का प्रमुख कारण यह है कि सम्पादन-श्रम के पीछे एक सुनिश्चित योजना, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और एक शास्त्रीय पद्धति का अस्तित्व नहीं प्रतिभासित होता। सम्पादकीय का प्रथम वाक्य है 'संस्कृति ब्रह्म की भाँति अवर्णनीय है!' इस वक्तव्य से यह स्पष्ट प्रतिध्वनित है कि सम्पादक किसी भी ऐसी प्रणाली का व्यवहार नहीं कर रहा है जिससे 'संस्कृति' और विशेषतया 'लोक-संस्कृति' का वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सके। शायद वह यह भी नहीं स्वीकार करता कि समाज-विज्ञान ने अब संस्कृति को ब्रह्म की तरह अवर्णनीय नहीं रहने दिया है।

फिर भी मैटर के संकलन में बहुत व्यापक क्षेत्रों को मापा गया है और लगभग आधाँ अनावश्यक मैटर हटाने पर लोक-संस्कृति के सम्बन्ध में अब तक हिन्दी में प्रस्तुत कुछ श्रेष्ठ लेखन और भी गठित रूप में सम्मुख आता, ऐसी सम्भावना थी। ऐसे अधिकांश लेखों में या तो विशुद्ध पत्रकारिता है या लोक-गीतों के प्रति एक अर्द्ध-रोमाण्टिक आग्रह, जो आजकल हिन्दी-साहित्य का नया फैशन है। जिस तरह सजे हुए विशाल राजसी कक्षों में आजकल गाँव की टोकरियाँ दीवारों पर शोभा के लिए चक्र की भाँति टाँगी जाती हैं, उसी प्रकार लोक-जीवन, लोक-कला, लोक-गीतों का उल्लेख नागरी मध्यवर्गीय लेखकों का एक फैशन हो गया है, जो स्वाद बदलने के लिए बुरा नहीं माना जाता। लोक-जीवन के प्रति इस रोमाण्टिक बूर्ज्वा-प्रेम से पृथक् अगर भारतीय लोक-परम्परा के अध्ययन की वैज्ञानिक दिशाओं का संकेत इस अंक से मिल सकता तो

1. प्रकाशक—दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा मद्रास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री-संकलन के अथक श्रम और उत्कृष्ट मुद्रण की परिष्कृत अभिरुचि को अधिक सार्थकता मिल सकती थी।[1]

आजकल (कविता-अंक)

बहुत दिनों से किसी ऐसे प्रयास का अभाव अनुभव हो रहा था कि जिसमें समस्त भारतीय भाषाओं के समकालीन साहित्य की झलक एक ही बिन्दु से प्राप्त हो सके। यदि साहित्य के अन्य क्षेत्र नहीं, तो कम-से-कम काव्य-क्षेत्र में 'आजकल' का 'कविता-अंक' इस कमी की थोड़ी-सी पूर्ति करता है। योजना, चयन और प्रस्तुतीकरण में सत्यार्थी जी अत्यधिक सफल हैं और उनका सम्पादकीय भी विषय-प्रवेश का सुन्दर स्थानापन्न है। परिचयात्मक लेखों में सर्वश्री उमाशंकर जोशी, मन्मथनाथ गुप्त और दीवानचन्द्र शर्मा के लेखों में अपने विषय पर अधिकार होने का परिचय मिलता है। प्रभाकर माचवे का लेख प्रवृत्तियों के विश्लेषण के बजाय नाम और तिथि के विवरण में भटक गया है। उनसे इससे अधिक की आशा की जाती थी।

हिन्दी-कविता का परिचय श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने दिया है। पिछले दिनों सूर, तुलसी आदि पर प्रकाशित उनके लेखों में हिन्दी की पुरानी कविता से उनका जितना परिचय आभासित होता है, उतना ही हिन्दी की नई कविता से भी वे परिचित प्रतीत होते हैं। यह आश्चर्यजनक है। लेख के अन्त में नई कविता के प्रसंग में 'अज्ञेय' का एक बार उल्लेख करना उन्होंने उचित माना है, यह उनके सौजन्य और उदार-दृष्टि का परिचायक है। हिन्दी-कविताओं के चयन में नये हस्ताक्षरों को आमन्त्रित किया गया है। यह वास्तव में स्वस्थ प्रवृत्ति है। केदारनाथसिंह के गीत में अद्भुत गीति-प्रतिभा का संकेत मिलता है। उसीके बाद एक दिलचस्प कविता रामदरश मिश्र की है जिसमें 'हुए दो लाल दशरथ के, मुबारक हो—मुबारक हो!' से प्रभावित 'नये इस साल की विश्वास-रोशनी से भरी पहली साँस पर बधाई है, बधाई है!' की टेक कई बार आती है। आशा है इस कृति से कवि के शब्दों में 'खोखले साहित्य के महन्तों का हृदय हलर-हलर हिल गया' होगा। त्रिलोचन की सॉनेट में हीन-भावना (Inferiority Complex) और काव्य में डींग के द्वारा उसकी क्षति-पूर्ति का रोचक उदाहरण मिलता है।

आंग्ल-भारतीय काव्य के साथ एक परिचयात्मक लेख की कमी बहुत खटकती है। उर्दू में राशिद, फैज़, अली, जाफ़री, वामिक—इन तमाम नये कवियों की कृतियाँ गायब हैं। परिणामस्वरूप उर्दू की नई कविता का बिलकुल प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया है।[2]

१. सम्पादक—श्री रामनाथ 'सुमन', प्रकाशक—साहित्य सम्मेलन प्रयाग।
२. आजकल—सम्पादक—देवेन्द्र सत्यार्थी, प्रकाशक—पब्लिकेशन्स डिवीज़न, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पांचजन्य (राजनीति-अंक)

इस अंक के प्रारम्भ में ही घोषित किया गया है कि यह विशेषांक किसी भी राजनीति के पिष्टपेषण-मात्र के लिए नहीं वरन् राजनीतिक सिद्धान्तों का विचार करते समय भारतीय चिन्तना के नवीन मूल्यांकन को प्रश्रय देने की दृष्टि से आयोजित किया गया है[1]। निस्सन्देह यह अपने ढंग का नवीन प्रयास है और इस प्रकार के प्रयास हिन्दी को सम्पन्न ही बनायँगे, किन्तु इस तमाम अंक में समस्याएँ उठाई ही गई हैं, उनका निदान बहुत अल्प मात्रा में है। राजनीतिक वाद और इतिहास-शास्त्र आज साहित्य-दर्शन को अत्यधिक प्रभावित कर रहे हैं। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता की भारतीय धारणा पर कुन्हन राजा का लेख तथा भारतीय इतिहास-सिद्धान्तों पर गणपतिसिंह का लेख महत्वपूर्ण है, किन्तु भारतीय चतुर्युगी कल्पना पर विदेशी इतिहासकारों और दार्शनिकों के मतों का परीक्षण नहीं किया गया है। स्पेंगलर से लेकर सोरोकिन तक ने उस पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। भारतीय संस्कृति के विकास की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने का कहीं भी प्रयास नहीं है। यह आवश्यक नहीं कि हम उसका वही विश्लेषण दें जो संकीर्ण मार्क्सवादी देते हैं, किन्तु उस मानदण्ड की सर्वथा उपेक्षा करना नितान्त अवैज्ञानिक है। कविताएँ और एकांकी अंक की गम्भीरता नष्ट करते हैं।[1]

079573

१. सम्पादक—गिरीशचन्द्र मिश्र : महेन्द्रप्रताप कुलश्रेष्ठ, प्रकाशक—राष्ट्र-धर्म प्रकाशन, लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

079573

'आलोचना' के आगामी अंकों में

समीक्षा के लिए प्राप्त कृतियाँ

सुखदा	श्री जैनेन्द्र कुमार	प्रकाशक—पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली
विवर्त	,,	,, ,,
व्यतीत	,,	,, ,,
पाप और प्रकाश	,,	,, ,,
काम, प्रेम और परिवार	,,	,, ,,
साहित्य का श्रेय और प्रेय	,,	,, ,,
सुबह के भूले	श्री इलाचन्द्र जोशी	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
महापुरुषों की प्रेम-कथाएँ	,,	लहर प्रकाशन, प्रयाग
शिल्पी	श्री सुमित्रानन्दन पन्त	सेण्ट्रल बुकडिपो, ,,
लहर और चट्टान	,, विश्वम्भर 'मानव'	किताब महल, ,,
एक था राजा	,, मुल्कराज आनन्द	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
दशकुमार चरित	(अनु०) निरंजनदेव आयुर्वेदालंकार	,, ,,
पंचतन्त्र	(अनु०) डॉ० मोतीचन्द्र	,, ,,
रात, चोर और चाँद	श्री बलवन्तसिंह	प्रगति प्रकाशन, ,,
पिंजर	श्रीमती अमृता प्रीतम	,, ,,
चील और चट्टान	श्री करतारसिंह दुग्गल	,, ,,
पाँच रुपये की आजादी	कृष्णचन्द्र	,, ,,
सराय के बाहर	,,	,, ,,
तूफान की कलियाँ	,,	राजपाल एण्ड सन्स, ,,
रथ के पहिये	श्री देवेन्द्र सत्यार्थी	एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
राधा और राजन	,, बलभद्र ठाकुर	ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया
कच-देवयानी	,, गुलाब	कला कुञ्ज, गया
अलका	श्रीमती शान्ति सिंहल	भारती साहित्य सदन, नई दिल्ली
शुक्र की राजनीति	डॉ० श्यामलाल पाण्डेय	प्रेम पब्लिशर्स, लखनऊ
साहित्य-विवेचन	श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन'	
	,, योगेन्द्र कुमार मल्लिक	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कला और संस्कृति	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
भारतवर्ष में जातिभेद	आचार्य क्षितिमोहन सेन	,, ,,
सौन्दर्य-शास्त्र	डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा	,, ,,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी नाटककार	श्री जयनाथ 'नलिन'	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
कवि आरसी की काव्य-साधना	,, प्रताप साहित्यालंकार	तारा मण्डल, कलकत्ता
समीक्षा की समीक्षा	श्री प्रभाकर माचवे	साहनी प्रकाशन, दिल्ली
हमारे साहित्य में हास्यरस	,, कृष्णकुमार श्रीवास्तव	कृष्ण कुञ्ज, फैज़ाबाद
जीवन और शिक्षण	,, विनोबा भावे	सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
सन्त-सुधा-सार	,, वियोगी हरि	,, ,,
सुहागिन	श्रीमती विद्यावती 'कोकिल'	ज्योति प्रकाशन, प्रयाग
क्वासि	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
हिन्दी-साहित्य	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स, दिल्ली
कबीर की विचार-धारा	डॉ० त्रिगुणायत	साहित्य निकेतन, कानपुर
देखा, सोचा, समझा	श्री यशपाल	विप्लव प्रकाशन, लखनऊ
वैष्णव धर्म	,, परशुराम चतुर्वेदी	विवेक प्रकाशन, प्रयाग
आलोचना: इतिहास तथा सिद्धान्त	डॉ० एस० पी० खत्री	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
एकाकी	सीताराम गोयल	प्राची प्रकाशन, कलकत्ता
Psychological studies in Rasa:	डॉ० राकेश गुप्त	(स्वतः लेखक द्वारा प्रकाशित)
ठण्डा लोहा	डॉ० धर्मवीर भारती	साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग
नव-निबन्ध	श्री परशुराम चतुर्वेदी	लोक-सेवक प्रकाशन, काशी
राख का स्तूप	,, लक्ष्मीकान्त वर्मा	सावी प्रकाशन, प्रयाग
सन्त-काव्य	सम्पादक-परशुराम चतुर्वेदी	किताब महल, ,,
चाँदनी रात और अजगर	श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	नीलाभ प्रकाशन-गृह, ,,
बदलता युग	श्री महेन्द्र भटनागर	दीनानाथ बुकडिपो, इन्दौर

पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार
85423

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल (बिक्री विभाग) से प्राप्य कुछ नये प्रकाशन

आलोचनात्मक		
हिन्दी साहित्य का इतिहास	—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
वेलिक्रसन रुकमणी री	—आनन्दप्रकाश दीक्षित	५)
सांस्कृतिक : दार्शनिक : इतिहास		
इन्सान की कहानी	—मुल्कराज आनन्द	२॥)
कला	—हंसकुमार तिवारी	५)
सौन्दर्य शास्त्र	—हरद्वारीलाल शर्मा	३)
खण्डहरों का वैभव	—मुनि कान्त सागर	६)
आधुनिक यूरोप का इतिहास	—शेविल	१०॥)
उपन्यास		
देश की हत्या	—गुरुदत्त	५॥)
नीलम की अँगूठी	—विभूतिभूषण मुखोपाध्याय	४)
दो दुनिया	—मन्मथनाथ गुप्त	५॥)
निशा गीत	—अनन्त गोपाल शेवड़े	३)
नाटक		
अमरबेलि	—हरिश्चन्द्र खन्ना	३)
श्री चन्द्रावली नाटिका	—सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
भारत-दुर्दशा	—सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	१॥)
कहानियाँ		
मेरा बेटा : मेरा दुश्मन	—ख्वाजा अहमद अब्बास	३॥)
अपने राज : अपने आदमी	—रामकृष्ण	२)
नीली चिंगारियाँ	—रूसी कहानियाँ	२)
मलयानिल	—मलयालम की कहानियाँ	२)
कुछ पैसे	—रामसरन शर्मा	१॥)
कविता		
बदलती युग	—महेन्द्र भटनागर	१॥)
दर्शन		
नीतिशास्त्र का आलोचनात्मक परिचय	—ह्वीलराइट	५)
भारतीय धर्म और दर्शन	—मिश्रबन्धु	१॥)
यात्रा-विवरण		
अरे यायावर : रहेगा याद	—अज्ञेय	६)
आखिरी चट्टान तक	—मोहन राकेश	२॥)
लोहे की दीवार के दोनों ओर	—यशपाल	७)
कोष		
आंगल हिन्दी पर्याय शब्द-कोष	—गोपीनाथ श्रीवास्तव	५)
विविध		
भारतीय व्यापार का इतिहास	—कृष्णदत्त वाजपेयी	७)
अन्तिम यात्रा	—गुरुदत्त	१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना-अंक की रूप-रेखा

प्रस्तुत अंक से 'आलोचना' अपना दूसरा वर्ष समाप्त कर रही है। अगला अंक हमारे तीसरे वर्ष का प्रवेशांक होगा। पूर्व घोषणा के अनुसार यह अंक 'आलोचना-विशेषांक' होगा। इस अंक की योजना बनाते समय सम्पादकों के सामने यह सिद्धान्त स्पष्ट रहा है कि समीक्षा-शास्त्र अपने में निस्संग और निरपेक्ष न होकर समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, सौन्दर्य-शास्त्र, दर्शन, अर्थ-विज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि के सिद्धान्तों से प्रभावित होता है, अतः सम्पूर्ण मानवीय चिन्तन में उसकी सापेक्ष स्थिति का विचार किये बिना उसे अपने में सम्पूर्ण मान लेना या ज्ञान की किसी एक ही शाखा से उसे पूर्णतया नत्थी कर देना अवैज्ञानिक और एकांगी है। साथ ही भारतीय समीक्षा ने मध्यकाल में विकसित होने वाली यूरोपीय तथा एशियायी समीक्षा-पद्धतियों से भी पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है, यह भी उपेक्षणीय नहीं। इस अंक में निम्न विषयों पर महत्त्वपूर्ण लेख रहेंगे :

१. दार्शनिक-चिन्तन और समीक्षा-पद्धतियों का मूलाधार। साहित्य-समीक्षा का समाज-शास्त्रीय पक्ष। इतिहास की व्याख्याएँ और समाज-दर्शन। मनोविज्ञान की प्रगति का समीक्षा-पद्धति पर प्रभाव। सौन्दर्य-शास्त्र और साहित्य-शास्त्र। अभिरुचि, प्रभाव और समीक्षा। साहित्य के इतिहास-निर्माण के सिद्धान्त। पाठालोचन के सिद्धान्त।

२. यूनानी समीक्षा-पद्धति और उसकी परम्परा। पाश्चात्य यूरोप के समीक्षा-निकाय। आधुनिक अँग्रेज़ी समीक्षा। मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय मार्क्सवादी आन्दोलन। चीनी परम्परा और माओ का साहित्य-दर्शन। ईरानी साहित्य-शास्त्र और उसका भारतीय साहित्य पर प्रभाव।

३-क. भारतीय साहित्य-शास्त्र के आधार और आदर्श। भारतीय समीक्षा की विभिन्न पद्धतियों का क्रमिक विकास। रस-सिद्धान्त का दार्शनिक आधार। ध्वनि-सिद्धान्त और उसका समन्वयवादी दृष्टिकोण। काव्य-शिक्षा-ग्रन्थों की परम्परा। संस्कृत-व्याख्या-पद्धति का क्रम-विकास। साहित्य-शास्त्र पर शैव, बौद्ध और वैष्णव प्रभाव। शास्त्रीय पद्धति के अतिरिक्त लोक-परम्परा। लोक-साहित्य के काव्य-रूप और काव्य-सिद्धान्त।

३-ख. हिन्दी की मध्यकालीन आचार्य-परम्परा और रीति-ग्रन्थ। हिन्दी रीति-शास्त्र और उसकी पृष्ठभूमि। संक्रान्ति-काल : नये मूल्यों का प्रवेश और पुरानी सीमाएँ। द्विवेदी-युग के समीक्षात्मक मानदण्ड। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का समीक्षात्मक दृष्टिकोण। शुक्लजी की परम्परा। गुलाबराय और उनका वृत्त। हजारीप्रसाद द्विवेदी : एक अध्ययन। छायावादी साहित्य-दर्शन। प्रगतिवादी नीति और समीक्षात्मक गतिविधि। प्रयोगवाद का वाद। उर्दू-आलोचना की रूप-रेखा। मराठी में साहित्य-शास्त्र के निर्माण की नई दिशा। बंगला के समीक्षा-निकाय और साहित्यिक प्रवृत्तियाँ।

४. प्रतीक-पद्धति और प्रतीकवाद। अति-यथार्थवाद के साहित्यिक सिद्धान्त। 'अस्तित्व' की समस्या और साहित्य-चिन्तन। टी० एस० इलियट के काव्य-सिद्धान्त। आई० ए० रिचार्ड्स के समीक्षा-सिद्धान्त। मार्क्सवाद और काडवेल। अरविन्द-साहित्य-दर्शन।

५. पाश्चात्य मनोविज्ञान और रस-शास्त्र। रस-सिद्धान्त और मार्क्सीय समीक्षा-दृष्टि। रस-सिद्धान्त का पुनर्मूल्यांकन। सौन्दर्य-शास्त्र का वैज्ञानिक विश्लेषण। हिन्दी का अपना साहित्य-शास्त्र। भविष्यत्-साहित्य-दर्शन।

—*प्रकाशक, आलोचना*

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, १ फैज बाजार, दिल्ली के लिए श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar